प्रकाशक
संस्कृति संस्थान बरेली
(उत्तर-प्रदेश)

★

सम्पादक
पं० श्रीराम आचार्य

★

प्रथम संस्करण
१९६४

★

मुद्रक
जगदीश प्रसाद भरतिया
बम्बई भूषण प्रेस
मथुरा

★

मूल्य
४ रुपया

भूमिका

भारतीय दर्शनो की एक मुख्य विशेषता यह है कि वे किसी भी विषय का प्रतिपादन करते हुए अन्तिम लक्ष्य मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति को ही रखते हैं। यह देखकर अनेक अल्पज्ञ व्यक्ति भारतीय धार्मिक-साहित्य पर यह आक्षेप किया करते हैं कि "उसमे आध्यात्मिक-जगत की काल्पनिक बातो पर ही दिमाग लडाया गया है और प्रत्यक्ष ससार का ध्यान ही भुला दिया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकाश व्यक्ति भौतिक प्रगति की ओर से अनभिज्ञ और उदासीन रह जाते है और व्यर्थ की कल्पनाओ मे अपने समय तथा शक्ति का अपव्यय करते रहते हैं।" पर यह आक्षेप सर्वशा सत्य नही है और इसका मुख्य कारण आक्षेपकर्ताओ की द्वेष-बुद्धि अथवा भ्रमोत्पादक दृष्टिकोण ही है। ससार मे मनुष्य की जैसी स्थिति है और प्रकृति ने उनमे आत्म-पोषण की जो प्रवृत्ति उत्पन्न की है उसके फल से भौतिक स्वार्थ के लिये प्रयत्न करना तो उसके स्वभाव का एक अङ्ग ही है। भोजन, वस्त्र, घर, विवाह, सन्तान, जमीन, जायदाद आदि के लिये तो प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक चेष्टा करता ही रहता है। इन बातो के लिए अधिक जोर देने या सम-झाने-बुझाने की आवश्यकता नही पडती।

ससार मे कमी तो परमार्थ भावना की ही दिखाई पडती है। अपने लिए अधिक-से-अधिक प्राप्त करने और वश चले तो दूसरो का भाग भी हडप कर सबसे बडा बन जाने की महत्वाकाक्षा कोई असा-धारण बात नही है। चाहे इस उद्देश्य मे सफलता मिले या न मिले पर इस प्रकार की भावना सौ मे से नब्बे मनुष्यो के हृदय मे देखने मे आती

ही है। इसलिये यदि हम भौतिक सफलता के साथ लोगों को आध्यात्मिक-पक्ष का भी ध्यान रखने का उपदेश देते रहें तो इसे कोई विवेकशील अनुचित नहीं कह सकता। संसार की प्राचीन और नवीन तथा बड़ी और छोटी सभी जातियों के अनुभव का यही निष्कर्ष है कि यदि मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहता है तो उसे लौकिक और पारलौकिक स्वार्थ और परमार्थ दोनों पहलुओं में उचित सन्तुलन रखना चाहिए। जहाँ कोरा स्वार्थ—लौकिकता मनुष्य को दानव दैत्य राक्षस बनाती है वहाँ अकेला परमार्थ—पारलौकिकता मनुष्य को मात्र कर्तव्य शून्य निकम्मा और परमुखापेक्षी बना देती है।

वैशेषिक-दर्शन की यह विशेषता है कि उसमें यद्यपि मुख्यरूप से प्राकृतिक तत्वों—पदार्थों की ही गवेषणा की है और एक भी सूत्र में आत्मा के अतिरिक्त ईश्वर या ब्रह्म का उल्लेख नहीं किया है, पर ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य धर्म का आचरण करना ही बतलाया है जिससे आत्मा बन्धनों से मुक्त हो सके। वैशेषिक दर्शन का पहला सूत्र इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है कि अथातो धर्मं व्याख्यास्याम" अर्थात् 'अब धर्म की व्याख्या करते हैं। धर्म का लक्षण या स्वरूप क्या है इसको दूसरे सूत्र में स्पष्ट किया गया कि '*यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिस्स* धर्मः। अर्थात् 'जिससे यथार्थज्ञान प्राप्त हो और मोक्ष की सिद्धि हो सके वही धर्म है। इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में भी कहा गया है कि दृष्टानां दृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय" अर्थात् 'शास्त्रों ने लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिए जिन कर्मकाण्डों का उपदेश दिया है उनका अनुष्ठान सदैव करते रहना चाहिए, चाहे उनका कोई प्रतिफल प्राप्त हो या नहीं। धर्म कार्य करते रहना जीवात्मा के लिये सब तरह से कल्याणकारी ही है चाहे उसका शीघ्र ही कोई प्रत्यक्षफल न भी दिखाई पड़े।

वैशेषिक के रचयिता महर्षि कणाद ने समस्त जगत की रचना पर

माणुओ से बतलाई है। जब परमाणु एक दूसरे से पृथक अवस्था मे रहते हैं तब प्रलयावस्था होती है और जब वे परस्पर मे मिलकर भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपो व नामो की रचना करने लगते हैं तो जगत का आविर्भाव हो जाता है। सृष्टि निर्माण की क्रिया को स्पष्ट करने के लिये वैशेषिक ने छै प्रकार के पदार्थों की कल्पना की है जिनको (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय, कहा गया है। द्रव्य से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पाँचो भूतो और काल, दिशा, आत्मा और मन—चार सूक्ष्म तत्वो का अर्थ लिया गया है। इन द्रव्यो में चौबीस प्रकार के गुण पाये जाते हैं जिनकी सहायता से वे विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के उपयोगी सिद्ध होते हैं। चौबीस गुणों मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तो पाँचो इन्द्रियो से सम्बन्धित विषय हैं ही, इसके सिवाय सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, गुरुत्व, द्रवत्व स्नेह आदि द्रव्यो से सम्बन्धित विशेषताओ को भी इनमे सम्मिलित कर लिया गया है। फिर बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म सस्कार भी जीवात्मा तथा मन के धर्म या गुण ही हैं। गुणो की परिभाषा ही यही है कि वे किसी द्रव्य के आश्रय में रह सकते हैं, स्वतन्त्र नही।

कर्म—कर्म के पाँच विभाग किये गये हैं—(१) उत्पेक्षण ऊपर फेंकना, (२) अवक्षेपण—नीचे गिरना, (३) आकुचन—सिकोडना, (४) प्रसारण—फैलाना, (५) गमन—अन्य सब प्रकार की क्रिया या हर-कत। कर्म भी द्रव्य का ही गुण है। अन्तर इतना ही है कि गुण तो द्रव्य का निश्चित धर्म है जो सदैव उसके साथ रहता है, पर कर्म ऐसा गुण है जो कभी रहता है और कभी नही रहता।

सामान्य और विशेष—यह सृष्टि का एक ऐसा नियम है जिससे कि अनेक मे एक तत्व का ज्ञान होता है। द्रव्य, गुण और कर्म तो इन्द्रिय के विषय हैं जिनको हम देख सकते हैं या विभिन्न इन्द्रियों की

सहायता से अनुभव कर सकते हैं। पर सामान्य और विशेष इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। ये बुद्धि से सम्बन्धित हैं और इनकी सहायता से विभिन्न प्रकार के पदार्थों का समानता और असमानता के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं या उनकी श्रेणियाँ बना सकते हैं। जो श्रेणी किसी विशेष श्रेणी का भाग है उसे विशेष, कहेंगे और जिस श्रेणी के अन्तर्गत वह आती है वह सामान्य है। सामान्य भी दो प्रकार का माना गया है—पर और अपर।

समवाय—यह न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त वालों की निजी कल्पना है जो अन्य किसी दर्शन या शास्त्रीय विवेचन में नहीं पाई जाती। इसका आशय किन्हीं दो वस्तुओं में पाये जाने वाले ऐसे सम्बन्ध से है जो अमिट और सदैव स्थायी (नित्य) हो। उदाहरण के लिये हम कटोरे में साग खा रहे हैं। उस समय कटोरे और साग का सम्बन्ध अवश्य है। पर ज्योंही हमने भोजन समाप्त करके कटोरे को धोकर रख दिया कि उसी समय वह सम्बन्ध मिट जाता है। पर एक सम्बन्ध ऐसा होता है कि जैसे सूत और वस्त्र का सम्बन्ध। यह अमिट सम्बन्ध है और तभी मिट सकता है जबकि वस्त्र नष्ट होकर न तागा रहे न कपड़ा रहे। इसी प्रकार का सम्बन्ध वायु और उसकी गति में है। जहाँ वायु रहेगी वहाँ उसकी गति किसी न किसी रूप में रहेगी ही।

द्रव्य का स्वरूप—

सृष्टि के सब कार्य मूल मूल पदार्थों से चल रहे हैं। हम साधारण रूप से इस जगत को पंच-तत्वों की रचना कहकर इसी को सृष्टि-विज्ञान का सार समझ लेते हैं पर इससे कोई काम नहीं होता। ज्ञान का उद्देश्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना और उसका उचित उपयोग करना ही हो सकता है। इस प्रकार का ज्ञान ही संसार में सुख का कारण है और इसके विपरीत अज्ञान दुःख उत्पन्न करने वाला है। यदि

हम अकेले अकस्मात किसी ऐसे गोदाम मे पहुँच जायें जहाँ आटा, दाल, चावल, घी, तेल, गुड, नमक, मसाला, ईंधन आदि भरा हुआ हो, तो जानकार व्यक्ति तो उनमे से आवश्यकतानुसार चीजें लेकर उनसे किसी प्रकार का उत्तम भोज्य पदार्थ बनाकर अपनी भूख को मिटा लेगा। पर यदि कोई अनजान बालक या बुद्धिहीन पागल व्यक्ति उस गोदाम को पा जाये तो सब कुछ होने पर भी वह भूखा ही मरता रहेगा या किसी भी पदार्थ को यो ही उल्टा सीधा खाकर पेट मे कष्ट उत्पन्न कर लेगा। इसी प्रकार ससार मे जो मनुष्य इसके पदार्थों के स्वरूप, गुण और कर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह अपने जीवन को सफल और सुखी बनाकर अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है, पर जो सासारिक पदार्थों के रूप, स्वभाव, गुणो को समझे बिना उनका अटकलपच्चू व्यवहार करता रहता है उसका जीवन दु खो मे, हाय-हाय करने मे ही व्यतीत होता है।

वैशेषिक दर्शन का मूल उद्देश्य यही है कि मनुष्य इस ससार मे आकर इसके पदार्थों के रूप, स्वभाव, गुण, धर्म को ठीक-ठीक समझकर उनका व्यवहार इस प्रकार करे कि उसे इस लोक मे सुख प्राप्त हो और परलोक में मोक्ष का आनन्द मिल सके। यदि इसके विपरीत कोई पदार्थों के वास्तविक रूप और गुण को न समझकर गलत व्यवहार करेगा तो सब कुछ प्राप्त होने पर भी और जन्म भर परिश्रम करने पर भी उसे सुख न मिल सकेगा और वह इधर-उधर भटकता हुआ अन्त मे कष्टों की अवस्था में ही जीवन को समाप्त कर देगा। अनेक विद्वान सासारिक विषयों के बजाय आध्यात्मिक—आत्मा और परमात्मा के स्वरूप की शिक्षा देना ही महत्वपूर्ण बतलाते हैं, पर इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य लौकिक जीवन में असफल बना रहकर पराश्रित रहता है और आत्मोत्थान की बातें करने पर भी उनको कार्य रूप मे परिणित करने मे असमर्थ रहता है। इसलिये महर्षि कणाद का मत है कि मनुष्य को पहले ससार और उसके मूल पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये,

तदनुकूल युक्तियुक्त व्यवहार करना चाहिये। ऐसा होने से 'निःश्रेयस' (परम कल्याण) की प्राप्ति उसे निश्चित रूप से हो जायगी क्योंकि पदार्थों के वास्तविक रूप को जान लेने पर वह गलत मार्ग पर नहीं चलेगा और स्वाभाविक रूप से अपने सच्चे लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जायगा।

वैशेषिक के १ १ १५ सूत्र में द्रव्य का रूप बतलाते हुये कहा है कि "जिसमें क्रिया और गुण हों तथा जो समवायी कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। इसका आशय यह है कि द्रव्य और गुण का स्थायी (समवाय) सम्बन्ध है। द्रव्य आश्रय है और गुण तथा कर्म उस पर आश्रित हैं। उदाहरण के लिये यदि हमको मीठा या खट्टा खाने की इच्छा हो और बाजार में जाकर कहें कि हमको चार आने की 'मिठास' या 'खटास' दे दो तो वह न तो हमारा आशय समझेगा और न उसकी पूर्ति कर सकेगा। वह यही कहेगा कि 'मिठास' कोई पृथक चीज नहीं है वरन् उसे किसी द्रव्य—जैसे चीनी बूरा बताशा गुड़ आदि में पाया जा सकता है, इनमें से जो चीज पसन्द हो वह दी जा सकती है। [यही बात क्रिया के सम्बन्ध में भी है। वह भी किसी पदार्थ या प्राणी के माध्यम से ही देखी जा सकती है जैसे घोड़ा दौड़ता है पत्थर गिरता है, पतंग उड़ती है। पर यदि हम इन क्रियाओं को बिना किसी पदार्थ के माध्यम के स्वतंत्र देखना या समझना चाहें तो यह संभव नहीं है।

वैशेषिक में नौ द्रव्य माने गये हैं जिनमें से पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश तो प्रसिद्ध ही हैं। संसार का प्रत्येक स्थूल पदार्थ इन्हीं के न्यूनाधिक सम्मिश्रण से बना है। इनको 'प्राकृत' कहा जा सकता है क्योंकि प्रकृति की समग्र लीला और सृष्टि रचना इन्हीं के द्वारा होती है और ये ही मूल प्रकृति से समय-समय पर प्रकट और लुप्त होते रहते हैं। इन पाँच के अतिरिक्त काल और देश दो द्रव्य ऐसे हैं जो यद्यपि प्रकृति की तरह ही अचेतन हैं पर उसके अंग नहीं हैं। प्रकृति किसी अवस्था

मे रहे पर उनमे कोई अन्तर नही पडता । शेष दो द्रव्य—आत्मा और मन चेतन हैं, जो अचेतन द्रव्यो का उपभोग करते हैं और जिनके लिये प्रकृति, द्रव्यो मे तरह-तरह के परिवर्तन करके नये-नये कार्य पदार्थ बनाती रहती है ।

प्राकृत द्रव्य—प्राकृत द्रव्यो की जो सूची वैशेषिक मे दी गई है, वह सर्वमान्य है । प्रत्येक दर्शन, धार्मिक सम्प्रदाय तथा विज्ञान ने भी इन पच महाभूतो की सत्ता स्वीकार की है और प्रत्येक का एक-एकपृथक गुण माना है । कुछ लोग यह शका उठाया करते है कि क्या एक द्रव्य मे एक मे अधिक मौलिक गुण हो सकता है ? अथवा एक ही मौलिक गुण क्या एक से अधिक द्रव्यो मे पाया जा सकता है ? वैशेषिक इससे इनकार करता है । उसमे बताया गया है प्रत्येक प्राकृतिक द्रव्य का एक ही विशेष गुण होता है, यदि किसी द्रव्य मे एक से अधिक गुण पाया जाता है तो वह दूसरे द्रव्यो के योग से प्राप्त हुआ है । इस दृष्टि से सर्वप्रथम तत्त्व आकाश है जो सबसे सूक्ष्म है । उसका गुण शब्द है जो और किसी द्रव्य मे सम्मिलित नही हो सकता । इसी से वैशेषिक ने आकाश की गणना अन्य चार तत्वो से अलग की है और सासारिक पदार्थों को पाँच के बजाय चार महाभूतो का ही सयोग-वियोग माना है ।

दूसरा द्रव्य जो आकाश की अपेक्षा कम सूक्ष्म है, वायु है । इसका गुण स्पर्श माना गया है । तीसरा अग्नि है जिसका गुण रूप है, पर वायु की अपेक्षा स्थूल होने से जिसमे वायु का गुण स्पर्श भी पाया जाता है । चौथा जल है जिसका गुण रस है और स्थूलता के कारण जिसमें रूप और स्पर्श भी पाये जाते हैं । पाँचवाँ पृथ्वी तत्व मिट्टी पत्थर और धातुओ के रूप मे सबसे अधिक स्थूल है और उसमे अपने विशेप गुण गन्ध के अतिरिक्त शेष तीनो के तत्वो गुण स्पर्श, रूप और रस भी पाये जाते हैं ।

प्रत्येक तत्व का एक-एक गुण अलग-अलग है इसे पश्चिमी-

दार्शनिक और वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वरन् पश्चिम के ही एक प्रमुख वैज्ञानिक ने प्रत्यक्ष प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिखाया कि वास्तव शब्द आकाश का गुण है और वह आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त होने की सामर्थ्य रखता है। अब से ४ ४५ वर्ष पहले इटली निवासी मार कोनी ने यन्त्रों द्वारा यह प्रत्यक्ष करके दिखाया कि शब्द भी प्रकाश की तरह एक सैकिण्ड में १ ८६ मील चलता है और यदि उपयुक्त यन्त्र द्वारा उसे ग्रहण किया जाय तो वह संसार के किसी भी स्थान म सुना जा सकता है। इसी आविष्कार के आधार पर रेडियो का निर्माण हुआ है जिससे हम बटन दबाते ही दस हजार मील की दूरी का शब्द भी सुन लेते हैं।

काल और देश—काल अथवा समय में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष भेद नहीं। जिस प्रकार दिन-रात के २४ घण्टे कल के थे वैसे ही आज के हैं और वैसे ही आगामी कल के होंगे। यदि हम कैलेण्डर और पदार्थों से किसी की गिनती न करें अथवा विशेष घटनाओं के सम्बन्ध से उनकी याद न रखें तो यह किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि पीछे और आगे के समय में कोई भेद है। पर लोक व्यवहार की दृष्टि से समय को सैकिण्ड मिनिट घण्टा दिन सप्ताह महीना वर्ष आदि में विभाजित कर देते हैं जिससे हम को किन्हीं दो घटनाओं के बीच का ठीक अन्तर मालूम हो सके और अपने विभिन्न कार्यों को उपयुक्त समय पर सम्पन्न कर सकें। आदिम अवस्था में मनुष्य को काल-गणना का कोई ज्ञान न था और सब दिन तथा सब समय एक से ही थे। काल अनन्त है और कभी इसका नाश नहीं होता इससे यह अविनाशी है।

देश अथवा दिशा भी काल की तरह नित्य और अविनाशी है पर जहाँ काल अपरिवर्तनीय है अर्थात् भूत काल सदा भूत काल ही रहेगा और भविष्य सर्वत्र भविष्य कहा जायगा वहाँ देश में बराबर अन्तर पड़ता रहता है। यदि दिल्ली में खड़े होकर इलाहाबाद को अपने

से पूर्व की ओर समझेंगे तो कलकत्ता मे खडे होने पर वही इलाहाबाद हमको पश्चिम मे जान पडेगा। इतना ही नही यदि हम पृथ्वी परिक्रमा के लिये रवाना हो और सूरज को देखकर पूरब की ओर चलते जायें तो हम पूरब की ओर चलते-चलते भी एक दिन वही आ पहुंचेंगे जहाँ से चले थे और जिससे पीछे के स्थान को जिसे हम पश्चिम दिशा कहते और मानते हैं। इसी लिये वैशेषिक मे कहा गया है कि वास्तव मे दिशा कुछ भी नही है। मनुष्य जहाँ कही स्थित हो वही पर अपने आगे पीछे, दाँयें-बाँयें, ऊपर, नीचे भिन्न-भिन्न दिशाओ की कल्पना कर लेता है। अन्यथा समस्त देश या स्थान एक ही है और उसमे कोई भी दिशा वास्तविक नही है।

आत्मा और मन—चेतन द्रव्यो मे आत्मा और मन की गिनती की गई है। मन को तो अन्य दर्शनकारो ने भी ग्यारहवी इन्द्रिय माना है, पर वैशेपिक आत्मा को भी द्रव्य मानता है, यह उसकी विशेपता है। उसके मतानुसार हम सब तरह का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त करते हैं और ज्ञान का आश्रय आत्मा है। आत्मा ही मन के द्वारा समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान को ग्रहण करता है और उसे फिर काम मे लाता है। सुख, दु ख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, प्राण, अपान, आँखें बन्द करना, खोलना ये सब आत्मा के लक्षण हैं किसी अचेतन द्रव्य में इच्छा द्वेष आदि का अस्तित्व दिखलाई नही पडता। इसके अतिरिक्त 'अह-भाव' (मैं) भी किसी इन्द्रिय में उत्पन्न नही होता। इससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक शरीर मे एक ही आत्मा नही है। इसका समाधान करते हुये उसमे बताया गया है कि आत्मा को एक नही माना जा सकता। यदि सब शरीरो मे एक ही आत्मा होती तो सब का जन्म एक होता और मरण भी साथ ही होता। तब एक अन्धा होता तो सभी अन्धे हो जाते और एक के भोजन कर

लेने से सबका पेट भी भर जाता। तब कोई विद्वान कोई मूर्ख कोई सुखी कोई दुखी दिखलाई नहीं पड़ता। अनेक अध्यात्मवादी आत्मा को द्रव्य रूप नहीं शुद्ध चेतन रूप मानते हैं। पर वैशेषिक इसे अस्वीकार करके आत्मा को एक नित्य द्रव्य मानता है। इसके मतानुसार आत्माओं की संख्या अनन्त है और जो आत्माएँ मुक्त हो जाती हैं वे भी प्रलय के पश्चात् नवीन सृष्टि के अवसर पर लौट आती हैं। इससे संसार में कभी आत्माओं की कमी का प्रश्न नहीं उठता।

आत्मा के सम्बन्ध में वैशेषिक का मत बहुत स्पष्ट और दृढ़ है। वह आत्मा को एक द्रव्य के रूप में मानता है पर वह प्रयत्न करके मोक्ष की अधिकारी बनकर सच्चा सुख प्राप्त कर सकती है। नौवें अध्याय में लिखा है कि 'आत्मन्यात्म मनसोः संयोग विशेषादात्म प्रत्यक्षम्" अर्थात् "जीवात्मा जब अपने मन को वशीभूत करके योग की विधि से आत्मा का ध्यान करता है तो उसे आत्मा स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है।" आत्मा विषयक इस सुदृढ़ मान्यता के कारण हम उन लोगों के मत से असहमत हैं जो वैशेषिक में ईश्वर सम्बन्धी विशेष विवेचना न देखकर उसे अनीश्वरवादी घोषित करने लगते हैं। ईश्वर के स्वरूप और उसके कार्य के विषय में तो आज तक सभी महान विचारकों ने अपनी असमर्थता प्रकट की है और सब कुछ कहने के पश्चात् भी अन्त में 'नेति-नेति' ही कह दिया है। पर जो आत्मा की सत्ता में विश्वास रखता है और शुभाशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप उसकी सद्गति अथवा दुर्गति के सिद्धान्त को पूर्णतः मानता है उसे कदापि अनीश्वरवादी अथवा नास्तिक नहीं कहा जा सकता। नास्तिक तो वही है जो अपने पर विश्वास नहीं रखता। वैशेषिक ने आत्मा को नित्य और अविनाशी माना है। साथ ही उसने उसके दो रूप भी बतलाये हैं—अल्पज्ञ और सर्वज्ञ। इन्हीं को अन्य सिद्धान्तवादी जीवात्मा और परमात्मा के नाम से पुकारते हैं। प्रलय हो जाने पर जब प्रत्येक तत्व परमाणु रूप में स्थित होता है और जड़ होने के कारण

स्वयं पुन सृष्टि रचना का कार्यारम्भ करने मे असमर्थ होता है तो सर्वज्ञ आत्मा ही उसे 'क्रिया आरम्भ' करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार वैशेषिक ने आत्म-तत्व को ही जगत का अधिष्ठाता माना है।

मन भी एक चैतन्य तत्व है, पर यह अविनाशी नही है। मन ज्ञान को प्राप्त करने का साधन है, पर उसे स्वय ज्ञाता नही कहा जा सकता। इस दृष्टि से मन, आत्मा और वाह्य जगत का सम्वन्ध कराने वाला एक उपकरण या सावन है। सू० ३।२।१ मे कहा है कि "आत्मा की आज्ञा से इन्द्रियो के विपयो के साथ सम्वन्ध होने पर भी एक समय मे एक प्रकार का ज्ञान होना और अन्य प्रकार का ज्ञान न होना मन का लिङ्ग (लक्षण) है।" मन को 'अणु' माना गया है जवकि 'आत्मा' 'विभु' कही गइ है। इसका आशय यही है कि आत्मा सर्वव्यापी तत्व है जवकि मन एक देशीय है और एक समय मे एक ही प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

गुणों का स्वरूप—

द्रव्य और गुण सापेक्ष विषय हैं। द्रव्य के विना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के विना द्रव्य का कोई अर्थ नही रहता। द्रव्य और गुण सदा एक साथ रहते हैं जिनमे द्रव्य को प्रधान और गुण को गौण माना जाता है। सूत्र १/१/१६ मे गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

द्रव्याश्रय्यगुणवान्सयोग विभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण-लक्षणम्।

अर्थात "गुण सदैव किसी द्रव्य के आश्रित रहता है। एक गुण मे और कोई अन्य गुण नही होता। वह सयोग-वियोग का उत्पादक नही होता, अर्थात् वह वाह्य जगत की घटनाओ पर कोई प्रभाव नही डालता और किसी अन्य गुण की अपेक्षा भी नही रखता।"

गुणों की संख्या चौबीस है यद्यपि सूत्र १/१/६ में सत्रह के नाम ही दिये हैं—रूप रस, गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग वियोग दूरी समीपता बुद्धि सुख, दुःख इच्छा द्वेष और प्रयत्न। पर सूत्र के अन्त में 'च' (अन्य भी) कह दिया गया है जिसके आधार पर इस दर्शन के प्रमुख भाष्यकार प्रशस्तपाद ने गुरुत्व द्रवत्व स्नेह, संस्कार, धर्म अधर्म और शब्द ये सात और मिलाकर चौबीस की संख्या पूरी करदी है। इन गुणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) रूप—लाल नीला पीला सफेद काला आदि अनेक रङ्ग नेत्रों से दिखाई पड़ते हैं। यह मुख्य रूप से अग्नि-तत्व का लक्षण है। वैसे पृथ्वी और जल में भी पाया जाता है।

(२) रस—मीठा नमकीन खट्टा चरपरा कड़वा कषैला ये छ रस मुख्य माने गये हैं, जिनका ज्ञान जिह्वा इन्द्रिय से होता है। यह मुख्य रूप से जल तत्व के आश्रित हैं। वैसे पृथ्वी-तत्व में भी पाया जाता है।

(३) गन्ध—यह पृथ्वी तत्व का गुण है। इसके सुगन्ध तथा दुर्गन्ध दो भेद हो सकते हैं। इसको घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है।

(४) स्पर्श—यह मुख्य रूप से वायु-तत्व का गुण है। वैसे पृथ्वी जल और अग्नि तत्व में भी पाया जाता है।

(५) संख्या—यह एक या अनेक द्रव्यों से सम्बन्धित होती है। जिससे उनकी गिनती मालूम होसकती है। 'एकत्व' संख्या नित्य पदार्थों में नित्य मानी जाती है पर दो तीन या चार की संख्या अनित्य होती है। ज्योंही उन पदार्थों की संख्या घट बढ़ जाती है त्योंही पहली संख्या नष्ट हो जाती है। संख्या नित्य अनित्य प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सभी द्रव्यों में रहती है।

(६) परिमाण—पदार्थों की अधिकता, अल्पता और दीर्घता अथवा ह्रस्वता की दृष्टि से परिमाण का कथन किया जाता है। यह अपेक्षा से कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु अपनी से बडी वस्तु की तुलना मे अल्प अथवा छोटी है। यह व्यवहार की दृष्टि मे नित्य-अनित्य सभी पदार्थों के लिए कहा जाता है।

(७) पृथकत्व—इसके द्वारा भिन्न-भिन्न वस्तुओं के स्वभाव मे जो पृथकता होती है उसका वोध होता है। इस पृथकता का आशय केवल वुद्धिगत और निपेवात्मक पृथकता से नही कि अमुक चीजें एक दूसरे से पृथक हैं, वरन् इससे दोनो मे जो वास्तविक पृथकता होती है उसका ज्ञान होता है।

(८) सयोग—दो अलग-अलग वस्तुएँ जव मिल जाती हैं तो उसे सयोग कहते हैं। वैशेपिक मे इसे तीन प्रकार का माना है—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और सयोग। सयोग कभी नित्य नही होता, क्योंकि जो परिस्थितिवश सयोग को प्राप्त होगा तो किसी समय उसका वियोग भी होगा।

(९) विभाग—सयोग विरुद्ध गुण विभाग है और यह भी सयोग की तरह तीन प्रकार का माना गया है। इसका आशय दो वस्तुओ मे सयोग का अभाव होना ही नही है, वरन् दो मिली हुई वस्तुओ का अलग हो जाना है।

(१०+११) परत्व और अपरत्व या दूर और समीप—जिस गुण द्वारा आगे का ज्ञान होता है वह 'परत्व' है और जिससे पीछे का ज्ञान होता है वह अपरत्व है। ये चारो पृथ्वी आदि चारो तत्वो और मनके गुण हैं। ये देश और काल के सम्बन्ध से होते हैं। काल की दृष्टि से कहा जाता है कि "यह छोटा है" यह वडा है। और देश की निगाह से हम कहते हैं कि "वह दूर है" अथवा "वह निकट है।" ये गुण अनित्य हैं और

अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है, जिससे बराबर बनते बिगड़ते या बदलते रहते हैं।

(१२) गुरुत्व—इसका अर्थ है नीचे गिरने का गुण । जैसे पृथ्वी (पार्थिव वस्तुएँ) तथा जल नीचे गिरते हैं । यह गुण नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में होता है।

(१३) द्रवत्व—बहने या सरकने के गुण का नाम द्रवत्व है । यह दो प्रकार का होता है । एक स्वाभाविक जैसे जल का स्वभाव बहते रहने का है। दूसरा नैमित्तिक जैसे घी जमा होता है तो स्थिर रहता है पर अग्नि के संयोग से तरल होकर बहने लगता है।

(१४) स्नेह—चूरा हो जाने वाली वस्तु को पिण्डाकार बनाये रखने वाले गुण को स्नेह कहते हैं। यह जल में मुख्यतया पाया जाता है।

(१५) शब्द—यह एकमात्र आकाश का गुण है। यह कर्णेन्द्रिय से ग्राह्य है। यह दो प्रकार का होता है ध्वनि-स्वरूप जैसे ढोल मृदङ्ग आदि का शब्द और वर्ण-स्वरूप—जिसमें अर्थ सहित शब्दों का उच्चारण होता है जैसे मनुष्यों की बात-चीत।

(१६) बुद्धि—इसका अर्थ है ज्ञान जो जीवात्मा का गुण है। कभी यह नये अनुभव के रूप में प्रकट होता है और कभी पुराने अनुभव की स्मृति के रूप में। अनुभव भी यथार्थ और अयथार्थ रूप से दो प्रकार का होता है। यद्यपि जीवात्मा के संयोग से बुद्धि चैतन्य जान पड़ती है पर वास्तव में यह एक प्राकृतिक शक्ति है और इसलिये जड़ है। इस जड़ होने के कारण ही यह ज्ञान और अज्ञान दोनों को ग्रहण करती है और उसका निर्णय जीवात्मा करता है। बुद्धि द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसके तीन भेद प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण माने गये हैं और अयथार्थ ज्ञान के संशय और विपर्यय दो भेद बतलाये गये हैं।

(१७) सुख—हर एक अनुकूल गुण को सुख कहते हैं। वह अतीत विषयो की स्मृति से और आगामी सुखो के सकल्प से उत्पन्न होता है। यह मुख और नेत्रो की आकृति मे परिवर्तन होने से प्रकट हो जाता है। सुख की इच्छा स्वाधीन है और वह केवल सुख के ही निमित्त होती है।

(१८) दुख—यह सदैव प्रतिकूलता के भाव से उत्पन्न होता है। इष्ट का वियोग और अनिष्ट का प्राप्त होना ही इसका कारण होता है। यह भी अतीत विषयो मे स्मृति-जन्य और अनागत विषयो मे सकल्प-जन्य होता है। यह भी मुख के भाव द्वारा प्रकट हो जाता है।

(१९) इच्छा—अपने लिये या दूसरो के लिये किसी अप्राप्त वस्तु की चाहना इच्छा कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है—फल की इच्छा और उपाय की इच्छा। कामना, अभिलाषा, सकल्प आदि इसी के भेद है।

(२०) द्वेष—हृदय मे किसी से जलन होना द्वेष कहा जाता है। यह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का हेतु होता है। धर्म और अधर्म का हेतु इस प्रकार से कि यदि किसी दुष्ट से द्वेष होगा तो उसके विपरीत श्रेष्ठ कर्म मे प्रवृत्ति होगी और सज्जन से द्वेष होगा तो उसके विरोध स्वरूप अधर्म कर्मों मे प्रवृत्ति होगी। क्रोध, मोह, मन्यु, अमर्ष आदि इसके भेद हैं।

(२१) प्रयत्न—उत्साह और उद्योग का भाव 'प्रयत्न' कहलाता है। यह भी मन और आत्मा का गुण है। यह एक तो शारीरिक क्रियाओ को चलाने के लिये अन्त करण और इन्द्रियो के द्वारा स्वयमेव होता है और दूसरा हितकारी बाह्य साधनो की प्राप्ति तथा अहितकारी साधनो के त्याग के रूप मे इच्छापूर्वक होता है।

(२२) धर्म-अधर्म—श्रुति-स्मृति में बतलाये सत्कर्मो का नाम धर्म है और उससे विपरीत कर्मों का नाम अधर्म होता है। ये सस्कार

कम्म अदृष्ट कर्मों के उत्पन्न करने वाले होते हैं और इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में वैसा ही फल देते हैं।

(२४) संस्कार—प्रथम संस्कार 'वेग' कहा गया है जो पृथ्वी जल अग्नि वायु चारों तत्वों और मन में रहता है और आगामी कर्मों का हेतु होता है। दूसरा भावना है जो पूर्व अनुभव याद आ जाने से चित्त में पैदा होता है। यही अनेक प्रकार की वासनाओं का कारण होता है। विद्या शिल्प व्यायाम आदि में भी बार-बार अभ्यास करके निपुणता प्राप्त होने का कारण भावना-संस्कार ही होता है। तीसरा 'स्थित स्थापक' है जिसके प्रभाव से छोड़ी हुई स्थिति फिर से उत्पन्न हो जाती है। इसको लचीलापन भी कह सकते हैं जैसे रबड़ खींचकर छोड़ देने पर फिर पुरानी स्थिति में आ जाता है अथवा हरे पेड़ की डाली झुका कर छोड़ देने पर फिर पूर्ववत् हो जाती है।

जैसा कहा जा चुका है गुण पृथक वस्तु नहीं है वरन् द्रव्यों के आश्रय में ही पाये है। एक-एक द्रव्य में कई प्रकार के गुण पाये जाते हैं, सबसे अधिक गुण पृथ्वी और जल में होते हैं जिनकी संख्या १४ है। अग्नि में ११ वायु में ८ और आकाश में ६ गुण बतलाये गये हैं। काल और दिशा में ५ ५ गुण होते हैं। चेतन द्रव्यों में से जीवात्मा में १४ और मन म ८ गुण होते हैं।

कर्म के पाँच भेद—

द्रव्य में गुणों के अतिरिक्त कर्म का अस्तित्व भी है। बिना द्रव्य के कोई कर्म नहीं हो सकता। पर गुण और कर्म में यह अन्तर है कि गुण द्रव्य का स्वाभाविक धर्म है जो उसमें सदैव उपस्थित रहता है, परन्तु कर्म प्रयत्नपूर्वक कुछ समय के लिये प्रकट होता है। पाँच कर्म उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुंचन प्रसारण और गमन के रूप में होते हैं। इनके कारण और स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) मीरन—किसी वस्तु को उछालना उसे कीचड़ में पैर डालने

से वह हिलकर इधर-उधर होता है। (२) गुरुत्व—भारीपन, जिसके कारण कोई भी पदार्थ नीचे गिरता है (३) वेग—जिससे वस्तु दूर फेंकी जाती है, जैसे धनुष को खीचने से बाण दूर तक जाता है। (४) प्रयत्न—कोई भी क्रिया करते समय शारीरिक अङ्ग उठते या गिरते हैं, वह प्रयत्न कहा जाता है।

इन समस्त प्रयत्नो मे मनुष्य के कर्म पुण्य और पाप रूप सस्कार उत्पन्न करने वाले होते हैं। अन्य महाभूतो (जल, अग्नि, वायु आदि) के कर्मों से पाप पुण्य उत्पन्न नही होते क्योकि वे अचेतन होते हैं।

कर्म मे चेतना और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यो तो सोते समय भी हमारा हृदय, फेफडा, आमाशय काम करते रहते हैं। प्राण भी समस्त शरीर मे चलता रहता है, पर उसका नाम कर्म नही होता। वह एक स्वभाव या घटना है। कर्म आत्मा और मन की प्रेरणा से होता है और उसमे ज्ञान तथा सकल्प भी दिखाई पडते हैं।

धर्म रूपी कर्म—वैशेषिक ने भौतिक कर्मों के सिवाय धर्म रूपी कर्मों का भी वर्णन किया है, क्योकि उन्ही के द्वारा मनुष्य के चरम लक्ष्य 'अभ्युदय' और 'नि श्रेयस' की प्राप्ति होती है, जिनका उल्लेख ग्र थ को आरम्भ करते ही दूसरे सूत्र मे किया गया है। पर वैशेषिक ने केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय के धर्म ही बतलाये हैं, क्योकि उस जमाने मे ये दो वर्ण ही ज्ञान के अधिकारी और तदनुसार व्यवहार करने वाले थे। शेष मनुष्यो का जीवन-कार्य प्राकृतिक रूप से यन्त्रवत् चलता रहता था। महर्षि कणाद ने ब्राह्मण का धर्म दान लेना बतलाया है, और किसी को दान लेने का अधिकार नही। पर इस प्रकार का दान वर्तमान समय की तरह भिक्षा या निकम्मे रहकर उदर पोषण के रूप मे न था। सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि दान को बुद्धिपूर्वक देना और लेना चाहिये। ब्राह्मण पर समस्त समाज को शिक्षित करने, विद्या पढाने का उत्तरदायित्व था। वह निस्पृह भाव से जनता को विद्या-दान करते थे और समाज उनके इस

ऋण को चुकाने के लिये उन्हें द्रव्य-दान देता था। इसलिये उस समय का दान किसी प्रकार की दया या भिक्षा न थी वरन् एक 'ऋण' को चुकाना था। फिर ब्राह्मण इस प्रकार मिले हुये दान को अपने लिये ही नहीं रख लेते थे। वे उससे अनाथ असमर्थ और दीन-हीनों की सहायता भी करते थे। कितने ही त्यागी ब्राह्मण तो उस दान को अपने लिये बिल्कुल ही काम में नहीं लाते थे और स्वयं खेतों में गिरे हुये अन्न के दानों को बीन कर उसी से अपना काम चलाते थे। संभवतः वैशेषिक के सूत्रकार महर्षि कणाद स्वयं ऐसे ही महान त्यागी महापुरुष थे और इसी से उनका नाम 'कणभुक' या 'कणभक्ष' भी प्रसिद्ध है।

ब्राह्मणों के लिये शुद्ध आहार पर भी बहुत जोर दिया गया है। सूत्र ६-१-६ में कहा है 'तद् दुष्ट भोजने न विद्यते' अर्थात् दान का श्रेष्ठ फल भोजन के दुष्ट होने से नष्ट हो जाता है।" आठवें सूत्र में कहा गया है कि दूषित भोजन कराने से खाने और खिलाने वाले दोनों को दोष लगता है।

क्षत्रिय का कर्तव्य धर्म रक्षार्थ युद्ध करना है। पर उसे धर्म युद्ध तभी कहा जायगा कि युद्ध करते हुये भी सदाचार और नीति के नियमों को न त्यागा जाय। जैसे किसी निर्बल या असमर्थ पर आक्रमण करना अनुचित है। यदि अपनी समानता वाला युद्ध के लिये ललकारे तो कभी पैर पीछे न हटाये। यदि अपने से अधिक बलवान भी अन्यायपूर्वक आक्रमण करे तो भयभीत न हो और चाहे प्राण चले जायें पर युद्ध से पराङ्मुख न हो। युद्ध के अवसर पर क्षत्रिय के लिये नित्य नैमित्तिक कर्मों को करना आवश्यक नहीं है, पर आहार की शुद्धता का उस समय भी ध्यान रखना आवश्यक है। अशुद्ध आहार मति को भ्रष्ट कर देता है जिसका परिणाम आगे-पीछे अनिष्टकारी ही सिद्ध होता है।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थों पर ही विशेष ध्यान दिया गया है और इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। लोग

तीन पदार्थ—सामान्य, विशेष और समवाय केवल भाव-रूप हैं और उनका आधार बुद्धि की अपेक्षा से होता है।

सामान्य और विशेष—

सामान्य का अर्थ है मामूली। इसका आशय यह है कि जब हम एक प्रकार की वस्तुओ को बिना विशेषता का ध्यान किये एक श्रेणी मे रखते हैं तो वह सामान्य होता है। जैसे बहुसख्यक घडो मे से हम प्रत्येक को 'घट' के नाम से पुकारते है, चाहे वे छोटे-बडे, सस्ते-महँगे, सुन्दर-असुन्दर कैसे भी हो। उन सबके भीतर जो एक 'घटत्व' का लक्षण है वही 'सामान्य' है इसे तीन प्रकार का माना गया है। एक पर-सामान्य दूसरा अपर-सामान्य और तीसरा परापर-सामान्य। सबसे अधिक व्यक्तियो या स्थान मे जो जाति पाई जाय वह पर-सामान्य है। जैसे वृक्ष कहने से ससार भर के सब प्रकार के वृक्षों का बोध होता है। पर आम्र-वृक्ष कहने से केवल वृक्षो की एक जाति का बोध होता है। यह अपर-सामान्य है। पर आमो मे भी यदि हम कहे कि 'कलमी आम का पेड' तो आम की जाति भी सामान्य हो जाती है। यह पर-अपर के बीच मे रहने वाली श्रेणी परात्पर-सामान्य कही जाती है।

सामान्य से विपरीत को विशेष कहते हैं। जैसे सामान्य अधिक से अधिक समुदाय का भाव प्रकट करता है वहाँ विशेष कम से कम का भाव बतलाता है। सैकडो घडो मे से यदि हम एक को छाँटना चाहे तो उसमे अवश्य कोई ऐसी भिन्नता मिल जायगी जिसके द्वारा उसे अन्य सब घडो से पृथक किया जा सकता है। इस एक घडे के भी विभिन्न भागो मे कुछ अन्तर है और फिर जिन परमाणुओ से विभिन्न भाग बने हैं उनमे भी अन्तर है। इस प्रकार विशेष की खोज करने-करते हम छोटे से छोटे परमाणु तक जा पहुँचते हैं और उनके आधार पर द्रव्यो का विभाग कर सकते हैं।

समवाय का स्वरूप—

जैसा कहा गया है समवाय की कल्पना वैशेषिक की अपनी विशेष सूझ है जिसे अन्य दर्शनकारों ने निरर्थक और अनावश्यक बतलाया है। इसका अर्थ तो दो पदार्थों का संयोग है, पर वह 'समवाय' तभी कहा जा सकता है जबकि वह नित्य हो। उदाहरण के लिये हम कलम हाथ में लेकर लिखते हैं तो इन दोनों का संयोग हो गया। पर जब हम कलम को रख देंगे तो यह सम्बन्ध मिट जाता है। इसी प्रकार हमने किसी बर्तन में दही जमाया तो उन दोनों का सम्बन्ध होगया। पर जब हम दही को बर्तन से निकाल लेंगे तो वह सम्बन्ध समवाय नहीं कहलाता। वरन् 'समवाय' ऐसा सम्बन्ध है कि जैसे लकड़ी और कुर्सी का अथवा सूत और वस्त्र का। यदि हम इस सम्बन्ध को मिटाना चाहें तो कुर्सी और वस्त्र भी समाप्त हो जायेंगे। इस प्रकार समवाय दो वस्तुओं का व्यापक समाधान है जिसे हम गुणी और गुण का सम्बन्ध भी कह सकते हैं।

अभाव की कल्पना—

यद्यपि वैशेषिक-सूत्रों में महर्षि कणाद ने छः पदार्थों का ही उल्लेख किया है, पर पीछे के आचार्यों ने 'अभाव' नामक एक अन्य पदार्थ की कल्पना भी करली है। इसका आशय दो वस्तुओं का असम्बन्ध होना प्रकट करता है। यह दो प्रकार का माना गया है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन भेद हैं। किसी वस्तु की उत्पत्ति के पहले जो अभाव होता है वह प्रागभाव' कहलाता है। जैसे धागा और वस्त्र कार्य-कारण रूप होते हैं पर जब तक वस्त्र नहीं बनाया जाता तब तक उनमें 'प्रागभाव' रहता है। इसी प्रकार जब किसी वस्तु के नष्ट हो जाने पर जो अभाव उत्पन्न होता है वह 'प्रध्वंसाभाव' है। जैसे घड़ा के फूट जाने पर उसका मूल उपादान मिट्टी बनी रहती है, पर घटरूप से उससे जो पानी भरने का कार्य किया जाता था उसका अभाव हो गया।

तीसरा अत्यन्ताभाव है जिसका आशय यह है कि वह वस्तु भूत, भविष्यत् वर्तमान मे कभी नही होती। अभाव केवल बुद्धि से अपेक्षित है, पर वैशेषिक आचार्यों ने इसको बडा महत्व दिया है, क्योकि वे कहते हैं कि दु खो का अत्यन्ताभाव ही मोक्ष है और वही मनुष्य का चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार वैशेषिक ने लौकिक पदार्थों के ज्ञान और व्यवहार से ही मोक्ष जैसी आध्यात्मिक स्थिति का प्राप्त होना सिद्ध किया है और ससारी लोगो के भौतिकतावादी दृष्टिकोण को देखते हुये इसकी आवश्यकता भी है। सूत्रकार के मन्तव्यो का निष्कर्ष यही है कि यह ससार प्राकृतिक रचना है, इसलिये जब तक प्रकृति के तत्वो और उसके छोटे-बडे विभिन्न रूपान्तरो को न समझ लिया जायगा तब तक मनुष्य सम्यक आचरण और व्यवहार करने मे समर्थ नही हो सकता। जिस प्रकार वर्तमान समय मे पाश्चात्य विद्वान आध्यात्मिक तत्वो की चर्चा किये बिना ही कर्तव्य और नीति के आधार पर अपने लोगो को जीवन निर्वाह का मार्ग-दर्शन करते रहते हैं और उसके द्वारा उन्होने बडी-बडी सफलतायें भी प्राप्त करके दिखाई हैं, उसी प्रकार वैशेषिक ने अध्यात्म की चर्चा न करके समस्त विषयों को पदार्थ या द्रव्य के रूप मे ही ग्रहण किया है, यहाँ तक कि उनके विवेचन मे मन और आत्मा भी एक द्रव्य ही हैं। पर इस समस्त विवेचन का अन्तिम निष्कर्ष यही निकाला है कि मनुष्य को धर्मानुकूल आचरण करना चाहिये क्योकि इसी से अभ्युदय (उन्नति या सफलता) और नि श्रेयस (दु खो मे निष्कृति या मोक्ष) प्राप्त हो सकते हैं।

क्योंकि कणादि ने अपने ग्रन्थ मे ईश्वर और परलोक का नामोल्लेख नही किया है और अपने विवेचन को प्रत्यक्ष पदार्थों या उनके द्वारा अनुमान किये जा सकने वाले तथ्यो तक ही सीमिति रखा है इसलिये अनेक लोग उनकी आस्तिकता मे सन्देह करते है और उनके प्रतिद्वन्दी अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय वालो ने तो उनको आधा या पूरा नास्तिक ही

पोषित कर दिया है, पर हम नहीं समझते कि वैशेषिक दर्शन का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर ऐसी कोई बात प्रकट होती है। अध्यात्म की चर्चा न करने पर भी कणाद ने वैसे ही धार्मिक आचरणों और कर्तव्यों का आदेश दिया है जैसा कि अन्य शास्त्रों में मिलता है। इस विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मुख्य बात तो शुद्ध भावना और तदनुसार शुभ आचरण ही है। उसे जो लोग ईश्वरीय आदेश मान कर करते हैं तो उनका मार्ग भी श्रेष्ठ है और जो उसे कर्तव्य और सज्जनता की भावना करते हैं वे भी कोई अनुचित काम नहीं करते। इतना ही नहीं वर्तमान समय के बहुसंख्यक उदाहरणों को देखकर तो हमको यह अनुभव होता है कि जो लोग संसार को बन्धन या झूठी माया कह कर ईश्वर, अध्यात्म को ही मान्यता देते हैं वे आचरण की दृष्टि से कुछ और ही सिद्ध होते हैं उनकी कथनी और करनी में काफी अन्तर दिखाई देता है। इसके विपरीत जो अध्यात्म और परमात्म-तत्व के सम्बन्ध में अपनी अनजानकारी को स्वीकार करके कर्तव्य और सज्जनता के अनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं वे समाज और संसार की यथाशक्ति सेवा तथा उपकार करने में सफल हो जाते हैं। इसलिये यदि महर्षि कणाद ने अपना विवेचन में आचरण-संहिता के एक पहलू को ही स्थान दिया तो यह कोई दोष या त्रुटि की बात नहीं है। उन्होंने ईश्वर और परलोक जीवन का निराकरण नहीं किया है और इन विषयों को अन्य विद्वानों के विवेचन के लिये सुरक्षित रख दिया है।

बौद्धों का विरोध—वैशेषिक में भौतिक में तत्वों की ही विशेष चर्चा होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि इसकी रचना का एक प्रधान उद्देश्य बौद्ध मत का खण्डन और वैदिक सिद्धान्तों की स्थापना भी था। बौद्ध लौकिकतावादी थे और वेदों के साथ ईश्वर का भी खण्डन करते थे। मध्यकाल में उनका प्रभाव समस्त देश में बहुत अधिक व्याप्त हो गया था और लोग कहने लगे थे कि बौद्ध धर्म के प्रचण्ड तेज के कारण वैदिक

सूर्य डूब गया । अन्त मे न्याय और वैशेषिक जैसे दर्शनकारो और कुमारिल भट्ट और शकराचार्य जैसे धर्म प्रचारको ने बौद्धो का पराभव करके वैदिक सिद्धान्तो की पुन स्थापना की । ऐसी परिस्थिति मे वैशेपिक ने भौतिक-लाभ के आधार पर अपना प्रचार-कार्य करने वाले बौद्धो का खण्डन करने के लिये यदि उसी धरातल खडे होकर प्राकृतिक तत्वोकी वेद सिद्धान्तानुकूल विवेचना की तो यह स्वाभाविक ही था । कहा जाता है कि न्याय और वैशेषिक दर्शनो के तर्कों और प्रमाणो के सामने निरुत्तर होकर बौद्ध विद्वानो ने इन दर्शनो को नष्ट भ्रष्ट करने की हर तरह से चेष्टाकी थी । अन्त में इन्ही के द्वारा उनका पराभव हुआ और वैदिक मान्यताऐ पुन प्रचलित हो सकी । इस सम्बन्ध मे उदयनाचार्य नामक विद्वान की एक घटना विद्वानो में प्रसिद्ध हो गई है, जो ग्यारहवी शताब्दी मे मिथिला मे हुये थे और जिन्होंने न्याय और वैशेपिक के बहुत उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे थे । वे किसी समय पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ जी के मन्दिर मे दर्शनार्थ गये, पर उस समय भगवान के पट बन्द थे । उदयनाचार्य ने उसी समय दर्शन करने का आग्रह किया और भगवान को अपना परिचय देते हुये उच्च स्वर से कहा—

> एश्वर्यमदमत्तोसि मामवज्ञाय वर्तते ।
> उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थिति ॥

अर्थात्—इस समय तो आप ऐश्वर्य के घमण्ड मे मेरी अवज्ञा करते हैं, पर जब बौद्ध लोग आपके ईश्वरत्व का धुँआधार खण्डन करने लगेंगे तब आपके अस्तित्व की रक्षा मेरे द्वारा ही होगी ।"

बौद्ध मतानुयायी अलौकिक तत्वो को, जिनका कोई प्रत्यक्ष अथवा सुदृढ अनुमान प्रमाण नही दिया जा सकता, वरन् जो आत्मिक अनुभूति के विषय हैं अस्वीकार करके ससार के प्रत्यक्ष तथ्यो के आधार पर शास्त्रार्थ करते थे, इस लिये बहुसख्यक व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तो से विश्वास

जुटाकर उनके अनुयायी बनते जाते थे। इसलिये वैशेषिक दर्शनकार ने भी भौतिक तत्वों और प्राकृतिक रचना की नये ढङ्ग से व्याख्या करके उनके सिद्धान्तों का निराकरण किया और सिद्ध किया कि परलोक और परमात्मा की सत्ता केवल शास्त्रों में वर्णित होने से ही माननीय नहीं है, वरन् सृष्टि रचना और प्राकृति तत्वों के विकास की समीक्षा करने से भी इसकी पुष्टि होती है। इसका कारण यही था कि शास्त्रार्थ करने वाले बौद्ध विद्वान केवल तर्कों और प्रमाणों से आधार पर वादविवाद करते थे और प्राचीन धर्म ग्रन्थों में प्रतिपादित आध्यात्मिक तत्वों या ईश्वर सम्बन्धी विवेचन का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य न था।

इसलिये यदि वैशेषिककार ने भी अपनी तर्क प्रणाली में परमात्मा की चर्चा नहीं उठाई और बौद्धों के निरीश्वरवाद का खण्डन उन्हीं के भौतिकवादी सिद्धान्तों के आधार पर किया तो यह किसी प्रकार की निन्दा का विषय न होकर बहुत बड़ी प्रशंसा की ही बात थी। इस पर हमको आज की निगाह से विचार नहीं करना चाहिये जब कि बौद्ध मत का नाम निशान ही इस देश से मिट गया है, वरन् उस समय की स्थिति को सामने रखकर करना चाहिये जिस समय कश्मीर से कन्याकुमारी तक बौद्ध धर्म का जयघोष सुनाई पड़ रहा था और वैदिक धर्मानुयाइयों को उनके राजनीतिक तथा सामाजिक प्रभाव के सम्मुख अपने अस्तित्व की रक्षा करना भी कठिन हो रहा था। उस समय महर्षि कणाद और महर्षि गौतम ही धर्मरक्षार्थ कटिबद्ध हुये और उन्होंने अपनी विद्या बुद्धि तथा तर्क कुशलता द्वारा बौद्ध धर्म के जोरदार प्रवाह को रोक कर फिर से प्राचीन सिद्धान्तों की रक्षा और स्थापना की।

वैशेषिक की कुछ विशेषतायें—

वैशेषिक दर्शन में यद्यपि सर्वत्र भौतिक तत्वों और उनके स्वरूप की ही चर्चा की है पर बीच-बीच में उन्हीं के आधार पर धर्म-चरण के ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो जीवन के अभ्युदय और

समाज के उत्कर्ष के दृष्टि से बहुत उपयोगी और आवश्यक हैं। इनमे हमको सबसे अधिक महत्त्व की बात दान-सम्बन्धी विवेचन जान पडा है जिसका उल्लेख हम प्रसगवश पीछे भी सक्षेप मे कर चुके हैं। वर्तमान समय मे दान-प्रणाली की जैसी दुर्दशा हो रही है और कुछ लोगो ने जिस प्रकार उसीको अपने जीवन-निर्वाह का पेशा बना लिया है, वह अत्यन्त शोचनीय है। जो दान-प्रणाली परमार्थ की शिक्षा देने वाली और आत्मा को शुद्ध तथा सात्विक बनाने वाली थी वह आजकल निकम्मा रह कर भीख माँगने या हरामखोरी करने का साधन बन गई है। यदि हम इस सम्बन्ध मे वैशेषिक के सिद्धान्तो पर विचार और मनन करते हैं तो उसका कुछ दूसरा ही रूप दृष्टिगोचर होता है।

महर्षि कणाद का वचन है कि दान का देना तो परमावश्यक है, क्योंकि यह एक पवित्र सामाजिक कर्तव्य है जिससे अनेक शुभ परम्पराओ का पोषण होता है और मनुष्य की आत्मा भी शुद्ध और उच्च होती है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों मे कह दिया है कि—

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥६।१।३

दान तो अवश्य दिया जाय, क्योकि जो कुछ प्राप्त हो जाय उसे ताले मे बन्द करके अकेले ही उपयोग मे लाने से मनुष्य मे हीन कोटि की स्वार्थबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है, जिससे सामाजिक प्रगति रुकती है और अनेक लोकोपकारी कार्यों मे बाधा उपस्थित हो जाती है। पर दान इस प्रकार दिया जाय जैसे जमीन, बीज और मौसम पर विचार करके खेती की जाती है। शास्त्रो मे दान का महत्त्व बहुत अधिक वर्णन किया गया है और कहा है कि मनुष्य जो कुछ दान करता है वह आगे चलकर उसे सैकड़ो गुना होकर मिलता है। इसी आधार पर विद्वानो ने दान की तुलना खेती से की है कि जिस प्रकार खेत मे एक दाना बोने मे उसके सैकड़ों दाने मिलते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ भाव से दान करने का प्रतिफल अनेक गुना होकर मिलता है। वैशेषिक इस सिद्धान्त को बिल्कुल ठीक

कहलाता है, पर साथ ही उसका कहना है कि यह तभी हो सकेगा जब तुम दान को विवेकपूर्वक सोच समझ कर दोगे।

दान सदा उपयुक्त पात्र देखकर श्रद्धापूर्वक निःस्वार्थ भाव से करना चाहिये। ऐसे दान की एक विशेषता यह भी है कि उसे जहाँ तक हो चुपचाप बिना कुछ अहसान जताये देना चाहिये। आजकल की तरह अपने नाम का डंका पीट कर दान देना और जितना दिया है उससे कहीं ज्यादा वाहवाही और प्रशंसा की इच्छा रखना दान के महत्त्व को नष्ट कर देता है। शास्त्रों में कहा है कि दान से दो प्रकार के फल होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष फल से आशय सांसारिक भोगों की प्राप्ति है और परोक्ष से पारलौकिक सद्गति और आत्मोत्कर्ष का अर्थ निकलता है। धर्मतत्त्व को समझने वाले इनमें से प्रत्यक्ष फल को निकृष्ट कहते हैं, क्योंकि भोगों की प्राप्ति का अन्तिम परिणाम मनुष्य का पतन ही होता है। इसलिये दान सदैव आत्मा की शुद्धता तथा सद्गति की दृष्टि से ही देना चाहिये। दान देने के साथ ही दान लेने में भी ऐसी ही सावधानी बर्तने की आवश्यकता है। इसके लिये उपर्युक्त तीसरे सूत्र के पश्चात् ही चौथे सूत्र में कहा गया है—

तथा परिग्रहः ॥ ६।१।४

अर्थात्—दान लेने में भी विवेक का उपयोग करना चाहिये। दान को मुफ्त का माल समझकर उसके लिये लालायित रहना और अपनी कुछ भी योग्यता और पात्रता न होने पर भी निर्लज्जतापूर्वक उसे ग्रहण करना और उपयोग में ले आना एक बहुत बड़ा पाप-कर्म है। खेद है कि आजकल इस सूत्र में प्रकट किये गये सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत ढंग ही हर जगह दिखाई दे रहा है। इस समय जितना दान दिया जाता है उसमें से ९ प्रतिशत आँखें बन्द करके कुपात्रों को ही दिया जा रहा है। अच्छे मुसण्डे भंगेड़ी दुराचारी लोग निःसंकोच होकर दान ग्रहण करते हैं और उनके बदले में पुण्य के बजाय पाप कर्मों को ही

वृद्धि करते हैं। शास्त्रो मे दान लेने का उत्तरदायित्व वहुत अधिक वताया गया है और कुदान का परिणाम दाता और ग्रहीता दोनों के लिये अनिष्ट-कारी लिखा है। इसी दृष्टि से दान के देने और लेने मे वैशेषिककार ने वुद्धि और विवेक का पूर्ण उपयोग की चेतावनी दी है, जिसका यदि पालन किया जाय तो नि सन्देह दोनो पक्ष का परम कल्याण हो सकता है।

महर्षि कणाद का मत तो यहाँ तक है कि पापी प्रकृति के मनुष्यो को दान देने से कुछ भी पुण्य नही हो सकता। सूत्र ६।१।६ में कहा गया है—"तद्दुष्ट भोजने न विद्यते" और सूत्र ९ मे कहा है—"तदऽदुष्टेन विद्यते।" इसका आशय यही है अन्नदान आदि मे पात्र का ध्यान रखना सर्वोपरि है। यदि आँखें बन्द करके चाहे जिसको दान दे दिया जायगा तो उससे पुण्य के बजाय उल्टा पाप ही मिलेगा। क्योकि दान पाने वाला मुफ्त का माल पाकर जो कुकर्म या दुर्व्यसन करेगा उसका निमित्त कारण दाता ही होगा, इसलिये आठवें सूत्र मे स्पष्ट कह दिया गया है कि "तस्य समभिव्याहारतो दोष" अर्थात् दुष्टो को दान देना तो दूर उनसे किसी प्रकार का व्यवहार रखना भी दोषपूर्ण है। दुष्ट की सगति का परिणाम कभी शुभ या सुखदायी नही हो सकता। किसी भाषा कवि ने भी कहा है—

सङ्गति कीजै साधु की हरै और की व्याधि।
ओछी सङ्गति क्रूर की आठों पहर उपाधि॥

यदि दान के सम्बन्ध मे हम महर्षि कणाद के उपदेशों का ध्यान रखते तो आज हिन्दू-समाज की दशा कुछ और ही होती। आज भी हिन्दुओ मे इतना अधिक धन साधु, भिखारी, पण्डा, पुजारी, मठ, मन्दिर तीर्थ, श्राद्ध, ब्रह्मभोज, सदावर्त आदि भिन्न-भिन्न रूपो मे खर्च कर दिया जाता है कि उसकी गिनती करोडो नहीं, अरबो तक पहुँच सकती है। यदि यह दान का धन विवेकपूर्वक खर्च किया जाता और उसे हिन्दू धर्म का प्रचार करने तथा समाज को सुदृढ़ और सशक्त बनाने के कार्य

करने में लगाया जाय तो आज कुछ और ही दृश्य दिखलाई पड़ता और हिन्दू जाति प्राचीन समय की तरह संसार में सर्वोच्च आसन पर विराजमान होती। पर अब विवेकशून्य होकर दान देने का परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दू धर्म अन्य देश वासियों की हँसी का पात्र बना हुआ है और वे लोग यहाँ गाँजा सुलफा की दम लगाते हुए जटाधारी साधुओं की मण्डलियों अथवा तीर्थों में दान लेते हुये लम्बे चौड़े तिलकधारी पण्डों के फोटो छाप-छाप कर संसार को बतलाते हैं कि हिन्दू विज्ञान तत्वज्ञान की दिखावटी बातें करते हुए वास्तव में कैसे अन्धविश्वास और ढोंगों का पोषण कर रहे हैं।

कर्म-फल की प्रधानता—

मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता स्वयं ही है इसको भी वैशेषिक ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है और जो लोग पुण्य को पैसों से खरीदने बेचने की वस्तु समझते हैं उनकी इसमें बहुत भर्त्सना की गई है। हिन्दू धर्म में आज कल इस सम्बन्ध में बड़ी भ्रांति उत्पन्न हो गई है और श्राद्ध आदि का रूप ऐसा विकृत हो गया है कि शुभ कर्मों का ह्रास होता जाता है। लोग समझते हैं कि हम चाहे जैसे कर्म करते रहें अन्त में धन द्वारा दान-पुण्य करके उसे दूर कर ही देंगे। इतना ही नहीं मरने के बाद भी मृतक के नाम पर धन द्वारा तरह-तरह के कर्मकाण्ड करके सोचते हैं कि इससे मृतक को परलोक में सद्गति प्राप्त हो जायगी। पर यह विचार यथार्थ नहीं है। वैशेषिक सूत्रों में कहा है—

आत्मान्तर गुण नामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥

अर्थात्—"अन्य आत्मा के गुणों या कर्मों का अन्य आत्मा को फल नहीं मिलता क्योंकि दो विभिन्न आत्माओं में इस प्रकार फल मिलने का कोई कारण नहीं देखा जाता। अगर ऐसा विपरीत नियम सत्य होता तो जिस प्रकार एक आत्मा के पुण्य करने से दूसरी आत्मा को उसका

पुण्य फल मिलता उसी प्रकार एक आत्मा के पाप कर्मों से दूसरी आत्मा को पाप-फल भी मिलना चाहिये था। यदि इस सिद्धान्त को सत्य मान लिया जाय तो सारी कर्म-व्यवस्था ही अस्तव्यस्त हो जायगी और धन-सम्पन्न व्यक्ति रुपये के जोर से पाप करने पर भी पुण्यात्माओ की गति पाने का दावा करने लगेंगे। यह स्थिति आजकल अनेक अवसरो पर प्रत्यक्ष देखने मे आती है जब व्यभिचारी और आचरणहीन राजाओ और पूंजीपतियो को भी दान दक्षिणा के आधार पर "धर्म-मूर्ति" की पदवी मिल जाती है और मरने के पश्चात् उनकी "स्वर्गीय" आत्मा के गुणगान किये जाते हैं।

पर कोई भी निष्पक्ष विचारक इस प्रकार की मान्यता का समर्थन नही कर सकता। वैशेषिक दर्शनकार ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि एक आत्मा के गुण-पाप-पुण्य आदि दूसरी आत्मा के लिये सुख-दुख का कारण नही हो सकते। शास्त्रो मे कर्म-सिद्धान्त का जो विवेचन किया है उसके अनुसार मनुष्य जो कर्म करता है वह बीज के दो दलो (भागो) मे विभाजित हो जाता है—एक सस्कार, दूसरा भोग। उस भोग को प्राप्त होते समय जैसा सस्कार मन मे होता है उसी के अनुसार जीव उस भोग मे सुख या दुख का भाव अनुभव करता है। वास्तव मे सुख-दुख भोग्य पदार्थ मे नही होता वरन् हमारी मानसिक भावना या सस्कारो मे रहता है। क्योकि एक अन्तकरण के सस्कार किसी दशा मे दूसरे अन्तकरण मे नही जा सकते, इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सुख-दुख की प्राप्ति अपने सस्कारो के अनुकूल ही होगी। किसी निकट या दूर के सम्बन्धी द्वारा दान-धर्म करने से उसकी मानसिक स्थिति नही बदल सकती और न किसी का दुख, सुख-रूप मे परिवर्तित हो सकता है। इसीलिये सभी शास्त्रकारो ने प्रारब्ध की अटलता पर बहुत अधिक जोर दिया है और मुक्ति का निरूपण करते हुए स्पष्ट कह दिया है कि जब

जब तक मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्मों को भोग कर बिल्कुल समाप्त नहीं कर लेता तब तक मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।

भावना का महत्व—

इस ग्रन्थ में भावों के प्रभाव की मीमांसा भी स्पष्ट रूप से की गई है और पाप-पुण्य का बहुत कुछ आधार भावों की अच्छाई-बुराई पर ही सिद्ध किया गया है। इस समय जब धर्म का रूप विकृत होगया है दुर्भाग्यवश व्यक्ति धर्म कार्य के बाह्य रूप को ही अधिक महत्व देते हैं और उसी के आधार पर किसी मनुष्य को ज्यादा या कम धार्मिक समझते हैं। कहने को तो मुंह से लोग कह देते हैं कि 'ठाकुरजी भाव के भूखे हैं' पर सभी धार्मिक स्थानों में धनी और निर्धन के साथ जो भेद-भावपूर्ण व्यवहार किया जाता है उससे प्रकट हो जाता है कि हमारे कहने और करने में सामंजस्य नहीं है। एक व्यक्ति जो अनीति के मार्ग पर चल कर महीने में लाख रुपया कमाता है और उनमें से एक हजार रुपया धार्मिक कार्यों में दे डालता है वह उस गरीब की अपेक्षा धार्मिक माना जाता है जो कठिन परिश्रम करके पचास रुपया कमा पाता है जिसको उसी कमाई से स्त्री और दो-तीन बच्चों का भरण-पोषण करना पड़ता है और जो मन्दिर में किसी पण्डितजी की कथा में अधिक से अधिक एक आना चढ़ा सकता है। लोग सेठजी के अनैतिक कार्यों को जानते हुए भी उनको धर्मात्मा मान लेते हैं और एक आना चढ़ाने वाला गरीब किसी गिनती में समझा ही नहीं जाता। पर यदि आन्तरिक भावों की दृष्टि से परीक्षा की जाय तो उस गरीब के मन में परोपकार, धर्म भलाई की भावना श्रीमान व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पाई जाती है और समय आने पर वह धन-दान के रूप में नहीं तो किसी अन्य रूप में उसका परिचय भी देता है। इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर सूत्रकार ने कहा है—

भावयोग उपयोगोऽनुपयोगः ॥ १।२।१४ ॥

अर्थात्—"भावना के दोष से उपधा (उपाधि– अधर्म) होती है और भावना के अदूषित (शुद्ध) रहने से अनुपधा (अनुपाधि—धर्म) होती है।" इसमे वाह्य कर्मो की अपेक्षा भावना को ही प्रधानता दी है। धर्म तभी होगा जब पुण्य-कर्म को आन्तरिक भावना और श्रद्धा के साथ किया जायगा। भूखे को भोजन कराना अवश्य पुण्य कार्य है, पर उसका वास्तविक महत्व तभी है जब हम अतिथि सत्कार को अपना कर्तव्य और आगामी जीवन मे उद्धार का हेतु समझ कर निरभिमानिता और श्रद्धापूवक करें। यदि इसके विपरीत दान देते समय हम यह अहकार करें कि देखो हमारे द्वारा कितने लोगो की सहायता हो रही है और अपने इस भाव को किसी प्रकार दान लेने वालो पर प्रकट भी करदे तो उस दान को सर्वथा महत्वहीन ही समझना चाहिए। महाभारत की वह कथा प्रसिद्ध है जिसमे एक न्यौले का आधा शरीर चार रोटी का दान करने वाले के स्थान को स्पर्श करके सोने का हो गया था, पर जब उसने महाराज युधिष्ठिर के जगत प्रसिद्ध राजसूय यज्ञ के स्थान का स्पर्श करके शेष आधे शरीर को सोने का कर लेने की चेष्टा की तो उसे सफलता नही मिल सकी। इस कथा द्वारा लेखक ने यही शिक्षा दी है कि वास्तविक पुण्य सच्ची भावना का होता है। ससार को दिखाने और प्रशसा प्राप्त करने को चाहे जितना वडा धर्म-कार्य कर लिया जाय उसका परिणाम छोटा ही निकलता है।

वेदो की प्रामाणिकता—

समस्त भारतीय ज्ञान-मार्गो का आधार वेद स्वीकार किया गया है। यद्यपि अपनी सीमित बुद्धि के कारण अथवा किसी विशेप उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न विद्वानों ने वेद के पृथक्-पृथक् अर्थ किये हैं और उससे ज्ञान, कर्म और भक्ति मे से किसी एक की प्रधानता सिद्ध की है, पर यह सबने माना है कि वेद मनुष्य मात्र के लिये सत्य ज्ञान का भण्डार है और उसके उपदेश किसी विशेप सम्प्रदाय के अन्तर्गत नही

माने। वेदों से ही भारतीय धर्म के आचार और विचारों की धारा प्रवाहित हुई है। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि भारतीय धर्म का भवन वेदों के आधार पर ही खड़ा किया गया है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में प्रचलित छः दर्शनों में जितने ही विषयों में मतभेद और विवाद होने पर भी वेद की प्रामाणिकता निस्संकोच भाव से स्वीकार की गई है और प्रत्येक सम्प्रदाय या पन्थ ने अपने सिद्धान्तों को वेदानुकूल बतलाया है और वैसा ही सिद्ध करने की चेष्टा की है।

वैशेषिक ने सृष्टि की रचना का कारण 'परमाणु' को बतलाया है और शब्द को 'अनित्य' कहा है इसकी आलोचना करते हुए अन्य दर्शनकारों ने उसे वेद से प्रतिकूल कहा है। उनका कहना है कि जब शब्द को अनित्य माना जायगा तो वेदों को जो अनादि और अपौरुषेय कहा गया है उसका विरोध होता है। इसी प्रकार जब अधिकांश वैदिक धर्मानुयायी सृष्टि का रचयिता ईश्वर को मानते हैं तो परमाणुओं से सृष्टि की रचना बतलाना भी वेद विरुद्ध है। पर इस प्रकार के आक्षेप शास्त्रार्थ और खण्डन-मण्डन के ही सूचक हैं और हम उनको विशेष महत्व नहीं दे सकते। वैशेषिक दर्शनकार ने ग्रन्थ का आरम्भ करते ही तीसरे सूत्र में 'धर्म' के प्रतिपादन के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट शब्दों में वेद को प्रमाण-स्वरूप माना है—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥

अर्थात्—'धर्म' के स्वरूप का निर्णय करने के लिये वेदों के वचन ही प्रमाण-स्वरूप हैं। इसका आशय यही है कि सामान्य मनुष्यों का ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं होता। उन पर अपने संस्कारों वातावरण पूर्वजों का कुछ प्रभाव पड़ता ही है और वे उसी के अनुकूल ज्ञान की व्याख्या करते हैं। इसलिये कोई व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा विद्वान ज्ञानी और लोकमान्य हो अन्य विचारों के आलोचक उसके विचारों में त्रुटियाँ निकालेंगे ही। केवल वेद ही ऐसा ज्ञान है जो मतमतान्तर और

सम्प्रदाय-भेद से अलग है और जिसमे मनुष्यो को जीवन के स्वाभाविक और त्रिकालबाधित नियम बतलाये गये हैं। इसलिये जहाँ कही मतभेद उत्पन्न हो वहाँ उसका निर्णय वेद के आधार पर ही किया जाना चाहिये। वैशेषिक दर्शन के अन्त मे भी सूत्रकार ने इसी सूत्र को ज्यो का त्यो लिखा है। अर्थात् इस प्रकार उन्होंने यह प्रकट किया है कि हमने ग्रन्थ के आरम्भ मे जो यह प्रतिज्ञा की थी कि धर्म की वेदानुकूल व्याख्या करके समझायेंगे वह हमने पूरी करदी और इस ग्रन्थ मे जो कुछ बतलाया गया वह सब वेद के प्रमाण से और उनके सिद्धान्तानुकूल लिखा गया है। हम नही समझते कि जब ग्रन्थकार इस प्रकार मुक्तकण्ठ से वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं और उसी को अपना आधार बतलाते हैं तो उनको कोई अन्य किस प्रकार वेद के प्रतिकूल कह सकता है।

रह गई 'परमाणुवाद' और 'शब्दनित्यत्ववाद' की बात, जिनके आधार पर मीमासक और वेदान्तियो ने वैशेषिक पर नास्तिकता का आक्षेप किया है, वे तो अपनी बुद्धि की पहुँच और विवेचनशैली से सम्बन्धित हैं। वैशेषिक ने परमाणुओ से, साख्य ने प्रकृति से और वेदान्त ने ब्रह्म से जगत का उद्भव बतलाया है, पर इस सबका अधिष्ठाता अथवा प्रेरक प्रत्येक ने ईश्वर को ही माना है। एक कहता है कि ईश्वर अपनी माया अथवा लीला से जगत को प्रकट करता है और दूसरा कहता है कि ईश्वर प्रकृति अथवा परमाणुओ मे प्रेरणा द्वारा ऐसी क्रिया आरम्भ कर देता है जिससे सृष्टि निर्माण का कार्य आरम्भ हो जाता है। इस वर्णन शैली की भिन्नता का कारण यही हो सकता है कि एक भौतिकवादी दृष्टिकोण से विवेचन कर रहा है और दूसरा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से लोगो को समझाना चाहता है। पर ससार मे दोनो तरह के लोग हैं, इसलिए आवश्यकता और महत्व दोनो का ही है। जो पाठक जिस रुचि का होगा वह उसी प्रकार के तर्कों द्वारा सन्तुष्ट हो सकेगा। वास्तविक भेद तो तब माना जाता जबकि इस विवेचन के आधार पर

मनुष्यों को भिन्न प्रकार के आचार विचारों और धार्मिक कार्यों की प्रेरणा की जाती । पर वैशेषिक में जहाँ आचार विचार का जिक्र आया है वहाँ वैदिक-कर्म यज्ञ हवन उपासना दान ध्यान आदि का ही विधान बतलाया गया है । इतना ही नहीं अपने समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के उपरान्त दर्शनकार ने यही कहा है—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥ १०-२-८ ॥

अर्थात्— वेदादि में जिन कर्मों का उपदेश किया गया है और जिन पर इसी लोक में आचरण किया जाता है उनको सदैव करते रहना चाहिए चाहे किसी अवस्था में उनसे कोई लाभ भी प्रतीत न हो क्योंकि अन्त में वे ही सुख और मोक्ष देने वाले हैं ।

इस स्वीकारोक्ति के पश्चात् हमको वैशेषिक विरोधियों के आक्षेपों मे कोई सार नहीं जान पड़ता । सृष्टि विकास के क्रम और प्रलयावस्था से निर्माण कार्य आरम्भ होने के सम्बन्ध में उसका अन्य दर्शनों से मतभेद हो सकता है पर उसके कारण उस पर कोई दोषारोपण नहीं किया जा सकता । इस प्रकार वैशेषिक ने यही सिद्ध किया है कि भौतिक दृष्टि से भी धर्म का आचरण और वेद के आदेशों का पालन ही मनुष्य के लिए कल्याणकारी है । सब प्रकार के पदार्थों के निरूपण से यही निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि रचना में आत्मा ही एकमात्र चैतन्य और ज्ञान सम्पन्न पदार्थ है, इसलिए हम जो कुछ कर्म करें उसमें सदैव आत्मकल्याण और आत्मा के उत्थान का ध्यान रखना ही हमारा कर्तव्य है ।

आधुनिक विज्ञान से वैशेषिक की श्रेष्ठता—

इस विवेचन को करते हुए हमारा ध्यान वैज्ञानिक दृष्टि से वैशेषिक दर्शन की श्रेष्ठता पर जा पहुँचता है । एक विज्ञान ने इस दर्शन को

"सस्कृत मे पदार्थ—विज्ञान (साइंस) का प्रामाणिक ग्रन्थ" लिखा है। इसमे सन्देह नही कि वैशेषिक मे सृष्टि-विज्ञान का सक्षेप मे जितना यथार्थ वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। पश्चिमीय वैज्ञानिको ने विज्ञान का विस्तार बहुत अधिक किया है पर उनका विवेचन केवल प्राकृतिक पदार्थों तक ही सीमित है और उसमे भी अधिक ध्यान इस पर दिया गया है कि ससार मे जो असख्यो प्रकार के प्राकृतिक पदाथ दिखलाई पडते हैं उनके गुण तथा उपयोगिता क्या है ? इस प्रकार उन्होने प्र ृति एक से अनेक होने की प्रक्रिया पर ही विशेष रूप से विचार किया है।

पर इस सबका मूल स्वरूप क्या है और दृश्य जगत की उत्पत्ति के पहले उसमे किस प्रकार का रूपान्तर होकर सृष्टि का विकास होने लगता है, इस पर प्राचीन वैज्ञानिको ने तो बहुत ही कम ध्यान दिया था, और अब भी वे इस दिशा मे विशेष प्रगति नही कर सके हैं। इसका कारण यही है कि वे मुख्यत जड-प्रकृति की ही खोज करते है, उसी को अधिक महत्व देते हैं। पर ससार मे व्याप्त चैतन्यतत्व की, जिसे हम ईश्वर के नाम से पुकारते हैं, तरफ उनका ध्यान आकर्षित नही हो सका है। इसका कारण सम्भवत यही है कि वे आवश्यकता से अधिक प्रत्यक्षवादी हैं और प्राकृतिक स्थूल पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म तत्वो मे न उनकी रुचि होती है और न उनकी बुद्धि काम करती है। दूसरा कारण यह भी है कि अभी तक पाश्चात्य विज्ञान की परम्परा मुख्य रूप से नास्तिकवादी रही है, अब से सौ या अस्सी वर्ष पहले तो इस विचारधारा ने ससार मे एक बडी हलचल और क्रान्ति उत्पन्न करदी थी। इस पूर्वाग्रह के प्रभाव से भी वे चतन्य-तत्व की सत्ता को ठीक तरह समझने मे असमर्थ रहते हैं।

पर अब तक के अनुभव से हमको यही प्रतीत होता है कि शुद्ध भौतिकवाद जिसमे ईश्वर, जीवात्मा और मूल प्रकृति का विचार छोड दिया जाता है और केवल भौतिक पदार्थों के गुणो और उपयोग पर ही

दृष्टि रखी जाती है मनुष्य के मानसिक विकास के लिए हितकारी नहीं होता। उनमें लोगों में स्वार्थ की वृत्ति बढ़ती है और वे अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ अपने ही सदृश जीवात्मा के समान व्यवहार करना नहीं चाहते वरन् उनको अपने लाभ का साधन—अपना भक्ष्य मानकर व्यवहार करते हैं। योरोप अमरीका के पश्चिमी देशों के गत दो सौ वर्ष की वैज्ञानिक तथा राजनीतिक प्रगति पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है। इन्होंने अभी तक तो अफरीका एशिया की सीधे सादे ढङ्ग से रहने वाली निरीह जातियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया या मानों वे भी एक तरह व्यवसायोपयोगी पदार्थ या सामग्री हैं। अब विश्व जागरण के प्रभाव से और परिस्थितियों के बदल जाने के कारण उस व्यवहार में अन्तर पड़ गया है पर अब भी अविकसित जातियों के प्रति उनका पुराना मनोभाव अधिक नहीं बदला है।

इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन में भी यद्यपि प्रकृति के द्रव्यों तथा उनके गुण तथा कर्मों (उपयोग) का ही मुख्य रूप से विवेचन किया है पर उसका उद्देश्य यही बतलाया है कि इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्यों को अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो और वह मानव-धर्म को समझकर अन्य प्राणियों के प्रति दया सहानुभूति उदारता का बर्ताव करे। उसने प्रतिपादित किया है कि इस संसार में सबसे बड़ी समस्या दुःखों से छुटकारा पाने की है और इसलिये मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह इसमें अनासक्त रहकर उचित व्यवहार करना सीखे। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कथन है कि संसार में हमको जितने दुःख या सुख दिखलाई पड़ते हैं वे बाहरी वस्तुओं की प्रतिकूलता या अनुकूलता से ही अनुभव में आते हैं। जीवात्मा में तो स्वयं दुःख या सुख का स्वभाव है नहीं। क्योंकि यदि दुःख जीवात्मा का स्वभाव होता तो वह सर्वदा दुःखी ही रहता और फिर किसी प्रकार के उत्थान या मोक्ष आदि की चेष्टा करनी ही व्यर्थ थी। इसी प्रकार यदि उसका स्वभाव सुख का होता तो फिर उसे संसार में सुख प्राप्ति के लिये किसी प्रकार की चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं

थी। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा दुःख और सुख से परे है, और जब तक वह इस तत्त्व को समझ नहीं लेगा तबतक उसकी व्यस्तता, व्याकुलता का अन्त नहीं हो सकता। इसके लिये वैशेषिक दर्शन बतलाता है कि इस जगत मे कौन-से तत्व तो जीव के अनुकूल हैं अर्थात् उससे 'साधर्म्य' सम्बन्ध रखते हैं और कौन उसके प्रतिकूल हैं अर्थात् उससे 'वैधर्म्य' सम्बन्ध रखने वाले हैं। यदि मनुष्य इस 'विज्ञान' को समझ जाय तो वह सहज मे दुःखो से छुटकारा पाकर सच्ची शान्ति प्राप्त कर सकता है। ग्रन्थकार अन्त मे यही निष्कर्ष निकालता है कि धर्म ही जीवात्मा का सधर्मी तत्त्व है और द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य विशेष और समवाय छः प्राकृतिक अङ्गो के पदार्थों को स्वरूप को समझ लेने से उसे साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान हो जाता है और वह दुःखो से पूर्णतः छुटकारा पा सकता है।

× × ×

धर्म के निरूपण और उसका सम्यक् रूप से पालन करने में दर्शनशास्त्र का बडा महत्त्व है। जिन मजहबो मे धार्मिक नियमो और कर्तव्यो का उपदेश केवल आदेश के रूप में दिया गया है और उनके विरुद्ध चलने पर लोगो को ईश्वर और नर्क का भय दिखाया गया है, वे उच्चकोटि के धर्म नही माने जा सकते। उनके अनुयायी भेड़ बकरियो की तरह अपने आदि प्रचारक का अन्धानुसरण करते रहते हैं। वे कभी उन सिद्धान्तो की वास्तविकता अथवा सचाई को परखने की चेष्टा नहीं करते। इतना ही क्यो वे तो इस प्रकार की भावना को भी एक महा-पाप समझते हैं। इसके विपरीत जिन धर्मों की नींव दर्शनशास्त्र पर रखी जाती है उनमे लोगो को धार्मिक नियमो और सिद्धान्तो के साथ उनकी युक्तियुक्तता भी बतलाई जाती है और उन पर स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करने का अवसर भी दिया जाता है। इसके परिणाम स्वरूप एक ही धर्म के भीतर सम्प्रदायों का आविर्भाव हो जाना अस्वाभाविक नही है, क्योंकि

स्वाभाविक प्रवृत्ति देश काल की विशेषता और व्यक्तिगत योग्यता के कारण एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिए लोग विभिन्न मार्गों का अवलम्बन कर लेते हैं। कुछ लोग इसको धर्म की कमजोरी अथवा संगठनात्मक शक्ति का अभाव मानते हैं पर हमारा विचार है कि इस प्रकार का ज्ञान मूलक धर्म ही स्थायी और दृढ़ फलदायक हो सकता है। अन्धविश्वास के आधार पर संगठित लोग क्षणिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं पर वे आरम्भिक जोश के समाप्त होजाने पर किंकर्तव्य विमूढ़ होकर स्वयं नष्ट भी हो जाते हैं। इसके विपरीत दार्शनिक ज्ञान के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित धर्म समय के छोटे-बड़े प्रहारों के सहते हुए भी अपने स्थान पर स्थिर रहता है अपने लक्ष्य तक पहुँच ही जाता है। धर्म और दर्शन का यह सामञ्जस्य ही हिन्दू धर्म की बहुत बड़ी विशेषता है और इसी के बल से यह अनेक दुर्दिनों को पार करके आजतक जीता जागता है और अति प्राचीन अतीत से सम्बन्ध बनाये हुए है। इस दृष्टि से दार्शनिक ज्ञान का महत्व समझना और उसका अनुशीलन करना हमारा कर्तव्य है।

गायत्री तपोभूमि मथुरा] —श्रीराम शर्मा आचार्य

॥ ॐ ॥

वैशेषिक-दर्शन

प्रथमोऽध्यायः, प्रथम आह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—अथ=अब (आरम्भ के लिये माङ्गलिक शब्द), धर्मम्=धर्म को, व्याख्यास्याम=व्याख्या करते हैं।

व्याख्या—जब, मनुष्य को प्रमाण आदि का पदार्थ ज्ञान हो जाय, तब उसे धर्म के जानने की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य आश्रम मे विद्याध्ययन आदि करके जब गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है, तब सासारिक विषयो मे फँसकर धर्म की ओर से उदासीन हो जाता है। भोगो के कारण उसकी इन्द्रियाँ विकारग्रस्त हो जाती हैं और यदि वह उन विषय-भोगों से बचने का प्रयत्न नही करता तो उसका दिनोदिन पतन होता जाता है। यदि, उस समय सँभल जाय, तभी उत्थान होना सम्भव है, क्योकि, इन्द्रियो का विकारग्रस्त होना अविद्या के कारण होता है और अविद्या ही धर्म का उदय नही होने देती। या तो प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के शुभ कर्मों के फल रूप मे, धर्म का उदय होता है अथवा धर्म का उपदेश सुनने से मनुष्य मे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि वेद-शास्त्र आदि से प्रमाणित धर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। क्योकि, धर्म का ज्ञान हुए विना अर्थ, काम और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नही है। इसलिये धर्म का लक्षण बताते हैं। 'अथ' पद ग्रन्थ के आरम्भ होने का सूचक तो है ही, साथ ही इसे माङ्गलिक भी माना

जाता है। अतः 'अथ' पद से प्रारम्भ करना कल्याणकारी समझना चाहिये।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिस्स धर्म ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—यतः=जिससे अभ्युदय=यथार्थज्ञान अथवा सत्य ज्ञान और निःश्रेयससिद्धि=मोक्ष की सिद्धि हो सः=वही धर्म=धर्म कहा जाता है।

व्याख्या—जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके उसे धर्म कहते हैं। 'यह गाय है' क्यों है यह गाय? इसलिये कि इसमें गऊपन है। यह गऊपन ही गाय का धर्म है। अब कहते हैं कि गऊपन की पहिचान क्या है? गाय चार पाँव वाली होती है। चार पाँव तो अन्य पशुओं के भी होते हैं। तो कहा कि उसकी पूँछ के अन्त में बाल होते हैं। बैल के भी ऐसी ही पूँछ होती है। तो कहा कि गाय के दो सींग होते हैं। सींग दूसरे पशुओं के भी होते हैं। तो गाय के कंठ में नीचे की ओर कूबर लटका रहता है। ऐसा ही कूबर बैल के लटका रहता है। तो कहा कि गाय के थन होते हैं बैल के नहीं होते। इस प्रकार चार पाँव का पशु, पूँछ के अन्त में बाल, दो सींग, कंठ के नीचे लटकता हुआ कूबर और थन यह गायपन हुआ। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। अब अभ्युदय अर्थात् कल्याण के सम्बन्ध में कहते हैं। धर्म से लोक-कल्याण भी सिद्ध होता है। जहाँ धर्म न होगा वहाँ पाप-कर्म होते रहने से आध्यात्मिक कार्यों की ओर भी मन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और लोकाचार अर्थात् अतिथि सेवा, सदाचार, अहिंसा आदि आदि कर्मों का पालन भी नहीं सकता और पाप कर्मों से तो वैसे भी दुःख ही दुःख मिलता है। पापियों के घर का वातावरण भी दूषित रहता है और वहाँ हर प्रकार के दुष्कर्मों का साम्राज्य रहने से धर्म-कार्य का तो एकदम अभाव रहता है। इसीलिये सूत्रकार ने धर्म को अभ्युदय कराने वाला अर्थात् परम सौभाग्य देने वाला और निःश्रेयस सिद्धि अर्थात् दुःखों से परम निवृत्ति कराने वाला कहा है।

इससे सिद्ध होता है कि जिससे तत्व ज्ञान की प्राप्ति होकर दुःखो की अत्यन्त निवृत्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो सके, वही धर्म है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

सूत्रार्थ—तत्=उस धर्म का, वचनात्=कहने वाला होने से, आम्नायस्य=अन्य का (वेद का), प्रामाण्यम्=प्रमाण मानने योग्य है।

व्याख्या—जिस वस्तु का जिसे यथार्थ ज्ञान है, वह उसका ज्ञाता कहा जाता है और जो, जिस विषय का ज्ञाता है, वह उस विषय की वास्तविकता का वर्णन करे, तो उसका वह वर्णन प्रमाण समझा जायगा। इसलिये वेद को सभी विषयो मे प्रमाणिक माना जाता है। क्योंकि, वेद मे धर्म का वास्तविक रूप बताया गया है और उसमे जो कुछ उपदेश दिया गया है, उसका पालन करने पर वैसा ही फल होते देखा जाता है। जिन-जिन अनुष्ठानो को वेद मे सासारिक भोगो की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ बताया है, उन-उन अनुष्ठानो का वैसा-वैसा फल ही होते देखा गया है। इससे यह माना जायगा कि जो अनुष्ठान पारलौकिक सिद्धि के लिये कहे है, उनसे पारलौकिक सिद्धि होगी ही। क्योकि, वेदो का रचयिता ईश्वर है और त्रिकालज्ञ महर्षियो ने, उनको प्रकाशित किया है, इसलिये उनकी प्रामाणिकता मे कोई सदेह नही हो सकता। इसीलिये सूत्रकार ने धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, वेद से शिक्षा लेने का उपदेश देते हुए वेद को ही प्रमाण माना है। इससे सिद्ध होता है कि वेद के सिवाय अन्य कोई प्रमाण, धर्म के निरूपण मे मान्य नही हो सकता।

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्म सामान्यविशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥४॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानाम् = द्रव्य,

गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय पदार्थानाम्=पदार्थों के साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्=अपने धर्म और विपरीत धर्म के द्वारा धर्मविशेषप्रसूतात्=धर्म विशेष से उत्पन्न तत्त्वज्ञानात्=यथार्थ ज्ञान से निःश्रेयसम्=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—पदार्थ छः हैं—द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय। इन पदार्थों के रूपों को वास्तविक रूप से जान लेने पर यह पहिचान हो जाती है कि 'यह पदार्थ इस प्रकार का है' 'अमुक कार्य में उपयोगी है'—इसे यथार्थ ज्ञान कहते हैं और 'यह पदार्थ इस प्रकार का नहीं है अथवा 'यह अमुक कार्य में उपयोगी नहीं है' यह पदार्थ के विपरीत होने का ज्ञान है। अथवा किसी पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ज्ञान होना ही यथार्थ ज्ञान और उसकी वास्तविकता से विपरीत होने से विपरीत ज्ञान जैसे गाय को बैल समझना अथवा रस्सी को सर्प समझ लेना—यह विपरीत ज्ञान है। जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब विपरीत ज्ञान रूप भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। क्योंकि यह समझ लेने पर कि मुझे जो रस्सी में सर्प का ज्ञान हुआ था वह मिथ्या भ्रम था यथार्थ में यह रस्सी ही है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान ही तत्त्व ज्ञान है इसके होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा
मन इति द्रव्याणि ।।५।।

सूत्रार्थ—पृथिवी=पृथिवी आप=जल तेज=अग्नि वायु=वायु, आकाशम्=आकाश काल=काल दिक्=दिशा आत्मा=आत्मा और मन=मन इतिद्रव्याणि=यह नौ द्रव्य कहे जाते हैं।

व्याख्या—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन यह परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशीय द्रव्य हैं और आकाश, काल, दिशा, आत्मा यह चारो द्रव्य व्यापक कहे गये हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शास्संख्याः परिमाणानिपृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥६॥

सूत्रार्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, च=और (गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, सस्कार, धर्म, अधर्म, शब्द) यह चौबीस गुण हैं।

व्याख्या—यह चौबीसो गुण नौ द्रव्यो मे रहते है, यह सब पदार्थ के धर्म कहे जाते हैं अर्थात् यह गुण वैज्ञानिक खोजो और आविष्कारो मे काम आते हैं।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥७॥

सूत्रार्थ—उत्प्रेक्षणम्=ऊपर जाना (उछलना), अवक्षेपणम्=नीचे गिरना, आकु चनम्=सिकुडना, प्रसारणम्=फैलना, गमनम्=चलना, इति=यह, कर्माणि=कर्म हैं।

व्याख्या—पदार्थों के पाँच कर्म कहे गये हैं, प्रत्येक पदार्थ को अनुभव करने वाली एक-एक इन्द्रिय और मानी गयी है, जैसे ऊपर जाना अग्नि का कर्म है, नेत्र उसके कर्म को देखता है, नीचे गिरना पानी का कर्म है, रसना अर्थात् जीभ उसके गुण का अनुभव करती है, सिकुडना पृथिवी का कर्म है, नासिका उसका अनुभव करने वाली है, फैलना आकाश का कर्म हैं—कान उसका अनुभव करते हैं और चलना वायु का कर्म है, उसका अनुभव त्वचा से होता है।

सदनित्य द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्य गुण कर्मणामविशेष ॥८॥

सूत्रार्थ—सत्=अस्तित्व वाला अनित्य=नाशवान् द्रव्य वत्=द्रव्य के समान कार्यम्=उत्पन्न पदार्थ कारणम्=उत्पन्न करने वाला सामान्यविशेषवत्=सामान्य और विशेष वाला इति =यह द्रव्य गुण कर्मणाम्=द्रव्य गुण और कर्म का अविशेष =विशेषता रहित (सामान्य) धर्म है।

व्याख्या—द्रव्य गुण और कर्म सामान्य अस्तित्व वाले पदार्थ है इनमें कोई विशेषता नहीं पायी जाती है। द्रव्य के दो भेद है—एक कारण द्रव्य और दूसरा कार्य द्रव्य। कारण द्रव्य वह है जिससे कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है और कार्य द्रव्य उत्पन्न होने वाले द्रव्य को कहते हैं। जैसे—मिट्टी से घड़ा बनता है। इसमें मिट्टी कारण द्रव्य है क्योंकि वह घड़े को उत्पन्न करने वाली है। जो कारण द्रव्य है, वे नष्ट नहीं होते इसलिये उन्हें नित्य कहा गया है। जो कार्य द्रव्य है वे नष्ट हो जाने वाले होने से अनित्य है। मिट्टी नित्य है क्योंकि वह टूटती फूटती या नष्ट होती दिखायी नहीं देती। उसका कार्य घड़ा टूट जाता है इसलिये वह अनित्य है और टूटने पर मिट्टी रूप होकर मिट्टी में ही मिल जाता है, इससे भी मिट्टी का नित्य होना सिद्ध होता है। इसी प्रकार कारण गुण और कारण-कर्म नित्य तथा कार्य गुण और कार्य कर्म अनित्य है। कारण गुण स्वाभाविक गुण को कहते है जैसे अग्नि का स्वाभाविक गुण प्रकाश है जहाँ अग्नि होगी वहाँ उसके साथ प्रकाश अवश्य होगा। अग्नि की एक चिनगारी में भी प्रकाश की चमक होगी। तो अग्नि के साथ प्रकाश नित्य है और कार्य गुण नैमित्तिक होता है जैसे स्वर्ण का गुण द्रवित होना है, परन्तु उसकी द्रवता अर्थात् पिघलना हमेशा नहीं रहता वह अग्नि पर सुहागे आदि के संयोग से पिघलता है। इसी प्रकार, अग्नि के संयोग से लोहा गर्म हो जाता है परन्तु गर्मी उसका स्वाभा-

विक गुण नही है । क्योकि, ठण्डे स्थान मे डाल देने से लोहा थोडी देर मे ही ठण्डा हो जाता है । इससे सिद्ध हुआ कि कार्य-गुण अनित्य है । कारण, कर्म चेतन के द्वारा सम्पन्न होने से नित्य हैं और क्रिया चेतन के आश्रय होने से अनित्य समझनी चाहिये ।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणयो =द्रव्य और गुण का, सजातीयारम्भकत्वम्=अपने सजातीय पदार्थ को उत्पन्न करना, साधर्म्यम्=समान धर्म है ।

व्याख्या—द्रव्य और गुण अपने ही रूप, रङ्ग, धर्म वाले पदार्थों को उत्पन्न करते हैं । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की जाति के पदार्थ को पैदा नहीं कर सकते । अर्थात् यो समझिये कि द्रव्य से गुण की उत्पत्ति नही होती । द्रव्य से द्रव्य ही उत्पन्न होगा और गुण से गुण उत्पन्न होगा । इसी को सजातीय आरम्भक कहते हैं । जैसे—स्वर्ण से जो आभूषण बनेगा उसका रूप स्वर्ण जैसा ही होगा । मिट्टी से बना हुआ घडा मिट्टी ही रहेगा ।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्चगुणान्तरम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—द्रव्याणि=द्रव्य से, द्रव्यान्तरम्=द्रव्य की विभिन्नता, च=और, गुण =रूप आदि गुण से, गुणान्तरम्=गुणो की विभिन्नता का, आरभन्ते=आरम्भ होता है ।

व्याख्या—जैसे, कारण-द्रव्य से कार्य-द्रव्य बनता है या यो कहिये कि द्रव्य के परमाणुओ के मिलने से उसका कार्य घडा या वस्त्र बनता है, वैसे ही रूप आदि गुणो से अपने समान रूप की उत्पत्ति होती है । जैसे अग्नि का गुण प्रकाश है, पर जब तक चिनगारी रही, तब तक प्रकाश दिखाई नहीं दिया । धीरे-धीरे चिनगारी ने अग्नि का रूप लिया तो उसके रूपा-

म्यार में प्रकाश दिखाई देने लगा। गुण की छिपी हुई सत्ता ही प्रकट होती है, जैसे—हल्दी और चूना मिलने पर लाल रंग उत्पन्न होता है, इस प्रकार गुणों के संयोग से गुणों की विभिन्नता भी प्रत्यक्ष है।

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥११॥

सूत्रार्थ—कर्म=कर्म कर्मसाध्यम्=कर्म को उत्पन्न करने वाला न=नहीं विद्यते=होता है।

व्याख्या—कर्म के द्वारा कर्म की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि कर्म सदा रहने वाला अर्थात् नित्य नहीं है और जो वस्तु नित्य नहीं वह किसी को उत्पन्न करने वाली भी नहीं हो सकती। यदि कर्म से कर्म का उत्पन्न होना मान भी लें तो पहिले कर्म से दूसरा कर्म उत्पन्न होगा, इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् कर्म से ही उत्पन्न हुआ मान लिया जायगा।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च बाधति ॥१२॥

सूत्रार्थ—च=और, कार्यम्=कार्य-द्रव्य कारणम्=अपने कारण-द्रव्य को बाधति=नष्ट करने वाला न=नहीं है।

व्याख्या—कोई भी कार्य-द्रव्य अपने कारण-द्रव्य का नाश नहीं कर सकता इसी प्रकार कारण-द्रव्य भी अपने कार्य-द्रव्य को नष्ट करने में समर्थ नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि कार्य या कारण-द्रव्य आपस में एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। क्योंकि कार्य बनने पर भी कारण-द्रव्य का अस्तित्व बना रहता है। जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है उस पर रंग-रोगन होने पर भी मिट्टी का अस्तित्व रहता ही है। स्वर्ण के आभूषणों में सोने की सत्ता रहती ही है। इस प्रकार कारण-द्रव्य की सत्ता बनी रहती है, परन्तु, कर्म के द्वारा कार्य का विनाश हो सकता है। गहने को तोड़ना या आभूषण को गलाकर फिर सोना बना लेना कर्म ही है। इससे कार्य का नाश होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

उभयथा गुणाः ॥१३॥

सूत्रार्थ—उभयथा=दोनो प्रकार के, गुण =गुणो मे समानता है।

व्याख्या—कारण गुण और कार्य गुण दोनो समान धर्म वाले है। क्योकि, कारण से कार्य उत्पन्न होता है, इसलिये जैसा कारण होगा वैसा कार्य होगा। करेले के वीज से करेला ही उत्पन्न होगा, आम नहीं हो सकता। सोने के आभूषण सोने के रूप रग के ही होंगे, वे सुनहली होंगे, चाँदी के आभूषण रूपहली होंगे, वे सुनहले नही हो सकते। क्योकि, आभूषणो मे उसकी कारणरूपा धातु की विद्यमानता ज्यो की त्यो बनी रहती है। इसी प्रकार घडे मे मिट्टी का रूप और वस्त्र में धागो का विद्यमान रहना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कुछ व्याख्याकार इस सूत्र का अर्थ गुण से द्रव्य और गुण दोनो का नाश होना वताते है। क्योकि, द्रव्यो से गुणों के नियम मे भिन्नता है।

कार्य विरोधि कर्म ॥१४॥

सूत्रार्थ—कर्म=कर्म, कार्य-विरोधि=कार्य का विरोधी है।

व्याख्या—कर्म अपने कार्य से ही नष्ट हो जाता है। जैसे आभूषण वनाने वाला स्वर्णकार आभूषण वनाता है और जव उसका आभूषण वन जाता है, तब वह अपने कर्म को रोक देता है। इसी प्रकार, कुम्भकार का कर्म भी तभी तक चलता है, जब तक कि घडा वन नहीं जाता। घडा वनते ही कर्म समाप्त हो जाता है। इसी से सिद्ध होता है कि कार्य ही कर्म का विरोधी है। अर्थात् कार्य के उत्पन्न होते ही कर्म का नाश हो जाता है। सयोग-वियोग रूप कार्य करने वाला कर्म अपने कार्य से ही नाश को प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता, वल्कि, गुण ही कार्य और कारण को नष्ट कर देता है। जैसे, आभूषण वनने पर कर्म तो समाप्त हो ही गया, आभूषण के

रूप में कारण का यथार्थ रूप छुप गया और जो कार्य रूप आभूषण बना उसमें भी कारण के गुण अर्थात् सुनहलीपन का ही प्रमुख रहा। इससे सिद्ध हुआ कि गुण ही सर्वोपरि है तथा कर्म का विरोधी कार्य है।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—क्रियागुणवत्—क्रिया और गुण के समान समवायिकारणम्—समवायि कारण होता है इति—यह द्रव्यलक्षणम्—द्रव्य का लक्षण है।

व्याख्या—द्रव्य उसे कहते हैं जो क्रिया को ग्रहण कर सकता हो जो क्रिया के द्वारा अपने रूप को बदल सके अथवा अन्य वस्तुओं को उत्पन्न कर सके। जिसका कार्य के साथ सम्बन्ध बना रहे अर्थात् कार्य रूप में बदल कर भी अपना अस्तित्व न छोड़े वही समवायि कारण कहा जाता है।

द्रव्याश्रय्यगुणवान्संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—द्रव्याश्रयि—द्रव्य के सहारे रहने वाला अगुणवान्—गुण से रहित संयोग-विभागेषु—संयोग वियोग के अकारणम्—बिना कारण अनपेक्ष—अपेक्षा-रहित हो इति—यह गुण लक्षणम्=गुण के लक्षण हैं।

व्याख्या—गुण उसे कहते हैं जो द्रव्य के आश्रय में रहता हो परन्तु, आश्रित होता हुआ भी द्रव्य और कर्म से अलग रहे। इसमें किसी अन्य गुण की अपेक्षा नहीं और यह वस्तुओं के संयोग तथा विभाग का भी कारण नहीं है। द्रव्य का आश्रित कहने मात्र से गुण का बोध नहीं हो सकता था क्योंकि द्रव्य के आश्रय में ही कर्म रहता है। इसीलिये सूत्रकार ने उसके वर्णन को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो किसी वस्तु के संयोग और विभाग का कारण न हो क्योंकि ऐसा लक्षण कर्म

का है, उसी के द्वारा वस्तुये मिलती और अलग-अलग होती हैं। फिर कहा है कि जो अपेक्षा रहित हो अर्थात् जिसे क्रिया और विभाग की अपेक्षा भी न हो, क्योकि, वह सदा द्रव्य का आश्रित रहता है। इसलिये, उसे अपेक्षा रहित कहा। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्याश्रित, सयोग-विभाग मे अकारण, अपेक्षा-रहित यह लक्षण गुण के हैं।

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—एकद्रव्यम्=एक द्रव्य के आश्रित, अगुणम्=निर्गुण, सयोग विभागेपु=सयोग तथा विभाग के समय, अनपेक्ष=किसी पदार्थ की अपेक्षा न करने वाला, कारणम्=कारण, इति=यह, कर्म लक्षणम्=कर्म का लक्षण है।

व्याख्या—एक द्रव्य के सहारे रहने वाला, गुण-रहित, सयोग और विभाग मे किसी और के सहयोग की आशा किये विना, स्वय ही कारण हो, वह कर्म है। अर्थात् सोने से आभूषण बना देना या आभूषण को गलाकर फिर सोना वना देना यह कार्य कर्म का ही है, वह केवल उसी एक द्रव्य के सहारे रहता है, जिसका रूप वदला जाना है, इसलिये 'एक द्रव्यम्' और 'अनपेक्ष' पदो का इस सूत्र मे प्रयोग किया गया है।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मणाम्=द्रव्य, गुण और कर्म का, द्रव्यकारणम्=एक द्रव्य ही कारण है, सामान्यम्=साधारण तौर पर यही वात मानी जाती है।

व्याख्या—जैसे एक पिता के कई पुत्र होते हैं, वैसे ही एक उपादान कारण रूप द्रव्य मे, द्रव्य, गुण और कर्म तीनो ही रहते हैं। जिस प्रकार स्वर्ण से आभूषण वनता है, तो आभूपण मे स्वर्ण रूप द्रव्य तो है

ही उसका गुण अर्थात् कर्म भी है और स्वर्ण है तो उसको आभूषण बनाने वाला कर्म भी हो सकता है, यदि स्वर्ण नहीं होगा तो आभूषण बनाने का कर्म भी नहीं हो सकेगा। इससे सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य में ही द्रव्य गुण कर्म तीनों ही रहते हैं।

तथा गुणा ॥१९॥

सूत्रार्थ—तथा=वैसे ही गुण=गुण भी कारण है।

व्याख्या वैसे द्रव्य उपादान कारण कहा है वैसे ही गुण भी कारण है। द्रव्य समवायि कारण है और गुण असमवायि कारण है। क्योंकि द्रव्य में रूप आदि होना तथा ऊपर उठना गिरना आदि कर्म गुण से ही होते हैं। जैसे दो द्रव्यों के संयोग से एक वस्तु बने तो उस संयोग में जो गुण है, वही उसका कारण है।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—संयोगविभागवेगानाम्=संयोग विभाग और वेग का कर्म=कर्म का कारण होना समानम्=साधारण धर्म है।

व्याख्या—संयोग विभाग और वेग इन तीनों का कारण कर्म है। दो वस्तुओं को मिलाना और उनको अलग-अलग कर देना यह कार्य कर्म का ही है और वेग जब कमान से तीर चलने में वेग उत्पन्न होता है तो वह कार्य भी कर्म का ही है। इस प्रकार संयोग विभाग और वेग इन तीनों का उत्पन्न करने वाला कर्म को मानना ठीक ही है।

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥

सूत्रार्थ—द्रव्याणाम्=द्रव्यों का कारण कर्म=कर्म न=नहीं है।

व्याख्या—द्रव्य की उत्पत्ति कर्म से नहीं हो सकती द्रव्य द्रव्य से ही उत्पन्न होता है या गुण से उत्पन्न होता है।

व्यतिरेकात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—व्यतिरेकात्=व्यतिरेक होने से भी कर्म द्रव्य का कारण नही हो सकता।

व्याख्या—जिस समय द्रव्य उत्पन्न होता है उस समय कर्म का अभाव होता है अर्थात् द्रव्य कर्म के विना ही उत्पन्न होता है। द्रव्य की उत्पत्ति प्रकृति का कार्य होने से उसे अपनी उत्पत्ति मे किसी अन्य की अपेक्षा नही है। दूसरे, कर्म तो द्रव्य का उत्पन्न होने वाला कभी हो ही नहीं सकता, क्योकि वस्तुओ मे सयोग करके कर्म स्वय नष्ट हो जाता है। जैसे किसी तीर वनाने वाले का कार्य तीर वनाना है, जव तीर वन जाता है, तव वह तीर वनाने के कार्य को नही करता। इस प्रकार तीर रूप कार्य के उत्पन्न होने पर वनाने वाले का कर्म नही रहता। इसलिये कर्म नाशवान् है। तथा द्रव्य मे ही कर्म होता है, इसलिये वह उसका उत्पादक नही, आश्रित है। यदि कर्म को द्रव्य का कारण माने तो कर्म का द्रव्य की उत्पत्ति से पहिले उपस्थित रहना आवश्यक है। परन्तु, कर्म द्रव्य से पहिले नही होता, इसलिये भी उसे द्रव्य का कारण नही मान सकते।

द्रव्याणा द्रव्य कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—द्रव्याणाम्=द्रव्यो का, द्रव्यकार्यं सामान्यम्=कार्य रूप द्रव्य को उत्पन्न करना सामान्य धर्म है।

व्याख्या—जैसे एक द्रव्य से द्रव्य, गुण और कर्म की उत्पत्ति कही गयी है, वैसे ही वहुत-से द्रव्यो से भी कार्य द्रव्य की उत्पत्ति माननी चाहिये। वहुत से धागे मिलकर वस्त्र वनता है, तो इसमे धागा भी द्रव्य है और वस्त्र भी द्रव्य है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य से द्रव्य की उत्पत्ति होती है।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥२४॥

सूत्रार्थ—गुणवैधर्म्यात्=गुणो से प्रतिकूल धर्म वाला होने

से कर्मणाम्=कर्म का कर्म=कार्य होना न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—कर्म का रूप गुणों से एकदम विपरीत है अर्थात् द्रव्य और गुण दोनों ही कार्य रूप द्रव्य और गुण को उत्पन्न करते हैं। परन्तु, कर्म इनसे विपरीत धर्म वाला है इसलिये कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि कर्ता से कर्म की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, इसलिये भी कर्म से कर्म की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

द्वित्वप्रभृतय सख्या पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥२५॥

सूत्रार्थ—द्वित्वप्रभृतय=दो प्रभृति सख्या=सख्या च=और पृथकत्व संयोग विभाग=अलग होना संयोग और विभाग होना यह अनेक द्रव्यों के कारण रूप हैं।

व्याख्या—दो या उससे अधिक का अलग-अलग होना मिलना आदि गुण अनेक द्रव्यों के संयोग से होते हैं, एक द्रव्य होने पर इन गुणों का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह गुण स्वाभाविक नहीं है। एक से अधिक संख्या वाली वस्तु होने पर ही एक से अधिक संख्या का प्रभाव होता है। एक वस्तु में दो संख्या का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

असमवायात्सामान्यकार्य कर्म न विद्यते ॥२६॥

सूत्रार्थ—असमवायात्=समवाय कारण न होने से सामान्यकार्यम्=बहुत से द्रव्यों का सामान्य कार्य होना कर्म=कर्म न=नहीं विद्यते=होता।

व्याख्या—सब कार्य समवाय अर्थात् बहुत से द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं परन्तु कर्म असमवाय अर्थात् एक द्रव्य में [illegible] होने वाला है इसलिए कर्म अनेक द्रव्यों का सामान्य कार्य न[illegible] यह है कि कर्म कर्म से उत्पन्न नहीं होता [illegible] में हो जाता है। हमारे शरीर में जो कर्म है [illegible] जिससे ही समाप्त हो जाता है और शरीर निश्चेष्ट

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

सूत्रार्थ—सयोगानाम्=सयोगो का, द्रव्यम्=द्रव्य कार्य है।

व्याख्या—अवयव वाला प्रत्येक पदार्थ स योग से ही उत्पन्न होता है जब वहुत से अवयव आपस मे मिल जाते हैं, तभी कार्य रूप द्रव्य उत्पन्न होता है। इससे, यही माना जाता है कि स योग के बिना, अवयव वाला कोई पदार्थ उत्पन्न नही होता। परन्तु, स्पर्श गुण-रहित और परमाणु रहित द्रव्य के स योग से किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति नही होती।

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—रूपाणाम्=रूपो का, रूपम्=रूप होना साधर्म्य है।

व्याख्या—रूप से रूप की उत्पत्ति होती है। जैसे धागो से वना हुआ वस्त्र धागो के ही रूप का होता है या स्वर्ण से वने हुये आभूषण स्वर्ण के रूप वाले ही होते है। मिट्टी के अवयवो से मिलकर घडा वनता है, जो रूप मिट्टी के अवयवो का होता है, वही रूप घडे का होता है। इससे सिद्ध हुआ कि रूप-रहित अर्थात् अप्रकट पदार्थ से किसी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नही है।

गुरुत्व प्रयत्न संयोगानामुत्प्रेक्षणम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—गुरुत्व=भार, प्रयत्न सयोगानाम्=प्रयत्न और सयोग इनका, उत्प्रेक्षणम्=ऊपर जाना आदि कर्म समान है।

व्याख्या—किसी वस्तु मे वोझ होना, उस वस्तु के ऊपर उछालने का प्रयत्न और उस वस्तु के साथ हाथ का सयोग, यह सव समान कर्म है। परन्तु, इन कर्मो की आवश्यकता गुरुत्व के विना नही पड सकती। क्योंकि, वोझ के कारण उसे उठाने का प्रयत्न करना होता है और तभी हाथ का स योग होता है। यदि वोझ न हो तो उस वस्तु को किमी सहारे की आवश्यकता नहीं हो सकती थी।

से कर्मणाम्=कर्म का कर्म=कार्य होना न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—कर्म का रूप गुणों से एकदम विपरीत है अर्थात् द्रव्य और गुण दोनों ही कार्य रूप द्रव्य और गुण को उत्पन्न करते हैं। परन्तु, कर्म इनसे विपरीत धर्म वाला है इसलिये कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि कर्ता से कर्म की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, इसलिये भी कर्म से कर्म की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

द्वित्वप्रभृतय संख्या पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥२५॥

सूत्रार्थ—द्वित्वप्रभृतय=दो प्रभृति सख्या=संख्या च=और, पृथकत्व संयोग विभाग=अलग होना संयोग और विभाजन होना यह अनेक द्रव्यों के कारण रूप हैं।

व्याख्या—दो या उससे अधिक का अलग-अलग होना मिलना आदि गुण अनेक द्रव्यों के संयोग से होते हैं, एक द्रव्य होने पर इन गुणों का होना संभव नहीं है। क्योंकि यह गुण स्वाभाविक नहीं है। एक से अधिक संख्या वाली वस्तु होने पर ही एक स अधिक संख्या का प्रयोग होता है। एक वस्तु मे दो संख्या का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

असमवायात्सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥२६॥

सूत्रार्थ—असमवायात्=समवाय कारण न होने से सामान्यकार्यम्=बहुत से द्रव्यों का सामान्य कार्य होना कर्म=कर्म न=नहीं विद्यत=होता।

व्याख्या—सब कार्य समवाय अर्थात् बहुत से द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं परन्तु कर्म असमवाय अर्थात् एक द्रव्य से उत्पन्न होने वाला है इसलिये कर्म अनेक द्रव्यों का सामान्य कार्य नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि कर्म संयोग से उत्पन्न नहीं होता बल्कि वह चेतन के प्रयत्न से होता है। हमारे शरीर में जो कर्म है वह आत्मा के शरीर से निकलते ही समाप्त हो जाता है और शरीर निश्चेष्ट पड़ा रहता है।

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

सूत्रार्थ—सयोगानाम्=सयोगो का, द्रव्यम्=द्रव्य कार्य है ।

व्याख्या—अवयव वाला प्रत्येक पदार्थ स योग से ही उत्पन्न होता है जव वहुत से अवयव आपस मे मिल जाते हैं, तभी कार्य रूप द्रव्य उत्पन्न होता है । इससे, यही माना जाता है कि स योग के विना, अवयव वाला कोई पदार्थ उत्पन्न नही होता । परन्तु, स्पर्श गुण-रहित और परमाणु रहित द्रव्य के स योग से किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति नही होती ।

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—रूपाणाम्=रूपो का, रूपम्=रूप होना साधर्म्य है ।

व्याख्या—रूप से रूप की उत्पत्ति होती है । जैसे धागो से वना हुआ वस्त्र धागो के ही रूप का होता है या स्वर्ण से वने हुये आभूपण स्वर्ण के रूप वाले ही होते हैं । मिट्टी के अवयवो से मिलकर घडा वनता है, जो रूप मिट्टी के अवयवो का होता है, वही रूप घडे का होता है । इससे सिद्ध हुआ कि रूप-रहित अर्थात् अप्रकट पदार्थ से किसी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नही है ।

गुरुत्व प्रयत्न संयोगानामुत्प्रेक्षणम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—गुरुत्व=भार, प्रयत्न सयोगानाम्=प्रयत्न और सयोग इनका, उत्प्रेक्षणम्=ऊपर जाना आदि कर्म समान है ।

व्याख्या—किसी वस्तु मे वोझ होना, उस वस्तु के ऊपर उछालने का प्रयत्न और उस वस्तु के साथ हाथ का सयोग, यह सव समान कर्म है । परन्तु, इन कर्मों की आवश्यकता गुरुत्व के विना नही घट सकती । क्योंकि, वोझ के कारण उसे उठाने का प्रयत्न करना होता है और तभी हाथ का स योग होता है । यदि वोझ न हो तो उस वस्तु के किसी सहारे की आवश्यकता नही हो सकती थी ।

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥३०॥

सूत्रार्थ—कर्मणाम्=कर्मों का संयोग=संयोग च=और, विभाग=विभाग होना समान है।

व्याख्या—संयोग और विभाग यह दोनों कार्य कर्म से ही होते हैं, इसलिये इन्हें समान कहा गया है। क्योंकि कर्म के बिना न तो कोई वस्तु मिलाई जा सकती है और न कोई वस्तु अलग-अलग की जा सकती है। इसलिये इन दोनों का कारण कर्म को ही मानना चाहिये। जैसे चने की दाल बनानी है तो उसे दलने के लिये दरैता चलाना होगा। बिना दले हुये दाल नहीं बन सकती।

कारणसामान्ये द्रव्य कर्माणां कर्माकारणमुक्तम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—कारण सामान्ये=कारण की समानता से द्रव्य कर्मणाम्=द्रव्य तथा कर्म का कर्माकारणम्=कर्म को उत्पन्न न करने वाला उक्तम्=कहा गया है।

व्याख्या—जहाँ कारण का सामान्य प्रसङ्ग उपस्थित हो वहाँ द्रव्य और कर्म को नहीं कह सकते क्योंकि कर्म से न तो द्रव्य उत्पन्न होता है और न कर्म ही उत्पन्न होता है। इसीलिये कर्म को द्रव्य और कर्म का उत्पन्न करने वाला नहीं कहा गया। परन्तु, द्रव्य कर्म को छोड़ कर गुणों का उत्पन्न करने वाला कर्म हो सकता है जैसे कि स्वर्ण को तपा-तपा कर उसके रङ्ग में अधिक निखार कर्म के द्वारा ही होता है, या घड़े का रूप वर्ण के द्वारा ही प्रकट होता है। इससे सिद्ध हुआ कि जैसा कारण होगा उससे वैसा ही कार्य उत्पन्न होगा इसलिये कर्म से द्रव्य अथवा कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

॥ प्रथमोऽध्याय—प्रथम आह्निक समाप्तः ॥

प्रथमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

कारणाऽभावात्कार्याऽभावः ॥१॥

सूत्रार्थ—कारण-अभावत्=कारण के न होने से, कार्य-अभाव.=कार्य भी नही होता।

व्याख्या—जब उत्पन्न करने वाला ही नही, तो उत्पत्ति रूप कार्य कहाँ से होगा ? जब बीज होगा तभी अकुर होगा अथवा मिट्टी होगी तो घडा बनेगा। इस प्रकार कारण होगा, तभी कार्य हो सकेगा, बिना कारण के कार्य कभी नही हो सकता। यदि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति मानें तो कभी किसी वस्तु का अभाव ही न रहे।

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥२॥

सूत्रार्थ—तु=परतु, कार्य-अभावत्=कार्य के न होने से, कारण-अभाव =कारण का अभाव होना, न=नही माना जाता।

व्याख्या—यह नही कह सकते कि कार्य न होने से कारण भी नही हो सकता। जैसे कि धुंआ कार्य और अग्नि कारण है, धुंआ न होने पर भी अग्नि का अभाव नही हो सकता। जिह्वा का कार्य बोलना है, वह चाहे जब बोले या न बोले। यदि जिह्वा न बोले तो यह नही माना जा सकता कि जिह्वा है ही नही। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म के अभाव मे जीवात्मा का अभाव नही हो सकता। परन्तु, जीवात्मा न रहे तो शरीर चेष्टा हीन हो जाता है और तब कर्म का ही अभाव हो जाता है।

सामान्यं विशेषइति बुद्ध्यपेक्षम् ॥३॥

सूत्रार्थ—सामान्यविशेष=सामान्य और विशेष, इति=यह, बुद्ध्यपेक्षम्=बुद्धि की अपेक्षा से है।

व्याख्या—जो अनेकों से सम्बन्ध रखे वह सामान्य और जो कम से सम्बन्ध रखे वह विशेष कहा जाता है। इस प्रकार जो गुण बहुत-से पुरुषों या देशों में पाये जाते हैं उन्हें सामान्य कहेंगे और थोड़े से व्यक्तियों या एकाध देश में पाये जाते हैं वे विशेष गुण कहे जायेंगे। जैसे मनुष्य जाति के सब लोगों को 'मनुष्य' कहते हैं तो यह मनुष्य शब्द सामान्य हुआ और मनुष्यों की किसी जाति-विशेष में जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि तो यह ब्राह्मण क्षत्रिय आदि विशेष हुआ। यह सामान्य और विशेष की मान्यता बुद्धि के कारण है। अर्थात् बुद्धि कहीं किसी को सामान्य मानती है कहीं विशेष मानती है।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

सूत्रार्थ—भाव=अस्तित्व और, अनुवृत्ति=बार-बार की उपलब्धि से एव=इस प्रकार, हेतुत्वात्=हेतु होने से सामान्यम्-एव=सामान्य रूप ही है।

व्याख्या—वस्तुओं के बार-बार मिलने से उनके अस्तित्व का होना सिद्ध होता है और इस प्रकार के अस्तित्व को सामान्य कहते हैं। जो पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब अस्तित्व वाले हैं ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी सत्ता न हो और जिसकी सत्ता है वह सामान्य ही माना जायगा।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

सूत्रार्थ-द्रव्यत्वंगुणत्वम्=द्रव्यत्व गुणत्व च=और, कर्मत्वम्=कर्मत्व यह तीनों सामान्यानि=सामान्य हैं च=और सब विशेषा=विशेष हैं।

व्याख्या—द्रव्य में जो द्रव्यपन है गुण में जो गुणपन है तथा कर्म में जो कर्मपन है वह द्रव्य से द्रव्य का गुण से गुण का और कर्म से कर्म का भेद प्रतीत कराता है। जैसे स्वर्ण का जो रूप है, वह स्वर्ण

मे ही होगा, तथा मिट्टी का गुण पानी मे घुल जाना अथवा सन्ध्या आदि कर्म या भोजन बनाना, खाना आदि सब सामान्य ही कहे जाते हैं। इनमे कोई विशेषता नही है, क्योंकि सर्वत्र ऐसा ही देखा जाता है।

अन्यत्राऽन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ।। ६ ।।

सूत्रार्थ—अन्त्येभ्य =अन्त्यावयवी मे स्थित, विशेषेभ्य = विशेषो से, अन्यत्र =भिन्न को सामान्य कहा है।

व्याख्या—जिस कार्य रूप द्रव्य से द्रव्य मे कार्य का अन्तर न पैदा हो, उसे अन्यावयवी कहते हैं। घडे और वस्त्र आदि मे यही बात है कि वे जिस रूप मे बन जाते हैं, उनके उस रूप मे कोई परिवर्तन नही होता, यही उनका अन्त्यावयत्व है। यह कार्य द्रव्य की विशेषता है। इनसे भिन्न जितने भी द्रव्य वृत्ति के पदार्थ हैं, वे सामान्य भी है और विशेप भी हैं। जिनकी कार्य-अवस्या मे अलग-अलग गुण पाये जायें, वे विशेप और एक से गुण पाये जायें वह सामान्य। इसी प्रकार सब मे समझना चाहिये।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ।। ७ ।।

सूत्रार्थ—यत =जिससे, द्रव्यगुणकर्मसु=द्रव्य, गुण, कर्म मे, सद्-इति=उसी की सदरूपता हो, सा=वह, सत्ता=सत्ता है।

व्याख्या—जिन द्रव्य, गुण, कर्म मे यह प्रतीति होती हो कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, वही सत्ता कही जाती है। जैसे मिट्टी मे मिट्टीपन दिखाई दे, तो वह मिट्टी की मत्ता हुई और सोने मे सुनहलापन स्वर्ण की सत्ता हुई। इसी प्रकार सब वस्तुओ मे सत्ता होती है।

द्रव्यगुण कर्मेभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ।।७।।

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मेभ्य =द्रव्य, गुण, कर्म से, सत्ता= अस्तित्व मे अर्थान्तरम्=भिन्नता है।

व्याख्या—सत्ता द्रव्य गुण कर्म से अलग है क्योंकि सत्ता इन तीनों में नहीं पाई जाती। यदि सत्ता किसी एक द्रव्य में भी होती तो उस द्रव्य की भाँति वह भी बुद्धि की प्रतीति में अवश्य आती। परन्तु, बुद्धि की प्रतीति में न आने से यही मानना होगा कि सत्ता इन तीनों से भिन्न है।

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

सूत्रार्थ—गुणकर्मसु=गुण कर्म में भावात्=रहने से न कर्म=वह कर्म नहीं है च=और, न गुणः=गुण भी नहीं है।

व्याख्या—सत्ता को द्रव्य तो कह ही नहीं सकते क्योंकि उसमें द्रव्य के लक्षण नहीं मिलते। वह गुण और क्रिया भी नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयं गुण और कर्म के आश्रय में रहती है। जो किसी के आश्रय में रहे, वह उसके समान नहीं हो सकता। जैसे कोई किसी के शरणागत है वह उसी के पास रहता है। वहाँ रहने से लोगों को भ्रम हो सकता है कि आश्रयदाता यही होगा। परन्तु यथार्थ में आश्रयदाता नहीं आश्रित होता है और जो आश्रित है, वह अपना भरण-पोषण करने में भी असमर्थ होने से आश्रय के समान गुण वाला नहीं हो सकता। इस प्रकार, जो सत्ता द्रव्य गुण और कर्म की आश्रित है वह द्रव्य गुण या कर्म नहीं हो सकती और न उनके समान ही हो सकती है बल्कि द्रव्य गुण कर्म तीनों से अलग समझनी चाहिये।

सामान्य विशेषाभावेन च ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—च=और, सामान्यविशेष=सामान्य या विशेष धर्म के अभावेन=अभाव से उसका पृथक होना सिद्ध है।

व्याख्या—द्रव्य गुण कर्म में सामान्य होना या विशेष होना पाया जाता है। जैसे मिट्टी सर्वत्र सामान्य रूप से पाई जाती है परन्तु यह मिट्टी चिकनी है ऐसा कहने से उसमें जो चिकनापन है वह मिट्टी

ो विशेषता सिद्ध करता है। गुण शब्द सर्वत्र सामान्य है, परन्तु, यह रूप है, यह गंध है इत्यादि गुण-भेद से वे अलग-अलग हैं। फिर, कोई कहे कि 'यह भवन सुन्दर है' अथवा यह काला-कुरूप है। ऐसा कहने से भवन के रूप मे सुन्दरता विशेप है और 'काला-कुरूप' भी विशेषता सूचक है। इसी प्रकार, कर्म शब्द सामान्य है, परन्तु यह पाप-कर्म है अथवा इसने पुण्य किया है। यहाँ पाप अथवा पुण्य कहा जाने से कर्म की विशेषता होगई। इसलिये सूत्रकार ने सिद्ध किया है कि द्रव्य, गुण और कर्म मे तो सामान्य और विशेष होता है, परन्तु, सत्ता मे न तो सामान्यता पाई जाती है और न विशेषता। इन दोनो का अभाव होने से भी सत्ता का द्रव्य, गुण, कर्म से अलग होना सिद्ध होता है।

अनेकद्रव्यत्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—अनेक द्रव्यत्वेन=अनेक द्रव्यो मे रहने वाला, द्रव्यत्वम्=द्रव्यपन, उक्तम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे द्रव्य, गुण, कर्म मे उनसे अलग, सत्ता रहती है, उसी प्रकार अनेक द्रव्यो मे द्रव्यत्व रहता है, जिससे द्रव्य को गुण और कर्म से अलग पहिचाना जा सके। अर्थात् द्रव्यों मे जो द्रव्यपना होता है, वह भी सामान्य या विशेप नही होता। इसलिये उसका नित्य होना माना जाता है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥

सूत्रार्थ—सामान्य=सामान्य, च=और, विशेष=विशेष के, अभावेन=न होने से भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—कर्म मे कर्मत्व, गुण में गुणत्व और द्रव्य मे द्रव्यत्व सामान्य अथवा विशेष रूप से रहते हैं, परन्तु, सत्ता मे वैसी सामान्यता या विशेपता नही है, इसलिये सत्ता उन तीनो से भिन्न है। इसी प्रकार द्रव्यत्व मे सामान्य या विशेप का अभाव होने से द्रव्य भी गुण और कर्म से अलग है।

गुणेषु भावात् गुणत्वमुक्तम् ।। १३ ।।

सूत्रार्थ—गुणेषु=गुणों में भावात्=होने से गुणत्वम्=गुणत्व उक्तम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे सब द्रव्यों में द्रव्यत्व रहता है और वह द्रव्य गुण कर्म से अलग है वैसे ही सब गुणों में रहने वाला गुणत्व भी द्रव्य गुण कर्म से अलग मानना चाहिये। क्योंकि गुणों का गुणत्व भी सत्ता के समान ही नित्य कहा गया है।

सामान्य विशेषाभावेन च ।। १४ ।।

सूत्रार्थ—च=और सामान्यविशेष=सामान्य विशेष के अभावेन=न होने से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—द्रव्य गुण कर्म के समान सामान्य और विशेष गुणत्व में नहीं होते और इस प्रकार सामान्य और विशेष के न रहने से गुणत्व का द्रव्यादि से अलग होना सिद्ध होता है। क्योंकि द्रव्य में द्रव्यत्व गुण में गुणत्व और कर्म में कर्मत्व यह तीनों ही पृथक-पृथक तथा नित्य और सामान्य विशेष से रहित है।

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ।। १५ ।।

सूत्रार्थ—कर्मसु=कर्म में भावात्=होने से कर्मत्वम्=कर्मत्व उक्तम्=कहा गया है।

व्याख्या—प्रत्येक कर्म में रहने वाले को कर्मत्व कहा गया है, प्रत्येक कर्म में रहने से कर्मत्व को सामान्य ही मानना होगा। इस प्रकार द्रव्यत्व गुणत्व जातियों के समान कर्मत्व जाति भी द्रव्य गुण से अलग ही है। क्योंकि यह जाति ही एक को दूसरे से अलग करने वाली है। इस प्रकार यह तीनों जातियाँ ही अलग-अलग हैं।

सामान्यविशेषाभावेन च ।। १६ ।।

सूत्रार्थ—च=और सामान्यविशेष=सामान्य विशेष का अभावेन=अभाव होने से भी यही सिद्ध होता ह।

व्याख्या—यदि कर्म मे रहने वाला कर्मत्व, कर्म मे रहने वाले सामान्य और विशेष वाला होता तो द्रव्य, गुण, कर्म मे उसकी गणना होती, परन्तु, कर्मत्व मे सामान्य और विशेष नही है, इसलिये यह तीनो से पृथक् है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।

सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावा-च्चैको भावः ।। १७ ।।

सूत्रार्थ—सत्-इति-लिङ्ग-अविशेषात्=विशेषता वाले लक्षण के न होने से, च=और, विशेषलिङ्गाभावात्=और विशेष लक्षण के न मिलने से, भाव =सत्ता जाति, एक.=एक है।

व्याख्या—सत्ता का अर्थ है 'अस्तित्व' । कोई वस्तु प्रत्यक्ष है तभी उसकी सत्ता है। वस्तु का अस्तित्व साधारण तौर पर सब जगह पाया जाता है। इसलिये वह सामान्य है, उसे विशेष नही कह सकते और द्रव्य, गुण, कर्म की सत्ता जाति एक-सी है। यदि उसमे कोई भेद होता तो भिन्नता के भी लक्षण दिखाई देते। परन्तु ऐसा नही होने से और कोई विशेष लक्षण न मिलने से तीनो की सत्ता जाति समान है तथा सामान्य धर्म वाली है।

।। प्रथमोध्याय'-द्वितीय आह्निक समाप्त ।।

द्वितीयोऽध्याय —प्रथमाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—पृथिवी=पृथिवी रूपरसगन्ध—रूप रस गन्ध और स्पर्शवती—स्पर्श धर्म वाली है।

व्याख्या—पृथिवी में रूप रस गन्ध स्पर्श यह गुण हैं। परन्तु, यह गुण मिले हुए कहे गये हैं यदि अलग-अलग कहें तो रूप अग्नि का गुण है रस जल का गुण गन्ध पृथिवी का गुण और स्पर्श वायु का है। यहाँ संयुक्त गुण इसलिये कहे हैं कि पञ्चभूत संयुक्त हैं और पृथिवी उन सबमें अत्यन्त स्थूल है इसलिये पृथ्वी में सभी के गुणों का आभास मिल जाता है। अतः पृथिवी में रूप रस गन्ध और स्पर्श सभी गुणों का समावेश मानना चाहिये।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—आपः—जल द्रवाः—पतला स्निग्धाः—चिकना तथा रूपरसस्पर्शवत्य—रूप रस स्पर्श वाला है।

व्याख्या—जल पतला और चिकना होता है इसलिये बहने वाला है। उसमें रूप रस और स्पर्श यह तीनों गुण हैं। पानी दिखाई देने से रूप वाला है पीने से ठण्डा खट्टा खारा मीठा मालूम होजाता है इसलिये रस है और छूने से ठण्डा या गर्म का पता लग जाता है। इसलिये जल में अग्नि और वायु के गुणों का भी समावेश है।

तेजो रूप स्पर्शवत् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—तेजः=अग्नि, रूपस्पर्शवत=रूप और स्पर्श के समान है ।

व्याख्या—अग्नि मे रूप तो है ही, स्पर्श गुण भी है। अग्नि प्रत्यक्ष दिखाई देता है इसलिये रूप गुण वाला है और उसको छूने से ही जल जाता है, इससे स्पर्श गुण भी प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार अग्नि मे वायु के गुण का भी समावेश हो जाता है या यो कहिये कि अग्नि की लपटो के स्पर्श से गर्म हुआ वायु गर्म स्पर्श वाला हो जाता है, इससे भी अग्नि मे स्पर्श गुण होना सिद्ध होता है।

स्पर्शवान् वायुः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—वायु =वायु, स्पर्शवान्=स्पर्श वाला है।

व्याख्या—वायु का गुण स्पर्श है। उसमे जो ठण्डक होती है, वह जल के सयोग से और गर्मी है, वह अग्नि के सयोग से है, क्योंकि शीत या उष्ण वायु का लक्षण नहीं है। वायु मे रूप नही होता, इसलिये वह दिखाई नही देता। जैसे, कहते हैं कि आज हवा बडी ठण्डी लग रही है, तो इस अनुभव मे वायु का ठण्डा होना जल के सयोग के कारण ही समझना चाहिये और गर्म लू का चलना तेज धूप से होता है।

ते आकाशे न विद्यते ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—ते=वे गुण, आकाशे=आकाश मे, विद्यते=विद्यमान, न=नही हैं।

व्याख्या—रूप, रस, गुण, स्पर्श जो गुण कहे है, वे आकाश मे नही रहते। आकाश मे जो नीलापन दिखाई देता है वह जल के कणो का है। आकाश पञ्चभूतो मे सबसे सूक्ष्म है, इसलिये, उसमे उन चारो भूतो के गुणो का समावेश नही हो सकता, ऐसा तभी होता है जबकि

सूक्ष्म द्रव्य में स्थूल द्रव्य आ जाय। जैसे पानी ठण्डा होता है परन्तु अपने से सूक्ष्म अग्नि के संयोग से गर्म हो जाता है परन्तु अग्नि की उष्णता पानी से ठण्डी नहीं हो सकती। विभिन्न तत्त्वों के गुण मिलने से ही उनमें विशेष गुण होने की प्रतीति होती है। परन्तु, इससे सिद्ध होता है कि आकाश में अन्य तत्त्वों के गुण नहीं मिल पाते।

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानाम्=घृत लाख मोम में *अग्निसंयोगात्=आग के संयोग से द्रवत्वम्=द्रवता* अर्थात् बहने का रूप पतलापन हो जाता है अद्भिः=जल में यह सामान्यम्=सामान्य है।

व्याख्या—जल का सामान्य गुण पतला होना है परन्तु, घी लाख और मोम आदि पदार्थों में यह गुण स्वाभाविक रूप से नहीं होता। जब इन पदार्थों को आग पर गर्म किया जाता है, तभी यह पतले होते हैं बिना अग्नि पर चढ़ाये यह पदार्थ पतले नहीं होते। इसलिये बहना या पतला होना इनका सामान्य धर्म नहीं माना जा सकता।

त्रपु सीस लोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानाम्=रांग सीसा लोहा चाँदी स्वर्ण में अग्निसंयोगात्=आग के संयोग से है द्रवत्वमद्भिः=पानी में यह गुण सामान्य रूप से है।

व्याख्या—रांग सीसा आदि धातुएँ भी आग पर ही पिघल सकती हैं इसलिये पतलापन इनका गुण नहीं है। परन्तु, पानी में

पतलापन साधारणतया विद्यमान रहता है। पानी का जम कर बरफ हो जाना विद्युत सयोग से होता है, क्योकि, जल का स्वाभाविक गुण पतला होना है, जमना नही है।

विषाणी ककुद्वान् प्रान्ते बालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—विषाणी=सीग, ककुद्वान्=कन्धे के कूबड वाली, प्रान्ते वालधि=पूंछ के अन्त से वाल वाली, सास्नावान्=गले के नीचे लटकती हुई खाल वाली होना, इति=यह, गोत्वे=गऊपन के, दृष्टम्=प्रत्यक्ष, लिङ्गम्=लक्षण हैं।

व्याख्या—गौ के लक्षण कहे हैं—सीग, कन्धे का कूबड, पूंछ के नीचे की ओर वाल, गले के नीचे लटकती हुई खाल आदि। गऊ के इन लक्षणो को ही गऊपन कहा गया है।

स्पर्शश्च वायोः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—स्पर्श=छूना, च=ही, वायो=वायु का गुण है।

व्याख्या—जैसे, गऊ मे सीग आदि लक्षण से गऊपन होना कहा है, वैसे ही, वायु का लक्षण स्पर्श कहा है। क्योंकि, वायु प्रत्यक्ष तो दिखाई नही देता परन्तु, शरीर को उसके चलने, न चलने का अनुभव होता है। वैसे वायु के चार लक्षण माने जाते हैं—स्पर्श, शब्द, धृति और कम्प। वायु के वेग से वृक्ष आदि मे जो शब्द होता है, इसलिये 'शब्द' कहा है। तिनका आदि को उड़ा कर ले जाना ही धारण करना है, इससे 'धृति' समझना और वृक्ष आदि की शाखा हिलना यह 'कम्प' है।

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—स्पर्श=स्पर्श, दृष्टानाम=पृथिवी आदि का,

न = नहीं इति = यह वायु = वायु का च = ही अदृष्टलिङ्ग = दिखाई न देने वाला चिह्न है।

व्याख्या—यदि यह शङ्का करें कि स्पर्श तो पृथिवी आदि का गुण है तो सूत्रकार उत्तर देते हैं कि यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि स्पर्श वायु का ही गुण है पृथिवी आदि का नहीं है। जल का स्पर्श शीतल अग्नि का गर्म पृथिवी का न गर्म न ठण्डा स्पर्श है परन्तु वायु का स्पर्श न गर्म ठण्डा अपाकज होने से विलक्षण है। इसलिये इस स्पर्श को वायु का ही लक्षण मानना चाहिये।

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—अद्रव्यवत्त्वेन = भिन्न द्रव्य का आश्रय होने से द्रव्यम् = वायु द्रव्य है।

व्याख्या—पृथिवी आदि के समान ही वायु भी द्रव्य है क्योंकि यह भिन्न द्रव्य का आश्रय है। यद्यपि वायु का द्रव्य होना प्रत्यक्ष नहीं है अनुमान से ही जाना जाता है। जैसे गुण कर्म आदि का आश्रय होने से पृथिवी द्रव्य है वैसे ही स्पर्श और क्रिया का आश्रय होने से वायु का द्रव्य होना सिद्ध होता है।

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—क्रियावत्त्वात् = क्रिया वाला होने से च = और, गुणवत्त्वात् = गुण वाला होने से भी वायु का द्रव्य होना सिद्ध है।

व्याख्या—जिसमें क्रिया और गुण है वह द्रव्य है और वायु में स्पर्श गुण तथा क्रिया यह दोनों हैं इसलिये वायु के द्रव्य होने की भी असम्भवता नहीं लगती। क्योंकि गुण-कर्म के आश्रित गुण कर्म नहीं हो सकते वे द्रव्य के ही आश्रित हो सकते हैं।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—अद्रव्यत्वेन = वायु का कारण अद्रव्य होने से, नित्यत्वम् = वायु का नित्य होना, उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या—वायु नित्य अर्थात् नष्ट न होने वाला है, क्योकि उसकी उत्पत्ति किसी द्रव्य से नही हुई। पृथिवी आदि तो अवान्तर प्रलय मे अपने-अपने कारण द्रव्य मे लीन हो जाते हैं, परन्तु, वायु की स्थिति मे कोई परिवर्तन नही होता, वह ज्यो का त्यो बना रहता है, अर्थात् प्रलय काल मे भी वायु लीन नही होता। इससे वायु का नित्य होना सिद्ध होता है। क्योकि, अनित्य वस्तु की स्थिति निरन्तर एक जैसी नही रह सकती।

वायोर्वायु सम्मूर्च्छनं नानात्वे लिङ्गम् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—वायोर्वायु सम्मूर्च्छनम् = वायु का वायु से भिन्न चलना, उनके, नानात्वे = अनेक होने का, लिङ्गम् = लक्षण है।

व्याख्या—यह प्रत्यक्ष देखा जाता हैं कि विभिन्न दिशाओ से चलता हुआ वायु भभूडा (चक्र) बनकर घूमता हुआ ऊपर उठने लगता है। उस समय प्रतीत होता है कि एक वायु, दूसरे वायु को उठा कर ऊपर ले जारहा है। यद्यपि वायु प्रत्यक्ष दिखाई नही देता, परन्तु, तृण या धूल के ऊपर उठने से उसका अनुमान होता है। एक दिशा से चलता हुआ वायु, दूसरी दिशा से चलते हुए वायु से टकरा कर उसे रोकता है, इससे वायु का अधिक होना सिद्ध होता है।

वायुसन्निकर्षेप्रत्यक्षाऽभावाददृष्टंलिगं न विद्यते ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—वायुसन्निकर्षे = वायु-सम्बन्ध का, प्रत्यक्षाऽभावात् = प्रत्यक्ष अभाव होने से, दृष्टम् = स्पर्श दृष्ट, लिगम् = चिह्न, नविद्यते = नही है।

व्याख्या—वायु के सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता इसलिये उसका लक्षण स्पर्श भी इस अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्पर्श भी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता बल्कि अनुभव से ही जाना जाता है। यदि यह कहें कि प्रत्यक्ष नहीं तो लक्षण भी नहीं हो सकता ? इसका समाधान यह है कि वायु बाहरी इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता परन्तु, त्वचा द्वारा उसके स्पर्श का अनुभव होता है, इसलिये यह भी प्रमाण ही है।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—च=और, सामान्यतोदृष्टात्—सामान्यतोदृष्ट (अनुमान प्रमाण) से अविशेष—सामान्य रूप से ही वायु की सिद्धि है।

व्याख्या—वायु द्रव्य है और दिखाई न देने वाला है, इसलिये उसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, परन्तु उसका अनुभव त्वचा के स्पर्श होने से होता है उसका अस्तित्व तो मानना ही होगा।

तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—तस्मात्—प्रमाणानुसार, आगमिकम्—वायु की सिद्धि वेद से भी है।

व्याख्या—वायु का होना अनुमान से तो सिद्ध है ही वेद में भी वायु की सत्ता को माना है और उसे नित्य द्रव्यों के अन्तर्गत कहा है। यजुर्वेद (३१– १) में प्राणाद्वायुरजायत अर्थात् 'प्राण से वायु उत्पन्न होता है' यह स्पष्ट कहा है। इससे वायु के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, सज्ञा कर्म=सज्ञा और कर्म, अस्म-द्विशिष्टानाम्=उन विशिष्टो का, लिङ्गम्=लक्षण है।

व्याख्या—नाम और कर्म ही विशिष्ट व्यक्तियो की विशेषताओ को प्रकट करते हैं। वेदार्थ कर्त्ता ऋषियो का नाम वेद मन्त्रो के साथ आने से उनके द्वारा कही गई शाखाओ, उपनिषदो, वेदाङ्गो से प्रत्यक्ष है कि नाम और कर्म के द्वारा ही प्रसिद्धि होती है। इसका आशय यह भी है कि जो लोग शुभ कर्म करते हैं उनकी प्रशसा होती है, और बुरे कर्म करने वालो की निन्दा होती है और वे बदनाम हो जाते हैं। इसलिये अच्छे कर्म करने चाहिये।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—सज्ञाकर्मण=सज्ञा और कर्म वाले को, प्रवृत्तत्वात्=सब वस्तुओ की प्रवृत्ति होने से, प्रत्यक्ष=प्रमाण है।

व्याख्या—जिसे, जिस वस्तु का नाम मालूम हो और उस वस्तु को बता सकता हो, वही उस विषय का जानने वाला है। मोक्ष आदि का ज्ञाता ईश्वर है, वही सब वस्तुओ का नाम रखने वाला और प्रवर्त्तक है, इसलिये वही उनके साधन भी कह सकता है। उन साधनो का उल्लेख वेदो मे है, और उनके सज्ञा तथा कर्म का उपदेश भी वेदो से ही प्राप्त हो सकता है।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—निष्क्रमणम्=बाहर निकलना, प्रवेशनम्=प्रविष्ट होना, इति=यह कार्य, आकाशस्य=आकाश के, लिंगम्=लक्षण है।

व्याख्या—आकाश का अर्थ है—अवकाश का स्थान जैसे द्वार आदि। दीवार में से तो कोई आना-जाना नहीं कर सकता दरवाजे से ही घुस सकता या निकल सकता है। इस प्रकार आकाश के स्वरूप कहे हैं। कूप घड़ा आदि में भी जो स्थान होता है वह आकाश कहा जाता है। घड़े में भी आकाश होना मानते हैं।

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात्कर्मण ॥२१॥

सूत्रार्थ—तत्=वह बाहर निकलना या घुसना रूप कर्मण=कर्म एकद्रव्यत्वात्=एक द्रव्य के होने से अलिंगम्=आकाश के लक्षण नहीं हो सकते।

व्याख्या—निकलना और घुसना रूप कर्म स्पर्श वाले द्रव्यों के हैं और आकाश अस्पर्श है इसलिये यह लक्षण आकाश के नहीं हैं। कर्म तो द्रव्य के सहारे रहता है, जो द्रव्य प्रत्यक्ष है उसी में क्रिया है। आकाश प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिये वह क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये निकलना प्रविष्ट होना रूप कर्म आकाश के चिन्ह नहीं माने जा सकते।

कारणान्तरानुक्लृप्ति वैधर्म्याच्च ॥२२॥

सूत्रार्थ—च=और कारणान्तरानुक्लृप्ति=उसमें कारण का अन्तर होने तथा वैधर्म्यात्=विरूपता होने से आकाश का यह लक्षण नहीं है।

व्याख्या—आकाश समवाय रहित है, इसलिये वह किसी वस्तु का समवायि-कारण भी नहीं हो सकता। इसलिये घुसना निकलना यह दोनों कर्म आकाश के सिद्ध करने में प्रमाण नहीं माने जा सकते। कारण से कार्य तो स्पष्ट समझा जाता है। जिसमें कारण भाव नहीं वह कार्य को उत्पन्न ही नहीं कर सकता। समवायि का अर्थ संयोग है यह पहिले बता चुके हैं। आकाश किसी से संयुक्त नहीं है इसलिये उसे समवाय रहित कहा गया है।

संयोगादभावः कर्मणः ॥२३॥

सूत्रार्थ—सयोगात्=सयोग के, अभाव=न होने से, कर्मण=कर्म का कारण आकाश नही है।

व्याख्या—आकाश कर्म का निमित्त कारण भी नही है। निमित्त कारण उसे कहते हैं, जो किसी कार्य का हेतु हो। यदि कहें कि कर्म ही आकाश का कारण हो तो ऐसा भी नही है, क्योकि कर्म समवायि, असमवायि या निमित्त कोई भी करण नही है। इसलिये, कर्म के द्वारा आकाश की सिद्धि किसी प्रकार नही हो सकती। फिर, कर्म तो स्वय उत्पन्न होने वाला भी नहीं है, क्योंकि कर्म की उत्पत्ति कर्त्ता के द्वारा होती है। कर्त्ता के कार्य से विरत होने पर कर्म नष्ट हो जाता है।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः ॥२४॥

सूत्रार्थ—कार्यगुण=कार्य रूप गुण, कारण गुण पूर्वक=कारण भूत गुण से, दृष्ट=प्रकट होता है।

व्याख्या—कारण से कार्य की उत्पत्ति है, जैसा कारण होगा, उससे वैसा ही कार्य उत्पन्न होगा। मिट्टी से घड़ा बनेगा, वस्त्र नही बनेगा, लाल रङ्ग के पदार्थ से लाल रङ्ग की वस्तु ही तैयार होगी, नीले, पीले या अन्य रङ्ग की नही होगी। जो गुण कारण मे होंगे, वही गुण कार्य मे होगे। इससे यही सिद्ध होता है कि कारण होगा तो कार्य होगा, अन्यथा नही हो सकता।

कार्यान्तराऽप्रादुर्भावाच्छब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥२५॥

सूत्रार्थ—शब्द=शब्द, स्पर्शवताम् गुण=पृथिवी आदि का गुण नही है, क्योकि, कार्यान्तरा=कार्य के अन्तर से, अप्रादुर्भावात्=उत्पत्ति न होने से, ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—पृथिवी आदि से रूप, गुण आदि में अन्तर नही होता,

वे सब समान रूप से उत्पन्न होते हैं इसलिये शब्द को पृथिवी तेज जल वायु का गुण नहीं मानते हैं। यदि शब्द इनका गुण होता तो वह समान रहता कभी-कभी तीव्र से तीव्र और मन्द से मन्द नहीं हो पाता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द स्पर्श योग्य द्रव्य का गुण नहीं हो सकता।

परत्र समवायात्प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुण ॥२६॥

सूत्रार्थ—परत्र=शब्द आत्म द्रव्य में समवायात्=संयुक्त रहने से आत्म गुण=आत्मा का गुण न=नहीं है च=और प्रत्यक्षत्वात्=प्रत्यक्ष होने से मनोगुण=मन का गुण (भी) न=नहीं है।

व्याख्या—आत्मा के गुण ज्ञान आदि किसी बाहरी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होते और शब्द कान से सुनाई देता है इसलिये वह आत्मा का भी गुण नहीं हो सकता। मन के जो गुण हैं वह भी प्रत्यक्ष नहीं हैं, परन्तु, शब्द प्रत्यक्ष है इसलिये उसे मन का गुण भी नहीं कह सकते। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द आत्मा का या मन का भी गुण नहीं है।

परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य ॥२७॥

सूत्रार्थ—परिशेषात्=परिशेष से आकाशस्य=आकाश का लिंगम्=लक्षण है।

व्याख्या—शब्द गुण है इसलिये उसको किसी द्रव्य का आश्रित होना चाहिये। वह पृथिवी जल अग्नि वायु का गुण नहीं है तो उसे आकाश का गुण मानना होता और परिशेष अनुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का ही लक्षण है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२८॥

सूत्रार्थ—वायुना=वायु जैसा ही आकाश का, द्रव्यत्व=द्रव्यपन है, नित्यत्वे=उसका नित्य होना, व्याख्याते=कहा कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु द्रव्य है, वैसे ही आकाश भी द्रव्य है। वायु नित्य है, उसी प्रकार आकाश नित्य है, क्योकि उसकी सत्ता किसी अन्य वस्तु के द्वारा नही है। शब्द इसका गुण है, इसलिये यह द्रव्य भी है।

तत्वंभावेन ॥२९॥

सूत्रार्थ—भावेन=सत्ता के समान आकाश भी, तत्वम्=तत्त्व है।

व्याख्या—जैसे द्रव्य, गुण, कर्म मे विद्यमान सता तत्त्व है, वैसे ही आकाश भी एक तत्त्व है। क्योकि, आकाश न तो परमाणुओ के सयोग से वना है और न उसमे अन्य द्रव्यो का समावेश ही है। इसलिये आकाश एक तत्त्व ही है।

शब्दलिङ्गाऽविशेषाद्विशेषलिगाभावाच्च ॥३०॥

सूत्रार्थ—शब्दलिङ्गाऽविशेषात्=शब्द, रूप की विशेषता न होने से, च=और, विशेष लिगाभावात्=विशेष लक्षण का अभाव होने से आकाश का एक होना सिद्ध है।

व्याख्या—शब्द ही आकाश का रूप है, इसलिये वह सामान्य है, उसमे कोई विशेषता नही है और जब उसमे कोई विशेष लक्षण नही है, तव उसके अनेक होने का भी प्रश्न नहीं उठता। इसलिये, आकाश एक है, यही सिद्ध होता है।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वञ्चेति ॥३१॥

सूत्रार्थ—च=और, तदनुविधानात्=इस प्रकार का

विभाग होने से एकपृथक्त्वम्—एक पृथक्त्व भी है।

व्याख्या—आकाश शब्द का समवाय कारण है इसलिये उसमें संयोग और विभाग की भी सम्भावना होती है। सत्ता के समान प्रत्येक में रहने पर भी वह एक है और जो एक होगा वह मिलेगा भी और अलग भी होगा। आकाश एक तो है ही साथ ही विभु होने से सबसे बड़ा भी है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु का एक कहा जाना ही उसके पृथक होने का सूचक है। इससे सिद्ध होता है कि आकाश शब्द का आश्रय होने से उसका समवाय कारण है और शब्द आकाश का ही गुण है। इस प्रकार, इस आह्निक में पृथिवी जल अग्नि वायु, आकाश आदि का लक्षण कहा गया है तथा इस सूत्र में 'इति' पद आह्निक की समाप्ति का सूचक है।

॥ द्वितीयोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम् समाप्तम् ॥

द्वितीयोऽध्याय—द्वितीयाह्निकम्

पुष्पवस्त्रयो' सति सन्निकर्षे गुणान्तराऽप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाऽभावलिंगम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—पुष्पवस्त्रयो—फूल और कपड़े का सन्निकर्षे—पारस्परिक संयोग सति—होने पर, वस्त्रे—कपड़े में गन्धाऽभावलिंगम्—गन्ध का अभाव रूप लक्षण है क्योंकि गुणान्तराऽप्रादुर्भावो—उसमें गुण का अन्तर उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या—कार्य-गुण से भिन्न को गुणान्तर कहते हैं जैसे कपड़े के अवयव रूप कार्यों का गुण ठण्डा या गर्म होना नहीं है, वैसे ही गन्ध भी उनका स्वाभाविक गुण नहीं है। फूल में जो गन्ध है, वही कपड़े में

बस जाता है और प्रतीत यह होता है कि कपड़े मे ही गन्ध है। इसी प्रकार गन्ध जल आदि का भी स्वाभाविक गुण नही हो सकता।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—गन्ध =गन्ध, पृथिव्याम् = पृथिवी का, व्यवस्थित =स्वाभाविक गुण है।

व्याख्या—पृथिवी का स्वाभाविक गुण गन्ध है। क्योकि उसमें जल, तेज, वायु के परिमाण भी मिले हुए हैं, इसलिये पृथिवी मे अपने गुण के अतिरिक्त इन तत्त्वो के गुण भी पाये जाते हैं, परन्तु गन्ध ही ऐसा गुण है जो पृथिवी को दूसरे द्रव्यो से अलग सिद्ध करता है।

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—एतेन =इसी प्रकार, उष्णता=गर्मी,व्याख्याता = कही गई है।

व्याख्या—जैसे पृथिवी का गुण गन्ध कहा है, वैसे ही अग्नि का गुण उष्णता समझना चाहिये। जैसे गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है, वैसे ही उष्णता अग्नि का स्वाभाविक गुण है। यदि कहे कि लोहा भी गर्म होते देखा जाता है और उससे हाथ-पाँव आदि जल जाते हैं। परन्तु, लोहे मे गर्मी अग्नि के सयोग से ही होती है।

तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—तेजस =अग्नि का गुण, उष्णता =गर्मी है।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र में गन्ध के समान ही उष्णता को गुण माना है। परन्तु, इस सूत्र मे स्पष्ट कर दिया गया है कि उष्णता अग्नि का गुण है। 'पृथिवी या जल आदि मे जब कभी उष्णता प्रतीत होती है, वह अग्नि के ही सयोग से होती है।

अप्सु शीतता ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—अप्सु=जल का स्वाभाविक गुण शीतता=ठण्डा होना है।

व्याख्या—जैसे पृथिवी का गुण गन्ध और अग्नि का गुण उष्णता है, वैसे ही जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काल लिङ्गानि ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—अपरस्मिन्=अपर (और) अपरम्=पर का ज्ञान युगपत्=एक साथ चिरम्=देर, क्षिप्रम्=शीघ्रता आदि इति=यह काललिङ्गानि=काल के लक्षण हैं।

व्याख्या—अपर में अपर का ज्ञान और पर में पर का ज्ञान अर्थात् यह पहिला है यह पिछला है एक साथ है तथा देर का या जल्दी का ज्ञान ही काल का लक्षण कहा गया है। जैसे अमुक व्यक्ति देर से आया अमुक व्यक्ति उससे पहिले आया इससे देर का और पहिले का समय ज्ञान होता है। अमुक-अमुक व्यक्ति साथ-साथ आये इससे दोनों के एक समय आने का ज्ञान होगा। इसी प्रकार और भी समझना चाहिये।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—द्रव्यत्व नित्यत्वे=द्रव्य और नित्य होना वायुना=वायु के समान ही व्याख्याते=कहा जाता है।

व्याख्या—जैसे वायु को द्रव्य और नित्य कहा है, वैसे ही काल भी द्रव्य और नित्य है, क्योंकि यह संख्यादि गुणों का आश्रय है इसलिये उसे द्रव्य कहा है और प्रलयान्तर रचना (सृष्टि-रचना) में अवस्था होने से उसका नित्य होना माना गया है।

तत्त्वं भावेन ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—भावेन=सत्ता के समान, तत्त्वम्=काल एक ही है।

व्याख्या—जैसे सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म तीनो मे रहती हुई भी एक ही है, वैसे ही काल भी भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनो मे व्याप्त रह कर एक ही है। यदि यह शङ्का करें कि भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान यह तीनो काल अलग-अलग माने जाते हैं तो, वह एक कैसे हुआ ? तो इसका समाधान यह है कि भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान यह तीनो, काल के विभाग हैं, इसलिये इन्हें अलग-अलग नही कह सकते। कपडा था, इस प्रकार कहने से कपडे की बीती हुई अवस्था का, और कपडा है, इससे वर्तमान अवस्था का ज्ञान होता है। इस प्रकार भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान का भेद अवस्था भेद से ही है।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—नित्येषु=नित्य पदार्थों मे, अभावात्=न होने से, अनित्येषु=अनित्यो मे, भावात्=होने से, कालाख्या=काल का भी, कारणे=कारण मानना चाहिये।

व्याख्या—काल नित्य पदार्थों मे नही है, अनित्य पदार्थों मे माना जाता है, इसलिये, काल का भी कोई कारण होना ही चाहिये। जैसे—आत्मा नित्य पदार्थ है, उसके साथ काल का सयोग नही होता, परन्तु अनित्य पदार्थ घडा, वस्त्र, शरीर आदि के साथ काल का योग होता है, इसलिये अनित्य काल का साथी काल है, और काल को काल ही कहेंगे, क्योंकि, काल का कारण काल ही हो सकता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान रूप काल की उत्पत्ति काल से ही है।

इति इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—इति=यह इदम् इति=इधर है यत=यह उधर है तत्=वह, दिश्यम्=दिशा का लिंगम्=लक्षण है।

व्याख्या—जिससे ऐसा ज्ञान हो कि यह इधर है, यह उधर है इसे दिशा ज्ञान कहते हैं। साथ ही पूर्व पश्चिम आदि कहकर भी दिशा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान बहुत सरल है जैसे—अमुक व्यक्ति पूर्व का रहने वाला है इससे समझ में आ गया कि वह कहाँ रहता होगा।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—वायुना=वायु के समान द्रव्यत्वनित्यत्वे= दिशा का भी द्रव्य और नित्य होना व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु स्पर्श वाला होने से द्रव्य और अद्रव्य होने से नित्य है, वैसे ही दिशा भी पूर्व पश्चिम आदि भेद वाली होने से द्रव्य और कार्य न होने से नित्य है क्योंकि दिशा अपने अस्तित्व के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करती। जो किसी दूसरे की अपेक्षा करे वह वस्तु अनित्य होती है।

तत्त्वंभावेन ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—भावेन=सत्ता के समान तत्त्वम्=दिशा एक है।

व्याख्या—जैसे सत्ता को एक कहा गया है वैसे ही दिशा भी एक है। पूर्व पश्चिम उत्तर, दक्षिण ऊपर नीचे आदि उसके भेद हैं वैसे वह एक ही है।

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—कार्यविशेषेण=कार्य की विशेषता के कारण नानात्वम्=दिशा अनेक दिखाई देती है।

व्याख्या—दिशा एक ही है, परन्तु, कार्य की अनेकता के कारण बहुत दिखाई देती है। कहने को दश दिशाएँ हैं, परन्तु, वे कार्य के कारण ही ऐसी प्रतीत होती है। जैसे, एक मनुष्य पूर्व की ओर जाता है, दूसरा मनुष्य उत्तर की ओर जाता है, तो यह उस मनुष्य के अलग-अलग ओर जाने के सम्बन्ध से ही भेद मालूम होता है, परन्तु, दिशा सब ओर व्याप्त होने से एक ही है।

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—भूत पूर्वात्=बीते हुए, भविष्यत =आगे होने वाले, च=और, भूतात्=वर्तमान मे होने वाले, आदित्य सयोगात्=सूर्य के सम्बन्ध से, प्राची=पूर्व कहते हैं।

व्याख्या—भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनो समयो मे सूर्य के सयोग से प्राची या पूर्व कहते हैं। अर्थात्—जिधर सूर्य उदय होता है, वह पूर्व है, उदय हुआ यह सूर्य का भूत सम्बन्ध और उदय होगा इसे भविष्य-सम्बन्ध कहा जाता है।

तथा दक्षिणा प्रतीच्युदीची च ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, दक्षिण=दक्षिण, प्रतीची=पश्चिम, च=और, उदीची=उत्तर हैं।

व्याख्या—जैसे सूर्य के सम्बन्ध से पूर्व दिशा है, वैसे ही सूर्य छुपने वाली दिशा को पश्चिम कहते है। सूर्य की ओर मुख करके खडे होने पर यह दिशा पीठ पीछे रहती है। दाहिनी ओर रहे वह दक्षिण और बांयी ओर रहे वह उत्तर दिशा कही जाती है। इस प्रकार, दिशाओं का यह ज्ञान सूर्य के सम्बन्ध से ही होता है।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—एतेन = इन्हीं के समान दिगन्तरालानि = कोणों की दिशा, व्याख्यातानि = कही गयी हैं।

व्याख्या—पूर्व पश्चिम आदि के समान ही कोणों में स्थित उपदिशायें मानी जाती हैं। इनकी सिद्धि भी सूर्य से ही होती है।

सामान्य प्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥१७॥

सूत्रार्थ—विशेषाप्रत्यक्षात् = विशेष धर्म के अप्रत्यक्ष होने से सामान्यप्रत्यक्षात् = सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष होने पर, च = और विशेषस्मृतेः = विशेष धर्म की स्मृति होने से संशयः = संशय रहता है।

व्याख्या—जब किसी विषय की परीक्षा में संशय न हो तभी उसकी परीक्षा पूर्ण होती है। यदि विशेष लक्षण प्रकट न हों तो सामान्य लक्षण से और उस सम्बन्ध की स्मृति से भी परीक्षा हो सकती परन्तु, उस परीक्षा में भी संशय बना रहता है। जैसे कोई पुरुष कपड़े पहिने हुए खड़ा है तो उसके कपड़ों की सामान्यता से बिना चेहरा देखे ही कहेंगे कि यह पुरुष ही है उसके पुरुष न होने का संशय तभी होगा जब वह कोई ऐसा कपड़ा पहिने होगा जिसे साधारण रूप से पुरुष नहीं पहिनते।

दृष्टं च दृष्टवत् ॥१८॥

सूत्रार्थ—दृष्टवत् = सामान्य धर्म के समान च = ही दृष्टम् = दिखाई पड़ने वाला धर्म संशय उत्पन्न करने वाला है।

व्याख्या—पहिले कभी अनुभव किया और बाद में स्मरण हुआ कार्य संशय वाला हो सकता है कि यह कार्य वही था या नहीं क्योंकि

पहिले अनुभव किया जा चुका है। अथवा किसी जानवर के सीग दिखाई पडे तो यह सीग किसके होंगे ? गाय के या हिरन के ? गाय के और हिरन के सीगो मे सामान्य रूप से बहुत अन्तर होता है और वह अन्तर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसलिये, इसमे सदेह नही होता, परन्तु गाय और नीलगाय के सीगो मे, किसके हैं, यह सदेह हो सकता है।

यथा दृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥१९॥

सूत्रार्थ—च = और, यथादृष्टम्=देखी हुई वस्तु के, अयथा दृष्टत्वात्=वास्तविक रूप मे न देखने से सशय होता है।

व्याख्या—पहिले जिस वस्तु को जिस रूप मे देखा हो, बाद मे वह वस्तु दूसरे रूप मे दिखाई दे तो सशय होता है कि यह वस्तु वही है या दूसरी है ? जैसे, पहिले किसी पुरुष को दाढी सहित देखा, बाद में उसे दाढी मुडाये हुये देख कर यह स शय हो सकता है कि यह पुरुष कोई दूसरा तो नही है।

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥२०॥

सूत्रार्थ—विद्या=विद्या, च=और, अविद्यात =अविद्या से, सशय =सशय उत्पन्न होता है।

व्याख्या—विद्या और अविद्या से भी स शय उत्पन्न हो जाता है। अथवा यो कहिये कि विद्या अर्थात् जानना और अविद्या अर्थात् न जानना—किसी वस्तु के विषय में कुछ जानकारी है, कुछ नही है, तो उसके पहिचानने मे स शय हो सकता है। हमको कोई बूँटी जङ्गल से लानी है, उसके आकार-प्रकार के सम्बन्ध मे हमने सुना है, परन्तु, पूरी तरह उसकी जानकारी नही है, तो उस बूँटी को पाकर भी यह स शय रह सकता है कि यह जटी वही है या कोई दूसरी है।

श्रोत्र ग्रहणोयोऽर्थः स शब्दः ॥२१॥

सूत्रार्थ—श्रोत्र=कान, य =जिस, अर्थ =विषय को, ग्रहण =ग्रहण करते हैं, स=वह, शब्द =शब्द है।

व्याख्या—शब्द उसे कहते हैं, जिसे कान सुन ले। अथवा शब्द कान से ही सुना जा सकता है। सभी इन्द्रियों के अपने अपने नियत विषय हैं। नेत्र का कार्य देखना जिह्वा का कार्य रस ग्रहण करना या आस्वादन करना त्वचा का कार्य स्पर्श अनुभव करना हाथों का कार्य बोझ आदि का उठाना अथवा अन्य कर्म करना पाँवों का कार्य चलना-फिरना नासिका का कार्य सूँघना है वैसे ही कानों का काय शब्द को ग्रहण करना है। क्योंकि शब्द नेत्र या अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार देखना सूँघना रसास्वादन करना स्पर्श अनुभव करना आदि कार्य कान नहीं कर सकते। वे तो केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकते हैं और शब्द आकाश का गुण है इसलिये कानों का आकाश तत्त्व द्वारा उत्पन्न होना माना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द को ग्रहण करने वाले कान ही हैं अथवा यों कहना चाहिए कि कानों का विषय शब्द है उसे कानों के द्वारा ही सुना जा सकता है।

तुल्य जातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—तुल्यजातीयेषु=समान जाति वाले गुणों में और अर्थान्तर भूतेषु=असमान जाति वाले गुणों में विशेषस्य=विशेष के धर्म उभयथा=दोनों प्रकार, दृष्टत्वात्=दिखाई पड़ने से संशय होता है।

व्याख्या—शब्द गुण है या गुण अर्थात् द्रव्य है यह संशय होता है। क्योंकि शब्द कान से सुना जाता है इसलिये गुण प्रतीत होता है। जैसे रूप रस आदि गुण इन्द्रियों के विषय हैं वैसे ही शब्द भी कान से सुना जाने के कारण इन्द्रिय का ही विषय हुआ और द्रव्य हल्का-भारी होता है वैसे ही शब्द भी हल्का-भारी होने से उन गुणों का आश्रय रूप द्रव्य मालूम होता है।

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—एकद्रव्यत्वात् = एक द्रव्य होने से, शब्द, द्रव्यम् = द्रव्य, न = नही है।

व्याख्या—शब्द एक द्रव्य से उत्पन्न होता है और एक द्रव्य मे ही रहता है, इसलिये, वह द्रव्य नही हो सकता। क्योकि, कोई कार्य द्रव्य एक द्रव्य से उत्पन्न नही होता और द्रव्य किसी द्रव्य के सहारे भी नही रहता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द द्रव्य नही है। क्योकि, एक ही वस्तु के परमाणुओ के मिलाने पर कार्य-द्रव्य नही बन पाता यह बात विज्ञान द्वारा भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।

नापि कर्माचाक्षुषत्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—अचाक्षुषत्वात् = आँखो से न देखा जाने के कारण, कर्म = कर्म, अपि = भी, न = नही है।

व्याख्या—शब्द कर्म भी नही है, क्योकि, कर्म आँख से देखा जाता है। परन्तु, शब्द आँख से नही देखा जाता, कान से ही सुना जाता है, इसलिये, उसे कर्म भी नही मान सकते। क्योकि शब्द मे कोई क्रिया हो ही नही सकती, वह तो अभिप्राय प्रकट करने के बाद समाप्त हो जाता है और कर्त्ता उसके अनुसार कर्म करता है।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—कर्मभि = कर्म के समान, गुणस्य = गुण का, सतोऽपवर्ग = शीघ्र नाश होता है, इसलिये, साधर्म्यम् = समान धर्म है।

व्याख्या—जैसे, कर्म अपना कार्य पूरा करके स्वयम् नष्ट हो जाता है, वैसे ही शब्द भी बात पूरी करके नष्ट हो जाता है। इसलिये, इसे भी नाशवान् कहा है। यहाँ, शब्द की गुण से भी समता की गयी है, क्योकि सख्या आदि गुण भी नष्ट होने वाले हैं। इस प्रकार शब्द गुण,

धर्म नहीं है परन्तु गुण और धर्म के समान माना गया है। क्योंकि उसको उत्पन्न होने और उसके अनुसार कार्य करते हुए लोगों को प्रत्यक्ष देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शब्द गुण या कर्म न होते हुये भी उनके समान है।

सतोलिङ्गाभावात् ॥२६॥

सूत्रार्थ—सत =शब्द सत् अर्थात् नित्य लिङ्गाभावात्—लक्षण के न होने से नहीं है।

व्याख्या—शब्द नित्य नहीं है क्योंकि उसमें नित्य होने के लक्षण नहीं पाये जाते। किसी वस्तु के यथारूप होने में उसके लक्षणों को प्रमाण माना जाता है। जैसे धुआं होगा तो वहाँ अग्नि का अस्तित्व भी अवश्य होगा बिना अग्नि के धुआं हो नहीं सकता। इसी प्रकार अविनाशी होने के जो लक्षण हैं उनके न होने पर उस वस्तु का अविनाशी होना माना ही नहीं जा सकता। अर्थात् जिसमें नित्यत्व है वही नित्य हो सकता है जिसमें नित्यत्व नहीं वह नाशवान् ही होगा।

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थ—नित्य—अविनाशी से वैधर्म्यात्—विरुद्ध लक्षण वाला होने से शब्द नित्य नहीं हो सकता।

व्याख्या—अविनाशी के विरुद्ध धर्म होने के कारण उसका अविनाशी होना सम्भव नहीं है। अविनाशी के धर्म हैं—जन्म न लेने वाला और न मरने वाला अर्थात् जिसका जन्म-मरण नहीं वह अविनाशी है और शब्द तो प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होता और नष्ट होता है इसलिये शब्द को अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं कह सकते।

अनित्यश्चायं कारणतः ॥२८॥

सूत्रार्थ—च=और कारणतः—कारण जनित होने से अयम्=यह शब्द अनित्य—अनित्य है।

व्याख्या—शब्द की उत्पत्ति कारण से है, ढोलक पर थाप पड़ने से शब्द उत्पन्न होता है, जुबान से शब्द निकलता है, किवाड़ खटखटाने से शब्द होता है। इसी प्रकार अन्य बहुत-से कारणों से शब्द की उत्पत्ति है और जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य हो ही नहीं सकती।

न चासिद्धं विकारात् ॥२६॥

सूत्रार्थ—च=और, विकारात्=विकार से होने के कारण, शब्द की, असिद्धम्=असिद्धि, न=नहीं है।

व्याख्या—यह बात सिद्ध है कि शब्द उत्पन्न होने वाला है, वह विकार से उत्पन्न होता है। ढोलक पर जोर की थाप लगने से उच्च शब्द होगा और हलकी थाप से हलका शब्द होगा। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति होने से उसका अस्तित्व भी सिद्ध है।

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥३०॥

सूत्रार्थ—अभिव्यक्तौ=अभिव्यक्ति में, दोषात्=दोष होने से शब्द का उत्पन्न होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि यह कहें कि शब्द उत्पन्न नहीं होता, प्रकट होता है, तो, ऐसा मानना मिथ्या होगा, क्योंकि प्रकट करने वाला और प्रकट होने वाला दोनों एक स्थान में नहीं रहते और ढोलक से शब्द एक स्थान में ही निकलने से शब्द का प्रकट होना नहीं माना जा सकता। इस प्रकार शब्द का प्रकट होना मानने में दोष के उपस्थित होने से शब्द उत्पन्न होता है, यही मान्यता ठीक है।

संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्द निष्पत्तिः ॥३१॥

सूत्रार्थ—संयोगात्=संयोग से और, विभागात्=विभाग से, च=और, शब्दात्=शब्द से, शब्दनिष्पत्ति=शब्द उत्पन्न होता है।

व्याख्या—शब्द तीन प्रकार से उत्पन्न होता है—संयोग से विभाग से और शब्द से। बाँसुरी शंख आदि से जो शब्द निकलता है, वह संयोगात्मक है। इसमें बाँसुरी शंख आदि का मुख से संयोग होता है। वृक्ष के टूटने धरती के फटने आदि से जो शब्द होता है वह विभागात्मक है तथा दूर से आने वाले शब्द में संयोग-विभाग का अनुमान न होने से शब्द से शब्द का उत्पन्न होना कहा गया है।

लिंगाच्चानित्यः शब्दः ॥३२॥

सूत्रार्थ—च=और, लिङ्गात्=लक्षण से शब्दः=शब्द का अनित्यः=अनित्य होना सिद्ध है।

व्याख्या—इस प्रकार से उत्पन्न शब्द समान लक्षण ही है। इसमें नित्य होने का लक्षण नहीं है इसलिये शब्द का अनित्य होना ही सिद्ध है।

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥३३॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु द्वयो=दोनों की प्रवृत्त्यो=प्रवृत्ति का, अभावात्=अभाव होने से शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

व्याख्या—गुरु और शिष्य की परम्परा से शब्द का अनित्य होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि गुरु अपने शिष्य को विद्या-दान देता है तो दान स्थायी वस्तु का ही दिया जाता है इसलिये शब्द को अनित्य नहीं मान सकते। यदि शब्द स्थायी न होता तो गुरु-शिष्य की पढ़ाने या पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। इससे सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है।

प्रथमाशब्दात् ॥३४॥

सूत्रार्थ—प्रथमाशब्दात्=प्रथमा शब्द होने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—यज्ञ प्रकरण में अग्नि उत्पन्न करने सम्बन्धी ऋचाओं में "तासा त्रि प्रथमामन्वाहत्रिरुत्तमाम्" (ऐतरेय ब्राह्मण ३-३) के अनुसार तीन वार प्रथमा के और तीन वार उत्तमा के उच्चारण का निर्देश है। यदि शब्द अनित्य होता तो प्रथमा और उत्तमा का ठहरना ही सम्भव न था। नित्य होने से ही शब्द ठहर सकता है, इसलिये शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है।

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥

सूत्रार्थ—च=और, सम्प्रतिपत्तिभावात्=सम्प्रति, पत्ति के भाव से भी ऐसा ही सिद्ध होता हैं।

व्याख्या—शब्द के वारम्वार याद आने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता है। यदि शब्द अनित्य होता तो कही हुई बात की फिर याद नही आ सक्ती थी। जैसे, कहते हैं कि पिछली बात को दुहराओ या कल का पाठ आज पुन पढो। यदि शब्द स्थिर न होता तो पिछली बात कैसे दुहराई जाती या कल का पाठ आज कैसे पढा जाता? इससे सिद्ध है कि शब्द नित्य है, अनित्य नही है।

व्याख्या—शब्द तीन प्रकार से उत्पन्न होता है—संयोग से विभाग से और शब्द से। बाँसुरी शंख आदि से जो शब्द निकलता है, वह संयोगात्मक है। इसमें बाँसुरी शंख आदि का मुख से संयोग होता है। वृक्ष के टूटने बरती के फटने आदि से जो शब्द होता है वह विभागात्मक है तथा दूर से आने वाले शब्द में संयोग-विभाग का अनुमान न होने से शब्द से शब्द का उत्पन्न होना कहा गया है।

लिंगाच्चानित्यः शब्दः ॥३२॥

सूत्रार्थ—च=और लिङ्गात्=लक्षण से शब्दः=शब्द का अनित्य=अनित्य होना सिद्ध है।

व्याख्या—सब प्रकार से उत्पन्न शब्द समान लक्षण ही है। उसमें नित्य होने का लक्षण नहीं है इसलिये शब्द का अनित्य होना ही सिद्ध है।

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥३३॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु द्वयो=दोनों की प्रवृत्त्यो=प्रवृत्ति का अभावात्=अभाव होने से शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

व्याख्या—गुरु और शिष्य की परम्परा से शब्द का अनित्य होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि गुरु अपने शिष्य को शिक्षा-दान देता है, तो दान स्थायी वस्तु का ही किया जाता है इसलिये शब्द को अनित्य नहीं मान सकते। यदि शब्द स्थायी न होता तो गुरु-शिष्य की पढ़ाने या पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। इससे सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है।

प्रथमाशब्दात् ॥३४॥

सूत्रार्थ—प्रथमाशब्दात्=प्रथमा शब्द होने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—यज्ञ प्रकरण में अग्नि उत्पन्न करने सम्बन्धी ऋचाओं में "तासा त्रि प्रथमामन्वाहत्रिरुत्तमाम्" (ऐतरेय ब्राह्मण ३-२) के अनुसार तीन वार प्रथमा के और तीन वार उत्तमा के उच्चारण का निर्देश है। यदि शब्द अनित्य होता तो प्रथमा और उत्तमा का ठहरना ही सम्भव न था। नित्य होने से ही शब्द ठहर सकता है, इसलिये शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है।

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥

सूत्रार्थ—च = और, सम्प्रतिपत्तिभावात् = सम्प्रति, पत्ति के भाव से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—शब्द के बारम्बार याद आने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता है। यदि शब्द अनित्य होता तो कही हुई बात की फिर याद नही आ सकती थी। जैसे, कहते हैं कि पिछली बात को दुहराओ या कल का पाठ आज पुन पढो। यदि शब्द स्थिर न होता तो पिछली बात कैसे दुहराई जाती या कल का पाठ आज कैसे पढा जाता ? इससे सिद्ध है कि शब्द नित्य है, अनित्य नहीं है।

संदिग्धाः ॥३६॥

सूत्रार्थ—स दिग्धा = यह सब हेतु सन्देह वाले हैं।

व्याख्या—शब्द के नित्य होने के पक्ष में जो हेतु दिये हैं, वे सब सदिग्घ हैं क्योकि शब्द बहुत होते हैं, यह एक नही हैं, इसलिये, उन्हे नित्य नही कह सकते। जो युक्तियाँ दी गई हैं, वे अनित्य वस्तुओं को भी सिद्ध कर सकती हैं। गुरु-शिष्य परम्परा, शब्द का याद आना, बार-बार पढ़ना यह तीनो बातें शब्द का नित्य होना सिद्ध नही करती। यदि याद आना और बार-बार पढना नित्य है तो चलना, फिरना भी नित्य माना जायगा ? इसलिए, शब्द को नित्य मानना ठीक नही है।

सति बहुत्वे संख्याभाव सामान्यत ॥३७॥

सूत्रार्थ—बहुत्वे=वर्णों का बहुत्व सति=है इसलिये संख्याभाव=संख्या का होना सामान्यत=सामान्य है।

व्याख्या—संख्या का नियम वर्णों के अभिप्राय से नहीं जाति के अभिप्राय से है। जैसे कि अनेक 'अकार' में 'अ' समान है या अनेक ककार में 'क' समान है। संख्या का क्रम तो सिखाने के लिये है। इस प्रकार वर्णों की संख्या का नियत होना नहीं मानना चाहिये। जब उनकी संख्या को नियत नहीं मानेंगे और उनका असंख्य होना सिद्ध होगा तो उनके अनित्य होने में भी असिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार शब्द का नित्य होना नहीं मान सकते।

॥ द्वितीयोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम् समाप्तः ॥

तृतीयोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥१॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियार्था = इन्द्रियो के विषय, प्रसिद्धा = प्रसिद्ध है।

व्याख्या—इन्द्रियो के विषय प्रसिद्ध हैं, इसलिये उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण की कोई आवश्यकता नही है। जिन वस्तुओ को कोई न जाने, उनकी सिद्धि के प्रमाण की आवश्यकता होती है। आखें रूप को देखती हैं, कान शब्द को सुनते हैं, जिह्वा रस का स्वाद लेती है, नासिका गन्ध का अनुभव करती है और त्वचा से स्पर्श-ज्ञान होता है। जो इन्द्रिय जिस तत्त्व की अधिकता वाली होती है, वह इन्द्रिय उसी तत्त्व के गुणो को ग्रहण करती है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है और उनके सम्बन्ध मे सबको जानकारी है कि नेत्र का यह कार्य है, कान का यह कार्य है। जिसके नेत्र नही वह देख नही सकता, कान नही, वह सुन नही सकता। इसलिये, इस विषय को अधिक सिद्ध करने की आवश्यकता नही है।

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥२॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि = इन्द्रिय और उनके विषयो की प्रसिद्धि, इन्द्रियार्थभ्य = इन्द्रिय और विषयो मे, अर्थान्तरस्य = विषयो के अन्तर का, हेतु = कारण है।

व्याख्या—इन्द्रियो और उनके विषयो के कार्यों के प्रसिद्ध होने से उनके विभिन्न कार्यों का नियत होना सिद्ध है। नेत्र का कार्य नेत्र

ही कर सकता है काम नासिका आदि देख नहीं सकते इसी प्रकार कान का कार्य सुनना कान के द्वारा ही हो सकता है नेत्र या अन्य इन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार, नेत्र से देखते है कि यह मार्ग है, तभी पाँव उस मार्ग पर चलते हैं कान से सुनते हैं 'इधर आओ' तभी उधर जाना होता है सुगन्ध का अनुभव करता है तो हाथ से पुष्प को तोड़कर नासिका से लगाते तभी गन्ध का ज्ञान होता कोई मिठाई स्वादिष्ट है या नहीं इसका अनुभव जीभ से होता इस प्रकार सम्बन्धित विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय के मिलने में सब इन्द्रियाँ कार्य करने लगती हैं।

सोऽनुपदेशः ॥३॥

सूत्रार्थ—सः = उन नियत विषयों की प्रसिद्धि का आश्रय शरीर को अनुपदेशः = नहीं मानना चाहिये।

व्याख्या—जिस इन्द्रिय के जो नियत विषय हैं उसकी प्रसिद्धि का आश्रय शरीर नहीं है क्योंकि यह विषय शरीर के आश्रय में नहीं इन्द्रिय के आश्रय में रहते हैं। ज्ञान शरीर का गुण माना गया है क्योंकि वह आत्मा के आश्रय में नहीं रहता। पर ज्ञान को शरीर का कार्य माना जाना उसी प्रकार प्रमाणाभास मात्र है जैसे प्रकाश दीपक का कार्य होते हुए भी उसके आश्रय में नहीं रहता।

कारणाज्ञानात् ॥४॥

सूत्रार्थ— शरीर के कारण पंचभूतों में अज्ञानात्= ज्ञान के न होने से ज्ञान को शरीर के आश्रित नहीं कह सकते।

व्याख्या—शरीर के कारण पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश में ज्ञान नहीं रहता और जो गुण उपादान कारण में होवे वही गुण उसके कार्य में हो सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान शरीर का आश्रित नहीं आत्मा का आश्रित ही है।

कार्येषु ज्ञानात् ॥५॥

सूत्रार्थ—ज्ञानात्=ज्ञान के होने से, उसका, कार्येषु=कार्यों मे होना सिद्ध नही होता ।

व्याख्या—यदि शरीर के कारण भूत पृथिवी आदि मे ज्ञान की सत्ता होती तो उन पचभूतो से बने हुए भवन आदि भी चेतन ही होते क्योकि चेतन से जड की उत्पत्ति हो ही नही सकती । जड का उत्पन्न होना जड से ही सम्भव है । जैसे ईट, चूना, पत्थर आदि मे मिट्टी के गुण पाये जाते हैं, वैसे ही चेतन आत्मा मे ज्ञान की प्रवृत्ति पायी जाती है । इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान अचेतन मे नही, चेतन मे रहता है ।

अज्ञानाच्च ॥६॥

सूत्रार्थ—च=और, अज्ञानात्=पचभूतो मे अज्ञान होने से भी यही मान्यता सिद्ध होती है ।

व्याख्या—सभी अचेतन पदार्थों मे अज्ञान रहता है और यह किसी प्रकार सिद्ध नही होता कि कार्य पदार्थ मे ज्ञान की उपलब्धि रहती है, क्योकि, घट-पट मे ज्ञान नही पाया जाता । जहाँ आत्मा है, वही ज्ञान हो सकता है, जहाँ आत्मा नही, वहाँ ज्ञान भी नही हो सकता ।

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥७॥

सूत्रार्थ—हेतु =हेतु, अन्यत्-एव=भिन्न होता है, इति= इसलिये, अनपदेश =प्रमाणित नही है ।

व्याख्या—जिसका, जिससे सम्बन्ध है, वही उसके प्रामाणिक होने मे हेतु है और वह, हेतु उस वस्तु से अलग होता है । क्योंकि, वृक्षत्व एक ही वृक्ष मे नहीं होता, सभी वृक्षो मे होता है, इसलिए हेतु स्वय ही सिद्ध नहीं है ।

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेश: ॥८॥

सूत्रार्थ—अर्थान्तरं=साध्य से भिन्न, हि=भी अर्थान्तरस्य=साध्य को सिद्ध करने में अनपदेश=प्रामाणिक नहीं है।

व्याख्या—जिसका साध्य से सम्बन्ध ही नहीं वह उसे सिद्ध किस प्रकार कर सकता है? जैसे धुएं से अग्नि का होना तो सिद्ध हो सकता है, परन्तु गाय का होना सिद्ध नहीं हो सकता। यदि गोबर पड़ा हो तो यह अनुमान हो सकता है यहाँ कहीं गाय होगी या इधर से गाय निकली होगी। इस प्रकार जिस वस्तु का जिससे सम्बन्ध है वही उसके प्रमाण की हेतु हो सकती है असम्बन्धित वस्तु प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥९॥

सूत्रार्थ—संयोगि=संयोगी समवायि=समवाय एकार्थ समवायि=एकार्थ समवाय च=और विरोधि=विरोधी यह चार प्रकार के लिंग हैं।

व्याख्या—लिङ्ग चार प्रकार के माने गए हैं संयोगी समवाय एकार्थ-समवाय और विरोधी। जैसे रथों को देख कर उनके चलाने वालों को चतुर समझा जाय यह लक्षण संयोगी है, दूर से धुंए को देख कर अग्नि के होने का ज्ञान ही समवाय प्रमाण है जंगल में घोड़े को देखकर यह अनुमान कर लेना कि यहाँ घास भी होगी क्योंकि घोड़ा घास के आकर्षण को देखकर यहाँ आया होगा यह सब समवाय दृष्टान्त ही है। अब एकार्थ समवाय का लक्षण सूत्रकार स्वयं ही बताते हैं:—

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—कार्यं=एक कार्य कार्यान्तरस्य=अन्य कार्य का है।

व्याख्या—रूप-कार्य, स्पर्श-कार्य का लक्षण है, इसे एकार्य-समवाय कहते हैं। जो वस्तु दिखाई देती है उसे स्पर्श करने से उसके गुण का पता चल जाता है कि वह ठण्डी है या गर्म है। इस प्रकार एक कार्य दूसरे कार्य की सिद्धि करता है।

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥११॥

सूत्रार्थ—भूतस्य=भूत की सिद्धि मे, अभूतम्=अभूत पदार्थ, विरोधि=विरोधी लिंग है।

व्याख्या—उत्पन्न पदार्थ का उत्पन्न न हुए पदार्थ से ज्ञान होना विरोधी लिंग माना गया है। जैसे, बादल घिरने और हवा चलने से वर्षा होने का अनुमान होता है अथवा यों समझना चाहिए कि वर्षा होने से इस बात का अनुमान होता है कि बादल और वायु के मिले बिना, वर्षा नहीं हो सकती थी। यह विरोधी दृष्टान्त समझना चाहिए।

भूतमभूतस्य ॥१२॥

सूत्रार्थ—अभतस्य=अभूत की सिद्धि में, भूतम्=भूत का उदाहरण भी विरोधी लिङ्ग है।

व्याख्या—जब वर्षा होती है, तब वर्षा को रोकने के लिए हवा चलती है, उस हवा से वर्षा रुक जाती है। वर्षा होते में यह अनुमान होना कि वायु चल कर वर्षा रुकेगी, उस समय वायु विद्यमान नहीं था, तो भी उसका अनुमान कर लिया गया, इसे भी विरोधी लिंगरूप प्रमाण कहा गया है।

भूतो भूतस्य ॥ १३ ॥

सूत्रार्ण—भूतस्य=भूत की सिद्धि मे, भूत=भूत पदार्थ का प्रमाण भी विरोधी लिंग माना गया है।

व्याख्या—विद्यमान वस्तु भी विद्यमान व तु की सिद्धि में विरोधी

लक्षण है। जैसे साँप और नौला परस्पर विरोधी होते हुए भी एक स्थान में पाए जाते हैं। उस समय साँप को झाड़ी की तरफ फुंकार मारते हुए देखकर यह अनुमान कर लेना कि झाड़ी में नौला होगा विरोधी लिंग माना जायगा।

प्रसिद्धि पूर्वकत्वादपदेशस्य ॥१४॥

सूत्रार्थ—अपदेशस्य = लिंग ज्ञान की प्रसिद्धि = प्रसिद्धि पूर्वकत्वात् — ज्ञानाश्रित है।

व्याख्या—लिंग-ज्ञान व्याप्ति ज्ञान से ही हो सकता है। व्याप्ति से तात्पर्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध का है। जब तक व्यक्ति का होना प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होगा तब तक एक के होने से दूसरे का होना सिद्ध नहीं हो सकता। यदि व्याप्ति से हेतु बताकर अनुमान करें तो वह ठीक समझा जायगा। क्योंकि हेतु के मिथ्या होने पर अनुमान का मिथ्या होना सिद्ध हो जायगा जैसे धुआँ है तो अग्नि अवश्य होगा। यदि कहें कि यहाँ धुआँ है तो जल अवश्य होगा तो यह कहना मिथ्या सिद्ध होगा क्योंकि धुआँ जल को सिद्ध करने के लिए हेतु नहीं है, वह तो अग्नि का ही लक्षण है इसी प्रकार इन्द्रिय के विषयों के प्रसिद्ध होने पर आत्मा के अस्तित्व होने का अनुमान सिद्ध होता है।

अप्रसिद्धोऽनपदेश ॥१५॥

सूत्रार्थ—अप्रसिद्ध — अप्रसिद्ध हेतु को अनपदेश — हेतु का आभास ही कहा गया है।

व्याख्या—जहाँ व्याप्ति की प्रसिद्धि न हो अथवा व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिखाई न दे उस हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। क्योंकि व्याप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही हो सकती है। जब व्याप्ति प्रत्यक्ष नहीं तो उसमें दोष उपस्थित होगा और उसका हेतु प्रामाणिक नहीं माना जायगा। जैसे धुआँ दिखाई देता है तो अग्नि भी अवश्य होगा क्योंकि अग्नि के बिना धुआँ हो ही नहीं सकता। इसमें व्याप्ति प्रत्यक्ष रूप से है।

असन् संदिग्धश्चानपदेशः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—च=तथा, असन्=असिद्ध, सन्दिग्ध =सन्देहास्पद, अनपदेश =हेत्वाभाव ही है।

व्याख्या—जहाँ व्याप्ति होने मे सन्देह हो, अथवा व्याप्ति होना सिद्ध न हो सके, वह हेतु भी दूषित मानना चाहिए। सूत्रकार ने असिद्ध व्याप्ति और सदेहास्पद व्याप्ति के हेतुओ को हेत्वाभाव ही माना है। अर्थात्, जहाँ निमित्त कारण का अभाव है, वहाँ व्याप्ति भी सन्देहास्पद होगी, जैसे अग्नि नही तो धुँआ भी नही हो सकता।

यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥१७॥

सूत्रार्थ—विषाणी=सीगवाला, यस्मात्=होने से, तस्मात् अश्व =यह अश्व होगा।

व्याख्या—'इसके सीग हैं तो यह घोडा होगा,' इस प्रकार घोडे को सीग वाला बताना मिथ्या होने के कारण हेत्वाभाव ही है। क्योंकि सीग तो गाय, भैंस आदि के होते हैं, घोडा, गधा, खरगोश आदि के नही होते। घोडे का होना सीग प्रमाण से कदापि सिद्ध नही हो सकता। इससे यही मानना होगा कि घोडे को सीग से पहिचानना विरुद्ध कल्पना और हेत्वाभाव ही है।

यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरित्यनैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—च=तथा, विषाणी=सीगयुक्त, यस्मात्=होनें से, तस्माद्गौ=यह गौ है, इति=इस प्रकार, अनैकान्तिकस्य=अति व्याप्ति वाले हेतु का, उदाहरणम्=दृष्टान्त है।

व्याख्या—यह सींग वाली है, इसलिए गौ होगी, क्योंकि गौ के सींग होते हैं, तो यह दृष्टान्त अति व्याप्ति वाले हेतु का होने से, इसमें

भी बोध है। सींग वाले पशु तो अनेक हैं भैंस भी सींग वाली है, हरिण के भी सींग होते हैं यदि सींग वाले को भी ही कहें तो सब सींग वाले पशु भी हो जायेंगे। इस प्रकार जो हेतु साध्य को छोड़कर औरों में भी चला जाय अर्थात् गौ के अतिरिक्त भैंस आदि को भी सिद्ध करे, वह दृष्टान्त भी हेत्वाभास ही कहा जायगा। यहाँ सींग वाली होने से भी की ही सिद्धि नहीं होती भैंस आदि की भी सिद्ध हो सकती है इसलिए यह हेत्वाभास दृष्टान्त है। हेत्वाभास दृष्टान्त ५ प्रकार के कहे गए हैं—(१) अनैकान्तिक (२) विरुद्ध (३) प्रकरणसम (४) साध्यसम (५) कालातीत। इसी प्रकार, हेतु तीन प्रकार के हैं—केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। प्रथम हेतु साध्य में समान रूप से पाया जाने से सिद्ध होता है, दूसरा हेतु साध्य से बिल्कुल ही अलग और उसका विरोधी होता है तथा तीसरा हेतु किसी अंश में मिलता और किसी में नहीं मिलता।

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यत् निष्पद्यते तदन्यत् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—*आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्*—आत्मा में आश्रित इन्द्रियों के विषय-सम्बन्ध से यत्—जो निष्पद्यते—ज्ञान पैदा होता है तत्—वह ज्ञान अन्यत्—आत्म-ज्ञान से दूसरा है।

व्याख्या—आत्मा की आश्रित इन्द्रियों के विषय योग आदि सम्बन्ध के कारण जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह ज्ञान आत्म-ज्ञान नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान तो विषयों से निवृत्त होने पर ही हो सकता है। इन्द्रियों को आत्मा में आश्रित इसलिए कहा है कि इन्द्रिय अचेतन होने से विषयों में स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकतीं उनकी प्रवृत्ति आत्मा की प्रेरणा से ही होती है। इस प्रकार का विषयजन्य ज्ञान मोक्ष को सिद्ध करने वाला न होने से आत्मज्ञान से भिन्न कहा गया है।

प्रवृत्तिनिवृत्ति च प्रत्यगात्मनि दृष्टं परत्र लिङ्गम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—च=और, प्रत्यगात्मनि=अपने आत्मा की सिद्धि मे, प्रवृत्तिनिवृत्ति =प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण रूप हैं, वैसे ही, परत्र=अन्य शरीर मे स्थित होना भी आत्मा का, लिङ्गम्= लक्षण है।

व्याख्या—जैसे, विषयो की प्रवृत्ति और निवृत्ति से अपने आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, वैसे ही, दूसरो के शरीरो मे प्रवृत्ति या निवृत्ति का पाया जाना, उनमे भी आत्मा का होना सिद्ध करता है। इसका आशय यह है कि शरीर मे जब राग, द्वेष, या विषय भोग की प्रवृत्ति होती है और फिर भोगो से सन्तुष्टि हो जाने पर उनका त्याग कर दिया जाता है। इस प्रकार विषयों मे प्रवृत्ति और निवृत्ति होने से आत्मा का अस्तित्व भी सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मा की प्रेरणा से ही मनुष्य विषयो में फँसता और आत्मा की प्रेरणा से ही विषयों को त्यागता है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति या निवृत्ति दूसरे शरीरो मे भी देखी जाती है और इसी से सिद्ध होता है कि उन शरीरो मे भी आत्मा है। क्योंकि, चेष्टा करना चेतन आत्मा का ही लक्षण है, अचेतन शरीर का नही है।

॥ तृतीयोऽध्याय -प्रथमाह्निकम् समाप्त ॥

तृतीयोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च-मनसो लिङ्गम् ॥ १

सूत्रार्थ—आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षे=आत्मा की आश्रित इन्द्रियों का विषयो से सम्बन्ध होते हुए, ज्ञानस्य=ज्ञान का,

भाव = होना च = और, अभाव = न होना मनसः = मन की सिद्धि में लिंगम् = लक्षण स्वरूप है।

व्याख्या—इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होने पर ज्ञान का न होना अथवा ज्ञान का उत्पन्न हो जाना मन के कारण ही पाया जाता है, इसलिए, इसे ज्ञान का लक्षण कहा गया है। क्योंकि इन्द्रियों से मन का संयोग होता है और आत्मा का संयोग मन से होता है, उधर इन्द्रिय विषयों से सम्बन्ध रखती हैं इसलिए, इन्द्रिय का विषय मन के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जब इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं, तब ज्ञान का अभाव रहता है और विषयों को त्यागकर परमार्थ तत्त्व में लगती हैं तब ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्ञान का उत्पन्न होना न होना मन का ही लक्षण है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥

पदार्थ—वायुना = वायु के समान तस्य = मन का द्रव्यत्व नित्यत्वे = द्रव्यपन और नित्य होना व्याख्याते = कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु को द्रव्य और नित्य कह चुके हैं, वैसे ही मन भी द्रव्य और नित्य ही है। क्योंकि वह संयोग और गुणों का आश्रय है तथा कल्पान्तर सृष्टि में उसका उत्पन्न होना भी नहीं पाया जाता। संयोग और गुण का आश्रय होने से उसे द्रव्य मानना ठीक है और सृष्टि-काल में उसकी उत्पत्ति न होने से वह नित्य है—जो जन्म-मरण से रहित है, वह नित्य है। इसलिये मन को द्रव्य और नित्य कहा गया है।

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥३॥

पदार्थ—ज्ञानायौगपद्यात् = ज्ञान के विषयों का योग होने से च = और, प्रयत्नायौगपद्यात् = कर्मेन्द्रियों के कार्य करने से ऐकम् = मन का एक होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—एक समय मे एक कर्मेन्द्रिय काम करती है तथा ज्ञान भी एक विषय का ही होता है, और मन का सम्बन्ध ज्ञान के विषय और कर्मेन्द्रिय दोनो से ही है, इसलिए मन एक ही है। यदि मन बहुत होते तो एक साथ बहुत से कर्म हो जाते और ज्ञान के भी अनेक विषय साथ-साथ उपलब्ध होते जाते। परन्तु, ऐसा नही होता, इसलिए मन को एक ही मानना ठीक है।

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराःसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंग. ॥४॥

सूत्रार्थ—प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकार =प्राण अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुखदु खेच्छा प्रयत्ना.=सुख, दु ख, इच्छा और प्रयत्न, च=और प्रमाणादि, आत्मन =आत्मा के, लिगानि= लक्षण है।

व्याख्या—प्राण, अपान अर्थात् स्वांस खीचना और निकालना, निमेष और उन्मेष अर्थात् पलक खोलना और बन्द करना, जीवन अर्थात् जिन्दगी, मन की गति और इन्द्रियो के विकाररूप सुख, दु ख, इच्छा और भोग-प्राप्ति के प्रयत्न यह सब आत्मा के लक्षण मानने चाहिए। प्राण इन सब में प्रमुख है, क्योंकि वही भोजन को पचाता है और भूख-प्यास की स्थिति भी प्राण से ही है। तब, शका हुई कि इ जिन भी भोजन को पचा कर बाहर निकाल देता है अर्थात् उसमे भी कोयले आदि भस्म होकर राख बाहर निकल जाती है और पलक खोलना और बन्द करना यह बात कुछ फूलो मे भी पाई जाती है, उनकी पखुरियां खुलती, बन्द होती हैं और जीवन भी वृक्षो में है, परन्तु, मन की गति और इन्द्रियो की चेष्टा यह कार्य न इ जिन कर सकता है, न वृक्ष कर सकते हैं। यदि इ जिन का ही उदाहरण का लें तो विना चालक के वह चल ही

भाव = होना च = और, अभाव = न होना मनसः = मन की सिद्धि में लिंगम् = लक्षण स्वरूप है।

व्याख्या—इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होने पर ज्ञान का न होना अथवा ज्ञान का उत्पन्न हो जाना मन के कारण ही माना जाता है, इसलिए, इसे ज्ञान का लक्षण कहा गया है। क्योंकि इन्द्रियों से मन का संयोग होता है और आत्मा का संयोग मन से होता है, उधर इन्द्रिय विषयों से सम्बन्ध रखती हैं, इसलिए, इन्द्रिय का विषय मन के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जब इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं, तब ज्ञान का अभाव रहता है और विषयों को त्यागकर परमार्थ तत्त्व में लगती हैं तब ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्ञान का उत्पन्न होना न होना मन का ही लक्षण है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥

सूत्रार्थ—वायुना = वायु के समान तस्य = मन का द्रव्यत्व नित्यत्वे = द्रव्यपन और नित्य होना व्याख्याते = कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु को द्रव्य और नित्य कह चुके हैं वैसे ही मन भी द्रव्य और नित्य ही है। क्योंकि वह संयोग और गुणों का आश्रय है तथा अवान्तर सृष्टि में उसका उत्पन्न होना भी नहीं पाया जाता। संयोग और गुण का आश्रय होने से उसे द्रव्य मानना ठीक है और सृष्टि काल में उसकी उत्पत्ति न होने से वह नित्य है—जो जन्म-मरण से रहित है, वह नित्य है। इसलिये मन को द्रव्य और नित्य कहा गया है।

प्रयत्नायौगपद्यात् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥३॥

सूत्रार्थ—ज्ञानायौगपद्यात् = ज्ञान के विषयों का योग होने से च = और, प्रयत्नायौगपद्यात् = कर्मेन्द्रियों के काम करने से ऐक्यम् = मन का एक होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—एक समय मे एक कर्मेन्द्रिय काम करती है तथा ज्ञान भी एक विपय का ही होता है, और मन का सम्वन्ध ज्ञान के विषय और कर्मेन्द्रिय दोनो से ही है, इसलिए मन एक ही है। यदि मन वहुत होते तो एक साथ वहुत से कर्म हो जाते और ज्ञान के भी अनेक विषय साथ-साथ उपलव्ध होते जाते। परन्तु, ऐसा नही होता, इसलिए मन को एक ही मानना ठीक है।

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराःसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगः ।।४।।

सूत्रार्थ—प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकार =प्राण अपान, निमेप, उन्मेप, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुखदु खेच्छा प्रयत्ना.=सुख, दु ख, इच्छा और प्रयत्न, च=और प्रमाणादि, आत्मन =आत्मा के, लिंगानि= लक्षण है।

व्याख्या—प्राण, अपान अर्थात् स्वाँस खीचना और निकालना, निमेष और उन्मेष अर्थात् पलक खोलना और वन्द करना, जीवन अर्थात् जिन्दगी, मन की गति और इन्द्रियो के विकाररूप सुख, दु ख, इच्छा और भोग-प्राप्ति के प्रयत्न यह सब आत्मा के लक्षण मानने चाहिए। प्राण इन सब मे प्रमुख है, क्योकि वही भोजन को पचाता है और भूख-प्यास की स्थिति भी प्राण से ही है। तव, शका हुई कि इ जिन भी भोजन को पचा कर वाहर निकाल देता है अर्थात् उसमे भी कोयले आदि भस्म होकर राख वाहर निकल जाती है और पलक खोलना और वन्द करना यह वात कुछ फूलो मे भी पाई जाती है, उनकी पखुरियाँ खुलती, वन्द होती हैं और जीवन भी वृक्षो मे है, परन्तु, मन की गति और इन्द्रियो की चेष्टा यह कार्य न इ जिन कर सकता है, न वृक्ष कर सकते हैं। यदि इ जिन का ही उदाहरण का लें तो विना चालक के वह चल ही

नहीं सकता उसका धर्म होगा पानी लेना चाप छोड़ना आदि कार्य भी मनुष्य की सहायता के बिना नहीं हो सकते। इसी प्रकार, शरीर भी आत्मा के बिना कोई चेष्टा नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि प्राण अपान निमेष-उन्मेष आदि सब आत्मा के ही लक्षण हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥५॥

सूत्रार्थ—वायुना=वायु के समान तस्य=उस आत्मा का द्रव्यत्वनित्यत्वे=द्रव्य होना और नित्य होना व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु का द्रव्य होना और नित्यत्व कहा गया है, वैसे ही आत्मा भी द्रव्य और नित्य है। कुछ व्यक्ति शंका करते हैं कि यदि आत्मा द्रव्य और नित्य है तो उसके गुण सुख दुख-दुःखादि भी नित्य होंगे? उसका समाधान करते हैं कि यदि सुख नित्य होता तो कभी किसी को दुख शोक आदि की अनुभूति ही नहीं होती और यदि दुख नित्य होता तो कभी सुख के दर्शन ही नहीं होते और सब जीव दुख ही दुख भोगते दिखाई देते। परन्तु, संसार में ऐसा नहीं देखा जाता कभी कोई दुखी है तो कभी कोई सुखी है, इसलिये सुख-दुःखादि नित्य नहीं अनित्य हैं क्योंकि सुख दुखादि आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं नैमित्तिक गुण हैं अर्थात् शरीर सम्बन्ध से ही उनका होना संभव होता है। अतः यही मानना ठीक है कि आत्मा ही द्रव्य और नित्य है।

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंगं न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ—इति=यह यज्ञदत्त=यज्ञदत्त है सन्निकर्षे=शरीर का इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर भी प्रत्यक्षाभावात्=प्रत्यक्ष न होने से दृष्टं लिंगम्=प्रत्यक्ष लक्षण न विद्यते=नहीं हो सकता।

व्याख्या—आत्मा प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नही देती। जैसे एक व्यक्ति यज्ञदत्त नामक है, उसके शरीर और इन्द्रियो से सम्बन्धित रहने वाला आत्मा 'यह यज्ञदत्त है' ऐसा कहने पर भी सिद्ध नही होता, क्योकि यज्ञदत्त की जो आत्मा है, वह किसी को दिखाई नही देती। इस प्रकार आत्मा के दिखाई न देने के कारण उसका कोई लक्षण भी नियत नही कर सकते और तब किसी लक्षण को आत्मा का लक्षण मानना मिथ्या होगा।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—च=और, सामान्यतोदृष्टात्=सामान्यतोदृष्ट प्रमाण से अर्थात् अनुमान से सिद्ध होना, अविशेष=विशेष नही है।

व्याख्या—सामान्यतोदृष्ट प्रमाण से इन्द्रियो का होना आत्मा के पक्ष में लक्षण मान लिया जायगा, परन्तु, ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि सामान्यतोदृष्ट रूप अनुमान तो प्रत्यक्ष वस्तु के व्याप्ति-सम्बन्ध के ज्ञान से उत्पन्न होता है, जैसे, धुँआ है तो अग्नि अवश्य होगा। यदि धुँआ नही और अग्नि भी दिखाई नही दे रहा है तो वहाँ अग्नि होगा या नही, यह कौन कह सकता है ? इसी प्रकार, आत्मा का व्याप्ति-सम्बन्ध इन्द्रियो से नही बनता, इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय आदि आत्मा के लक्षण नही हैं।

तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—तस्मात्=उस अनुमान से जिस द्रव्य की सिद्धि होती है, वह, आगमिक=शास्त्रो द्वारा सिद्ध है।

व्याख्या—अनुमान से जिस आत्मा की सिद्धि होती है, वह आत्मा सब शास्त्रो से सिद्ध है। यजुर्वेद मे "आत्मैवा भूद्विजानत" के अनुसार 'आत्मा को जानने योग्य' कहा है।

नहीं सकता उसका गर्म होना पानी लेना भाप छोड़ना आदि कार्य भी मनुष्य की सहायता के बिना नहीं हो सकते। इसी प्रकार, शरीर भी आत्मा के बिना कोई चेष्टा नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि प्राण अपान निमेष-उन्मेष आदि सब आत्मा के ही लक्षण हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥५॥

सूत्रार्थ—वायुना=वायु के समान तस्य=उस आत्मा का द्रव्यत्वनित्यत्वे=द्रव्य होना और नित्य होना व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु का द्रव्य होना और नित्यत्व कहा गया है, वैसे ही आत्मा भी द्रव्य और नित्य है। कुछ व्यक्ति शंका करते हैं कि यदि आत्मा द्रव्य और नित्य है तो उसके गुण रूप सुख-दुःखादि भी नित्य होंगे? उसका समाधान करते हैं कि यदि सुख नित्य होता तो कभी किसी को दुःख शोक आदि की अनुभूति ही नहीं होती और यदि दुःख नित्य होता तो कभी सुख के दर्शन ही नहीं होते और सब जीव दुःख ही दुःख भोगते दिखाई देते। परन्तु, संसार में ऐसा नहीं देखा जाता कभी कोई दुःखी है तो कभी कोई सुखी है, इसलिये सुख-दुःखादि नित्य नहीं अनित्य हैं क्योंकि सुख दुःखादि आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं नैमित्तिक गुण हैं अर्थात् शरीर सम्बन्ध से ही उनका होना संभव होता है। अतः यही मानना ठीक है कि आत्मा ही द्रव्य और नित्य है।

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंगं न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ—इति—यह यज्ञदत्त=यज्ञदत्त है सन्निकर्षे=शरीर का इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर भी प्रत्यक्षाभावात्=प्रत्यक्ष न होने से दृष्टं लिंगम्=प्रत्यक्ष लक्षण न विद्यते=नहीं हो सकता।

व्याख्या—आत्मा प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नही देती। जैसे एक व्यक्ति यज्ञदत्त नामक है, उसके शरीर और इन्द्रियो से सम्बन्धित रहने वाला आत्मा 'यह यज्ञदत्त है' ऐसा कहने पर भी सिद्ध नही होता, क्योंकि यज्ञदत्त की जो आत्मा है, वह किसी को दिखाई नही देती । इस प्रकार आत्मा के दिखाई न देने के कारण उसका कोई लक्षण भी नियत नही कर सकते और तब किसी लक्षण को आत्मा का लक्षण मानना मिथ्या होगा ।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ।। ७ ।।

सूत्रार्थ—च=और, सामान्यतोदृष्टात्=सामान्यतोदृष्ट प्रमाण से अर्थात् अनुमान से सिद्ध होना, अविशेष=विशेष नही है ।

व्याख्या—सामान्यतोदृष्ट प्रमाण से इन्द्रियो का होना आत्मा के पक्ष मे लक्षण मान लिया जायगा, परन्तु, ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि सामान्यतोदृष्ट रूप अनुमान तो प्रत्यक्ष वस्तु के व्याप्ति-सम्बन्ध के ज्ञान से उत्पन्न होता है, जैसे, धुँआ है तो अग्नि अवश्य होगा । यदि धुँआ नही और अग्नि भी दिखाई नही दे रहा है तो वहाँ अग्नि होगा या नही, यह कौन कह सकता है ? इसी प्रकार, आत्मा का व्याप्ति-सम्बन्ध इन्द्रियो से नही बनता, इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय आदि आत्मा के लक्षण नही हैं ।

तस्मादागमिकः ।। ८ ।।

सूत्रार्थ—तस्मात्=उस अनुमान से जिस द्रव्य की सिद्धि होती है, वह, आगमिक =शास्त्रो द्वारा सिद्ध है ।

व्याया—अनुमान से जिस आत्मा की सिद्धि होती है, वह आत्मा सब शास्त्रों से सिद्ध है । यजुर्वेद मे "आत्मैवा भूद्विजानत" के अनुसार 'आत्मा को जानने योग्य' कहा है ।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—अहमिति='अहं' इस शब्दस्य=शब्द का व्यतिरेकात्=व्यतिरेक होने से आगमिकम्=शास्त्र ही उसका प्रमाण न=नहीं है।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि आत्मा की सिद्धि केवल शास्त्र प्रमाण से ही है तो यह ठीक नहीं है। मनुष्य सांसारिक व्यवहार में जो 'मैं' शब्द का प्रयोग करता है, उसका लक्ष्य आत्मा के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। पृथ्वी जल वायु आदि आठ प्राकृतिक द्रव्यों में से कोई भी आत्मा का वाची नहीं हो सकता। कोई यह नहीं कहता कि "मैं पृथ्वी हूँ" या "मैं जल हूँ"। इससे सिद्ध होता है कि 'मैं' शब्द का प्रयोग पंच महाभूतों से निर्मित शरीर के बजाय आत्मा के लिये ही किया जाता है।

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥

सूत्रार्थ—यदि=यदि अहं देवदत्त=मैं देवदत्त हूँ, अहं यज्ञदत्त=मैं यज्ञदत्त हूँ इति=इस प्रकार का अनुभव अन्वक्षम्=आत्मा का प्रमाण दृष्टम्=प्रत्यक्ष है।

व्याख्या—'मैं देवदत्त हूँ' अथवा 'मैं यज्ञदत्त हूँ' यदि ऐसा मान लेने से ही आत्म का ज्ञान हो जाय तो उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण आदि की क्या आवश्यकता है ? इसलिये सामान्यतोदृष्ट आदि अनुमान की आत्म-सिद्धि में आवश्यकता नहीं है।

दृष्टे आत्मनिर्लिंगे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥११॥

सूत्रार्थ—आत्मनिर्लिंगे=आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान आदि लक्षणों के दृष्टे=देखे जाने पर प्रत्ययः=आत्मा का अनुमान

एव=ही, एक=एक, दृढत्वात्=दृढ होने के कारण, प्रत्यक्षवत्=प्रत्यक्ष प्रमाण के समान है।

व्याख्या—आत्मा के लक्षण ज्ञान आदि हैं और वे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इससे, आत्मा का अनुमान भी प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही है। क्योंकि, ज्ञान आदि गुण अचेतन शरीर के नही हो सकते, आत्मा ही ज्ञान मे प्रवृत्त हो सकता है, इसलिये आत्मा की अनुमान से सिद्धि भी प्रत्यक्ष सिद्धि जैसी ही है। जैसे कि दूर से किसी जलाशय को देखकर अनुमान होता है कि यहाँ जल हो सकता है, परन्तु, वहाँ पक्षियो को उडता देखकर यह निश्चय हो जाता है कि जल अवश्य होगा, वैसे ही ज्ञान आदि के होने मे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥१२॥

सूत्रार्थ—देवदत्त=देवदत्त, गच्छति=जाता है, यज्ञदत्त=यज्ञदत्त, गच्छति=जाता है, इति=ऐसी प्रतीति, प्रत्यय=कि मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ आदि, शरीरे=शरीर के प्रति, उपचारात्=औपचारिक ही समझनी चाहिये।

व्याख्या—देवदत्त जाता है, मैं जाता हूँ, इत्यादि 'अह' भाव को शरीर मे मानना, यह उपचार से ही है। अर्थात्, शरीर सम्बन्ध से ही आत्मा शरीर को स्वय मान लेता है, वास्तव मे शरीर से आत्मा भिन्न है। शरीर के गुण को अपने गुण मान कर ही वह भ्रम मे पड जाता है, इसीलिये 'उपचारात्' पद का प्रयोग हुआ है।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१३॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, उपचार=यहाँ उपचार, सन्दिग्ध=सदेहास्पद समझना चाहिये।

व्याख्या—यद्यपि आत्मा में शरीर के गुणों का आरोप अर्थात् मैं देवदत्त हूँ इस प्रकार की प्रतीति उपचार से होती बताई गयी है परन्तु, इस प्रकार का उपचार वास्तविक नहीं संदेहास्पद है। इसमें संदेह यह है कि यहाँ उपचार आत्मा में समझना चाहिये या शरीर में ? इसमें वास्तविक क्या है—यह समझ में नहीं आता।

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात्परत्राभावादर्थान्तर प्रत्यक्ष ॥१४॥

सूत्रार्थ—अहं-इति=मैं हूँ ऐसी प्रतीति प्रत्यगात्मनि=अपनी आत्मा में भावात्=होती है परत्र=दूसरे की आत्मा में अभावात्=न होने से अर्थान्तर=शरीर से पृथक होने का तात्पर्य प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष है।

व्याख्या—'मैं देवदत्त हूँ' इस प्रकार की अनुभूति अपनी ही आत्मा मे होती है, किसी दूसरे की आत्मा में तो होती नहीं क्योंकि दूसरे के लिये तो यह देवदत्त है, यह भोजन कर रहा है यह जा रहा है, ऐसा अनुभव होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मैं देवदत्त हूँ यह आत्मा के लिये ही कहा जा रहा है शरीर के लिये नहीं कहा जा रहा। क्योंकि शरीर के लिये 'यह मेरा शरीर है' ऐसा कहा जाता है 'मैं शरीर हूँ' ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिये अहं भाव की प्रतीति आत्मा में ही होती है शरीर मे नहीं होती।

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीर प्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥

सूत्रार्थ—देवदत्त गच्छति=देवदत्त जाता है इति=ऐसी प्रतीति तथा अहंकार="अहं" भाव उपचारात्=उपचार से तावत्=उसके समान अभिमानात्=अभिमान से शरीर=शरीर में प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष रूप से है।

व्याख्या—'देवदत्त जाता है' इस प्रकार का ज्ञान शरीर मे स्थित अहकार के कारण, उपचार से होता है। क्योकि, जिस पदार्थ मे अहकार होता है, उसके नष्ट होने से दु ख होता है, जिसमे अहकार नही होता, उसके नष्ट होने मे दु:ख नही होता। जब तक अभिमान रहता है, जैसे मैं ताकतवर हूँ, मुझे कौन मार सकता है तो उस अभिमान का भी आत्मा अपने मे ही आरोप कर लेता है। इस प्रकार का आरोप उपचार से ही होता है।

संदिग्धस्तूपचारः ॥१६॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, उपचार =उपचार (यहाँ भी), सदिग्व =सदेह उत्पन्न करने वाला है।

व्याख्या—परन्तु, इसमे भी सन्देह है कि 'देवदत्त जाता है' इसमे उपचार है या 'मैं सुखी हूँ' इस अभिमान भाव मे उपचार है? क्योंकि एक शरीर के लिये ही, बहुत-से शब्दो का प्रयोग होता है, इसलिये कौन-सा शब्द वास्तविक है ओर कौन-सा औपचारिक है—यही नही कहा जा सकता।

न तु शरोरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥१७॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, यज्ञदत्तविष्णुमित्रयो =यज्ञदत्त और विष्णु का मित्र सम्बन्धी, ज्ञानम्=ज्ञान, विषय =आत्म-विषयक, न=नही है, शरोर विशेषात्=शरीर की विशेपता से है।

व्याख्या—यज्ञदत्त और विष्णु दो मित्र हैं, उनकी मित्रता का सम्बन्ध ही उनके शरीरो के अलग-अलग होने की बात सिद्ध करता है। उनके शरीर का आकार-प्रकार एक-सा नही, एक लम्बा है, दूसरा ठिगना, एक गोरा है, दूसरा काला, इस प्रकार यह शरीर की भिन्नता

और उनसे सम्बन्धित ज्ञान का भिन्न होना भी पाया जाता है। इन दोनों के ज्ञान से यह मानना होगा कि ज्ञान आत्मा के आश्रय में रहता है शरीर के आश्रय में नहीं इसलिये ज्ञान आत्मा का है परन्तु मुख-दुःख ऊँचाई, निचाई, आदि गुण शरीर के हैं। शरीर में ही 'अहं' भाव का उपचार से ग्रहण होता है—यही मान्यता ठीक है।

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्य
भिचाराद्विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥

सूत्रार्थ—मुख्ययोग्याभ्याम्=मुख्य और योग्य इति=इस अहम्=अहं प्रत्यय से विशेष सिद्धे=आत्मरूप द्रव्य की विशेष सिद्धि होने से और, व्यतिरेकाव्यभिचारात्=अहं प्रत्यय के न होने का दोष न होने से शब्दवत्=शब्द के समान आगमिकः=शास्त्र प्रमाण से ही सिद्ध न=नहीं है।

व्याख्या—अहं प्रत्यय अर्थात् 'मैं हूँ' यह ज्ञान आत्मा के अस्तित्व को बताता है शरीर के अस्तित्व को नहीं। यह ज्ञान केवल शास्त्र से ही सुना हुआ ज्ञान नहीं है, बल्कि मन के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। यदि आत्मा में 'मैं हूँ' इस प्रकार के अनुभव का अभाव होता तो अर्थात् 'मैं हूँ' का अनुभव न होता तो आत्मा के अस्तित्व सिद्ध होने में अवश्य दोष माना जा सकता था परन्तु, यहाँ ऐसा दोष नहीं है। इसलिये भी मुख्य रूप से आत्मा ही 'अहं' अर्थात् 'मैं हूँ' कहने में योग्य है शरीर इस योग्य नहीं है। यदि आत्मा निकल जाय तो शरीर को 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान हो ही नहीं सकता। क्योंकि शरीर अचेतन है और आत्मा के निकलते ही वह निश्चेष्ट तथा ज्ञान-रहित हो जाता है। आत्मा का अपने को सुखी या दुःखी मानना मन के द्वारा ही है। जैसे शब्द गुण व्यतिरेक अर्थात् पृथक करने से बिना किसी दोष के आकाश में सिद्ध होता है वैसे ही 'मैं हूँ' यह शब्द व्यतिरेक अर्थात् आत्मा और शरीर का भेद करने से आत्मा में आश्रित होना ही सिद्ध होता है।

सुख दुःख ज्ञान निष्पत्य विशेषादैकात्म्यम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—सुख दु ख ज्ञाननिष्पत्यविशेषात् = सुख, दु.ख और ज्ञान की उत्पत्ति समान रूप से पायी जाने से, ऐकात्म्यम् = आत्मा एक है ऐसा सिद्ध होता है।

व्याख्या—सब शरीरो मे सुख, दु:ख और ज्ञान की प्रतीति सामान्य रूप से पाई जाती है तथा किसी प्रकार की विशेषता नही मिलती, इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा एक है—अनेक नही हैं, बहुत से घडो मे भरा हुआ पानी एक ही होता है और सब घडो में भरे पानी मे गुण भी सामान्यत एक से ही पाये जाते हैं। वैसे ही बहुत-से शरीर होते हुये भी आत्मा एक ही है क्योकि, आत्मा के गुणो मे कोई अन्तर नही होता। इस प्रकार किसी आत्मा में कोई और किसी आत्मा मे कोई विशेषता प्रत्यक्ष नही होती।

व्यवस्थातो नाना ॥२०॥

सूत्रार्थ—व्यवस्थात =सुख, दु ख आदि की व्यवस्था के होने से, नाना=आत्मा का अनेक होना सिद्ध है।

व्याख्या—सूत्रकार पूर्वपक्ष को स्वीकार नही करते, वे कहते हैं कि आत्मा एक नही अनेक है, क्योकि, शरीर मे सुख-दु ख और ज्ञान की प्रवृत्ति अलग-अलग होती है। यदि आत्मा एक ही होता तो कोई मनुष्य सुख-दु ख का अनुभव नहीं करता, या तो सभी सुखी होते या सभी दु खी होते और ज्ञान भी सब मे समान होता, कोई मूर्ख और कोई विद्वान् अथवा कोई कम विद्वान्, कोई अधिक विद्वान् दिखाई नही देते। इस प्रकार का अवस्था-भेद देखने से आत्मा का अनेक होना ही मानना होगा। किसी घडे मे खारी जल है, किसी मे मीठा जल है तो उसे एक कुए का ही कैसे मान लेंगे ? उसके गुण मे भी समानता नही होगी। इसी; प्रकार आत्मा को भी एक नहीं मान सकते ।

शास्त्र सामर्थ्याच्च ॥२१॥

सूत्रार्थ—च=और शास्त्र सामर्थ्यात्—शास्त्र का सामर्थ्य भिन्न भिन्न होने से भी जीवों का अनेक होना सिद्ध है।

व्याख्या—शास्त्र ज्ञान का भिन्न होना भी जीवों का अनेक होना सिद्ध करता है, अथवा शास्त्र-ज्ञान से भी जीवात्माओं के बहुत होने की सिद्धि है। यथा—"द्वासुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" अर्थात् 'एक वृक्ष पर दो मित्र बैठे हैं उनमें से एक खाता और दूसरा देखता रहता है' इसी प्रकार और भी वेद-वाक्य इसके प्रमाण में मिलते हैं। उक्त श्रुति में जीवात्मा और परमात्मा का भेद प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म स्वरूप से व्यापक होने से परमात्मा कहा गया है। जीवात्माओं में बद्ध जीव और मुक्त जीव का भेद प्रत्यक्ष है। इस सब से जीवात्माओं के अनेक होने की सिद्धि होती है।

॥ तृतीयोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम् समाप्तः ॥

चतुर्थोऽध्यायः प्रथमाह्निकम्

सदकारणवन्नित्यम् ॥१॥

सूत्रार्थ—सत्=भाव, अकारणवत्=अकारण जैसा जो, नित्यम्=नित्य पदार्थ है, वही मूल कारण है।

व्याख्या—जिस विद्यमान वस्तु के अस्तित्व के लिये किसी अन्य कारण की अपेक्षा न हो, वह वस्तु नित्य है। 'सत्' वस्तु वह है जो तीनों कालो मे समान रूप से स्थित रहे, जिसकी उत्पत्ति अथवा विनाश न हो, वह नित्य है। जो कभी हो, कभी न हो, जिसका उत्पन्न होना और नष्ट होना सिद्ध होता हो—वह वस्तु अनित्य कही जाती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका कारण अर्थात् उत्पन्न करने वाला भी अवश्य होगा, परन्तु, जो उत्पन्न नही होती, जिसकी सत्ता सदा रहती है, उसका कारण भी नही होता, वल्कि, अनित्य वस्तु उसकी अपेक्षा रखती हैं, वही वस्तु नित्य है। इस प्रकार, जिसकी सत्ता है और जिसे किसी कारण की आवश्यकता नही है, ऐसी प्रकृति ही इस जगत् का मूल उपादान कारण है।

तस्य कार्यंलिङ्गम् ॥२॥

सूत्रार्थ—तस्य=उस प्रकृति को सिद्ध करने मे, कार्यम्=कार्य रूप जगत् ही, लिंगम्=लक्षण है।

व्याख्या—प्रकृति को जगत् का मूल कारण सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है, क्योकि, उसका कार्य-रूप जगत प्रत्यक्ष है, वही उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिये बहुत है। कार्य

से कारण की और कारण से कार्य की सिद्धि होना सामान्य नियम है। इस प्रकार कार्यरूप जगत से उसके मूल कारण प्रकृति का अनुमान होना उचित ही है। जैसे घड़े को देखकर यह मानना होता है कि यह मिट्टी से बना है। यदि मिट्टी नहीं होती तो घड़ा बन ही नहीं सकता था अथवा वस्त्र है तो उसका कारण कपास होगा क्योंकि कपास से ही धागा बनता है और धागों से वस्त्र बुना जाता है। इसी प्रकार जगत् है तो उसका कारण भी होना ही चाहिये। प्रकृति रूप कारण का कार्य रूप जगत् ही प्रकृति के कारण होने का लक्षण अर्थात् प्रमाण है।

कारणाभावात् कार्याभाव ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—कारण-अभावात्=कारण के न होने से कार्य अभाव=कार्य भी नहीं हो सकता।

व्याख्या—जब कारण नहीं तो कार्य भी नहीं होगा क्योंकि कारण से ही कार्य हो सकता है। कुछ विद्वानों ने इस सूत्र को 'कारण भावात् कार्य भाव' किया है अर्थात् 'कारण हो तो कार्य होगा' बात एक ही है। यदि जगत् का कारण प्रकृति नहीं होती तो जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती थी। यदि कारण से कार्य का नियम न होता तो संसार का कोई कार्य ही नहीं हो सकता था। भवन निर्माण आदि कार्य भी ईंट, चूना मिट्टी आदि कारण के बिना नहीं बन सकते। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा। यह बात भी प्रत्यक्ष है। पीतल के बर्तन पीतल जैसे और लोहे के बर्तन लोहे जैसे ही होते हैं। इससे कार्य कारण के सम्बन्ध की सिद्धि होती है।

अनित्यइतिविशेषत प्रतिषेधभाव ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—अनित्य=पदार्थों का अनित्य होना इति—ऐसा प्रतिषेध भाव=नित्य का निषेध भाव विशेषत=विशेष रूप से उसे सिद्ध करता है।

व्याख्या—ससार के सभी पदार्थ नाशवान् है, उनका नित्य न होना ही, प्रकृति की नित्यता को विशेष रूप से सिद्ध करता है। जो वस्तु अवयव वाली है, वह अवयवो के मिलकर प्रकट होने से पहिले सत्ता-रहित थी, इसलिये उसका नित्य होना सिद्ध नही होता। जो पदार्थ अवयव वाले हैं, वे अवयवो के मिलने पर प्रकट होते हैं और अवयवो के अलग-अलग होने पर नष्ट हो जाते हैं और जो अवयव-रहित हैं वे पदार्थ नित्य माने जाते हैं, क्योकि, वे प्रत्यक्ष नही होते। ससार के उपादान कारण रूप परमाणु अलग-अलग और नित्य हैं।

अविद्या ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—अविद्या=उत्पत्ति और विनाश वाली वस्तु अविद्या से है।

व्याख्या—जगत् की प्रत्यक्ष सत्ता, उत्पत्ति और विनाश वाली है, वही अनित्य है, परन्तु, जो भाव पदार्थ कार्य रूप नही हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष नही हैं, वे हैं प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। इनका कभी जन्म मरण नही होता, वे नित्य हैं, जो लोग नित्य पदार्थों को अनित्य अथवा अनित्य पदार्थों को नित्य मानते हैं। वे भ्रमवश ही ऐसा मानते हैं। सूत्रकार ने इसी को अविद्या कहा है। अर्थात् नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य मानना ही अविद्या है।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—महति=महत् परिणाम वाले द्रव्य मे, अनेक द्रव्यवत्वात्=अनेक द्रव्यत्व होने से, च=और, रूपात्=रूप होने से, उपलब्धि=प्राप्त होती है।

व्याख्या—वे वस्तु प्रत्यक्ष होती हैं जिनका 'महत्' परिणाम हो अर्थात् स्थूल हो। क्योकि, सूक्ष्म पदार्थ दिखाई नही देता। जिनमें अनेक अवयवो का मेल हो वही रूप वाली होकर प्रत्यक्ष होती हैं। एक

द्रव्य भी प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे वायु एक द्रव्य है परन्तु नेत्र उसको देख नहीं सकते। अवयव वाले द्रव्य ही आकार को ग्रहण कर सकते हैं और वही प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु वायु अवयव वाला और महान् होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये एक प्रकार के गुण वाला पदार्थ भी दिखाई नहीं देता।

सत्यपिद्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

पदार्थ—द्रव्यत्वे=द्रव्यपन महत्त्वे=महान् परिणाम के सति=होने से अपि=भी रूपसंस्कार-अभावात्=रूप और संस्कार के न होने से वायोः=वायु की अनुपलब्धिः=प्रकटता नहीं है।

व्याख्या—वायु अनेक परमाणु रूप द्रव्यों के मेल वाला होने से महान् है और उसमें द्रव्यपन भी है परन्तु, उसमें रूप और संस्कार नहीं हैं क्योंकि उसका रूप या आकार-प्रकार नहीं है, इसलिये वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि स्थूल के गुण सूक्ष्म में नहीं आते। रूप अर्थात् तेज अग्नि का गुण है और अग्नि वायु की अपेक्षा अधिक स्थूल है, इसलिये अग्नि का गुण वायु में नहीं आ सकता। यही कारण है कि वायु नेत्र से दिखाई नहीं देता। वायु में केवल स्पर्श गुण है और रूप के साथ स्पर्श गुण भी अग्नि में होता है इससे यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म पदार्थ के गुण स्थूल पदार्थ में हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा सबसे सूक्ष्म है उससे स्थूल है आकाश आकाश से स्थूल वायु और वायु से स्थूल अग्नि है तथा अग्नि से भी स्थूल पृथिवी है। जो अधिक स्थूल पदार्थ हैं वे प्रकट हैं और जो अधिक सूक्ष्म हैं, वे प्रकट नहीं हैं।

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—अनेकद्रव्यसमवायात्=अनेक द्रव्यो के मिलने से, च=और, रूपविशेषात्=रूप की विशेषता से, रूपोपलब्धि:=रूप की प्रकटता सिद्ध होती है।

व्याख्या—अनेक द्रव्यो के मिलने से पदार्थ बनता है और पदार्थ मे ही रूप हो सकता है। एक द्रव्य मे रूप नही होता। यदि एक परमाणु मे रूप होता तो उसे देखना भी सम्भव होता। केवल परमाणुओ के मिलने से ही वे दिखाई नही दे सकते। उनका दिखाई देना तभी सभव है, जब कि वे मिलकर किसी वस्तु का आकार ग्रहण करलें। इससे सिद्ध हुआ कि अनेक द्रव्यो का मिलना और उनका आकार ग्रहण करना यह बातें हो, तभी दिखाई देना हो सकता है, अन्यथा नही हो सकता।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—तेन=उसी प्रकार, रसगन्धस्पर्शेषु=रस, गन्ध और स्पर्श मे भी, ज्ञानम्=ज्ञान, व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे अनेक परमाणुओ का मिलकर आकार ग्रहण कर लेना रूप है और रूप से ही वस्तु की प्रत्यक्षता कही गई है, वैसे ही रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान है। रस नेत्र से नही दिखाई देता, परन्तु जिह्वा से उसका आस्वादन होने से प्रत्यक्ष होता है, गन्ध की अनुभूति नासिका से होती है और स्पर्श-ज्ञान त्वचा के द्वारा होता है। परन्तु, जिह्वा रस का अनुभव जलीय पदार्थ के मेल से ही कर सकती है, जल के परमाणुओ के विना, रस का ज्ञान नही हो सकता, गन्ध भी परमाणुओ के मेल से ही प्रत्यक्ष होगी, जब तक पृथिवी के परमाणु नहीं मिलेंगे तब तक गन्ध नही हो सकती इसी प्रकार वायु के परमाणु मिलने

से त्वचा को स्पर्श का अनुभव हो सकता है वायु के परमाणुओं के बिना नहीं हो सकता।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—तस्य=उसके अभावात्=न होने से अव्यभिचारः=दोष नहीं है।

व्याख्या—यह कहा गया कि संयुक्त पदार्थों के द्रव्य में रूप की प्रकटता रहती है और उसमें गुरुत्व अर्थात् बोझ भी रहता है तो जैसे रूप प्रत्यक्ष होता है वैसे ही गुरुत्व भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु, गुरुत्व का प्रत्यक्ष न होना कोई दोष नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु में दो गुण हों तो वह दोनों ही प्रकट होने चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। जब ऐसा नियम ही नहीं तो व्यभिचार-दोष का भी प्रश्न नहीं उठता। रूप अग्नि का गुण है गुरुत्व पृथिवी का गुण है तो यह दोनों अलग-अलग हैं इसलिये एक गुण का प्रत्यक्ष होना दूसरे गुण का प्रत्यक्ष न होना हो ही सकता है। गुण में गुण नहीं होता अर्थात् गुरुत्व गुण है उसमें रूप गुण नहीं हो सकता। जब गुरुत्व में रूप है ही नहीं तो उसे देख भी नहीं सकते।

संख्याः परिमाणानिपृथक्त्वं संयोगाविभागौपरत्वा परत्वे कर्म च रूप द्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥११॥

सूत्रार्थ—संख्या=संख्या (गणना) परिमाणानि=परिमाण और पृथक्त्वम्=अलग होना संयोगविभागौ=मेल और विभाग परत्वापरत्वे=परत्व और अपरत्व कर्म=कर्म च=ही (सभी) रूपद्रव्यसमवायात्=रूप और द्रव्य का संयोग होने से चक्षुषाणि=नेत्र से ग्राह्य हैं।

व्याख्या—संख्या और परिमाण मिलना अलग होना आदि सब

कर्म अवयव वाले पदार्थों मे ही हो सकते हैं, क्योकि अवयव वाले पदार्थ द्रव्य के सयोग वाले होने से, उनका आकार-प्रकार होता है और इसलिये वह दिखाई देते हैं। इसी प्रकार पर, अपर होना भी उन्ही द्रव्यो से सम्यन्धित है, जो नेत्र से ग्रहण हो सकते हैं। कर्म भी नेत्र से ग्रहण हो सकते हैं। कर्म भो नेत्र से गाह्य है, क्योकि उसका भी रूप वाले पदार्थ से सयोग रहता है। अव, इसे यो समझिये कि चार वैल खडे हैं, उनके चार सथ्यक होने का ज्ञान आंख से ही होगा, कोई वस्तु छोटी है या वडी है यह भी नेत्र से दिखाई देगा, कोई वस्तु सवसे भिन्न आकार-प्रकार की है, यह नेत्र से देखा जा सकता है। इसी प्रकार वस्तुओ का परस्पर मिलना या उनका अलग होना भी नेत्र का ही विषय है। दूध मे पानी मिलाते हुए या आटा मे नमक डालते हुए अथवा दही से मक्खन निकालते हुए आदि सभी कर्म नेत्रो से देखे जा सकते हैं।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—अरूपिषु=विना रूप वाले द्रव्यो मे, अचाक्षुषाणि=गुण नेत्र से ग्रहण नही हो सकते।

व्याख्या—जो द्रव्य दिखाई देते हैं, वे रूप वाले हैं और जो रूप वाले हैं, वही दिखाई देते है। जो पदार्थ रूप वाले नही है, वे नेत्र से नही देखे जा सकते। यही कारण है कि आत्मा आदि की सख्या नहीं जानी जा सकती, क्योकि, आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थ नेत्र से दिखाई नही देते।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—एतेन=इससे, गुणत्वे=गुणत्व मे, च=और, भावे=भाव मे, सर्वेन्द्रियम्=सभी इन्द्रियो से, ज्ञानम्=ज्ञान होना, व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे नेत्र का विषय रूप वाले पदार्थ है, और विना

रूप वाले पदार्थ मन से ग्राह्य नहीं हैं वैसे ही गुण वाले पदार्थों का अनुभव सब इन्द्रियों से होना कहा गया है। रूप रस गन्ध स्पर्श आदि इन पाँच गुणों का नेत्र आदि पाँच इन्द्रियों से ज्ञान होता है। रूप को आँख ग्रहण करती है रस को जिह्वा गन्ध को नासिका स्पर्श को त्वचा और वाणी को वाक् इन्द्रिय। संख्या आदि गुण दो-दो इन्द्रियों से और सुख-दुःख मन से जाने जाते हैं।

॥ चतुर्थोऽध्याय —प्रथमाह्निकम् समाप्तम् ॥

चतुर्थोऽध्याय —द्वितीयाह्निकम्

तत् पुनः पृथिव्यादिकार्यं द्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञकम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—तत्=वह पृथिव्यादिकार्यद्रव्यम्=पृथिवी आदि कार्य रूप द्रव्य पुनः=फिर शरीरेन्द्रियविषय संज्ञकम्=शरीर, इन्द्रिय और विषय कहलाने वाले त्रिविधम्=तीन प्रकार के हैं।

व्याख्या—प्रकृति के विकार रूप कार्य पृथिवी आदि पञ्चतत्त्व तथा शरीर, इन्द्रिय और उनके विषय तीन प्रकार के कहे गये हैं। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और विषय यह तीन भेद हैं। शरीर भोक्ता का भोग स्थान है—जैसे हम किसी घर में रहते हैं तो घर हमारा भोग-स्थान या रहने खाने पीने सोने आदि का स्थान है वैसे ही शरीर रूप घर में यह जीवात्मा रहता है और इसी के द्वारा अपने कर्म-फल रूप भोगों को भोगता है। इन्द्रिय भी शरीर के आश्रित ही रहती हैं और जिस विषय को ग्रहण करना उनका कार्य है, उसे ग्रहण करती रहती हैं।

तीसरा भेद विषय—यह इन्द्रियो से भिन्न होते हुए भी इन्द्रियो के सहयोग से आत्मा के लिये भोग के साधन रूप है। इसी प्रकार पृथिवी के भी तीन भेद माने गये हैं। शरीर भी तीन प्रकार का कहा गया है। (१) कर्त्तव्य योनि—जिसमे पडकर आत्मा भोग अथवा अपवर्ग के लिये कर्म करता है। (२) कर्त्तव्य-भोक्तव्य योनि—जिसमे अपने पूर्व कर्म का फल भोगता और आगे के लिये कर्म भी करता है। (३) भोक्तव्य योनि—जिसमे पडा हुआ जीवात्मा अपने पूर्व सस्कार के अनुसार पूर्व कर्म का फल ही भोगता है, परन्तु आगे के लिये कोई शुभ कर्म नही करता। इसी प्रकार जल, अग्नि और वायु के भी तीन-तीन भेद हैं, परन्तु आकाश के दो ही भेद माने गये हैं।

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षाणाम्=प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यो का, सयोगस्य=सयोग, अप्रत्यक्षत्वात्=प्रत्यक्ष न होने के कारण, पचात्मकम्=पाँच भूतो का कार्य, न=नही, विद्यते=है।

व्याख्या—शरीर आदि को पाँच भूतो का कार्य नही कह सकते, क्योकि अग्नि प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वह दिखाई न देने वाले वायु और आकाश से मिलता हुआ प्रत्यक्ष नही देखा जाता। यदि यह मान लें कि शरीर पृथिवी आदि पांच भूतो से वना है तो वायु और आकाश से वनने के कारण शरीर दिखाई नही देना चाहिये। पृथिवी, जल, अग्नि के मेल से शरीर का कुछ भाग दिखाई देता और कुछ भाग न दिखाई देता। परन्तु, ऐसा नही होता, इसलिये शरीर पच भूतो से वना हुआ नही मान सकते।

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च ।। ३ ।।

सूत्रार्थ—गुणान्तर=गुण का अन्तर अप्रादुर्भावात्=प्रकट न होने से च=भी यही मानना ठीक है।

व्याख्या—यदि पृथिवी जल और अग्नि के संयोग से यह शरीर बना होता तो इसमें जल का गुण गीलापन पतलापन बहना आदि तथा अग्नि के गुण गर्मी और प्रकाश आदि भी पाये जाते। परन्तु, शरीर में यह गुण नहीं पाये जाते केवल गंध गुण मिलता है, इससे सिद्ध होता है कि शरीर पंचभौतिक नहीं पार्थिव अर्थात् पृथिवी तत्व से ही बना है।

न त्र्यात्मकम् ।। ४ ।।

सूत्रार्थ—त्र्यात्मकम्=पृथिवी जल अग्नि के संयोग से बना भी न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—शरीर पंच भौतिक तो नहीं ही है क्योंकि उसमें वायु और आकाश के गुण तो है ही नहीं साथ ही अग्नि और जल के गुण भी नहीं हैं, इसलिये तीन तत्वों से बना हुआ भी नहीं मान सकते। वह तो केवल पृथिवी तत्व से ही बना हुआ सिद्ध होता है।

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ।। ५ ।।

सूत्रार्थ—अणुसंयोग=अणु के संयोग का तु=तो अप्रतिषिद्ध=निषेध नहीं किया है।

व्याख्या—पूर्व सूत्रों में शरीर को पंच भौतिक या त्र्यात्मक होने का निषेध किया गया है। परन्तु, परमाणुओं के संयोग को अमान्य नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर पंच भूतों के परमाणुओं से बना है क्योंकि भोजन अग्नि के संयोग से पचता है वायु के संयोग से रक्त चालन आदि किया तथा जल के संयोग से रक्त, वीर्य आदि बनता है।

इस प्रकार सब भूतो के गुण शरीर मे पाये जाते हैं। पार्थिव अश की अधिकता होने से शरीर को पार्थिव मानने मे भी कोई दोष नही है। गध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है। जब तक शरीर रहता है, तब तक तो उसमे गध रहती ही है, मरने के बाद भी उसमे दुर्गन्ध आदि पैदा होना पाया जाता है। इस प्रकार पृथिवी तत्व के अधिक गुण पाये जाने से शरीर को पार्थिव कहना ही ठीक है।

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—तत्र = उनमे, योनिजम् = योनि से उत्पन्न, च = और, अयोनिजम् = योनि से उत्पन्न न होने वाला, (इस प्रकार), द्विविधम् = दो भाँति का, शरीरम् = शरीर है।

व्याख्या—शरीर दो प्रकार के होते हैं—एक योनिज अर्थात् योनि से उत्पन्न होने वाला और दूसरा अयोनिज अर्थात् योनि से उत्पन्न न होने वाला। योनिज शरीर वह है जो माता-पिता के सयोग से उत्पन्न होता है और अयोनिज उसे कहते है जो माता-पिता के सयोग के बिना ही उत्पन्न हो जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ मे जो ऋषि स्वय उत्पन्न होते हैं, उनका शरीर अयोनिज माना गया है। वे मुक्त अवस्था से वापिस लौट कर नये कर्म करने के लिये ही पृथिवी पर आते हैं, उनका पूर्व कर्म का फल-भोग शेष न रहने के कारण, उन्हें गर्भावस्था के कष्ट नही भोगने होते। योनिज शरीर के भी दो भेद माने गये हैं—एक जरायुज—जो जरायु से उत्पन्न होते हैं—जैसे मनुष्य, पशु आदि तथा दूसरे अण्डज—जो अण्डे से उत्पन्न होते हैं, उनमे पक्षी आदि सम्मिलित हैं।

अनियत दिग्देश पूर्वकत्वात् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—दिग्देश = दिशा और देश, पूर्वकत्वात् अनियत = पहिले से नियत न होने के कारण अयोनिज ही हैं।

व्याख्या—सृष्टि के आरम्भ में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उनकी विद्या और वेश नियत नहीं होते अर्थात् उन्हें कहाँ जाना है, क्या करना है, इत्यादि का निश्चित नियम नहीं होता क्योंकि उनके पूर्व कर्म का फल भोग तो शेष रहता ही नहीं जिससे उनके जन्म आदि का फल-भोग के अनुसार कोई नियत विधान होता। वे तो मुक्त अवस्था से लौटे हुए होने से बिना योनि उत्पन्न होने की विशेषता वाले होते हैं। इसलिये उनके लिये योनि का कोई विधान नहीं होता और बिना योनि देह धारण करने का ही उनके लिये विशेष नियम होता है।

धर्म विशेषाच्च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—च = और धर्म विशेषात् = विशेष धर्म वाले जीव भी अयोनिज ही होते हैं।

व्याख्या—सृष्टि के प्रारम्भ में जिन शरीरों की रचना होती है वह कर्म विशेष के अनुसार ही होते हैं। वे शरीर एक प्रकार से उत्पन्न नहीं होते भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न तथा विभिन्न रूप वाले होते हैं। इनमें सांकल्पिक अर्थात् संकल्प से ही उत्पन्न होने वाले तथा सांसिद्धिक अर्थात् सिद्ध पुरुषों और योगियों के योग बल आदि से उत्पन्न होने वाले भी अयोनिज हैं तथा डाँस मच्छर, कृमि आदि स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले और तृण लता वृक्ष आदि उद्भिज कहे जाने वाले यह सब शरीर अयोनिज ही हैं क्योंकि यह योनि से उत्पन्न नहीं होते।

समाख्याभावाच्च ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—समाख्या = नाम की प्रसिद्धि भावात् = होने से च = भी *ऐसा ही सिद्ध होता है।*

व्याख्या—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अनेक ऋषि अत्यन्त

प्रसिद्ध हो गये हैं। उनमे अ नि, वायु, आदित्य, अ गिरा, ब्रह्मा, स्वयभू, गौतम, भरद्वाज आदि सभी अयोनिज ही हुए हैं। उनकी प्रसिद्धि, महानता और कर्म को ससार मे सभी जानते हैं। परमात्मा के सिवाय उनका माता-पिता अन्य कोई नही था। इसी से सिद्ध होता है कि प्रारम्भ मे ऋषियो की उत्पत्ति अयोनिज होती है।

संज्ञाया आदित्वात् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—सज्ञाया=नाम के, आदित्वात्=प्रारम्भ मे होने से भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—जिन ऋषियो के नाम सृष्टि-काल मे सर्व प्रथम मिलते है, उनके माता-पिता के नामो का कोई उल्लेख नही मिलता सभी सर्गों मे वे नाम उसी प्रकार मिलते हैं। जैसे ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रत्येक सर्ग में सर्व प्रथम होती है। आदित्य, अग्नि आदि सभी नाम अनादि हैं। जिनके माता-पिता नही होते वे यौगिक कहे जाते हैं अर्थात् वायु, अग्नि, अ गिरा, ब्रह्मा, मनु आदि सभी सर्गों में इन्हीं नामो से होते हैं। इस प्रकार, इनके नाम सृष्टि के प्रारम्भ मे सब से पहिले आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह सब ऋषि अयोनिज ही थे।

सन्त्यऽयोनिजाः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—अयोनिजा =अयोनिज होना, सन्त्य=इस प्रकार सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या—उपरोक्त प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि विना योनि के उत्पन्न होने की जो वात कही गई है, वह ठीक है, क्योकि जिस ऋषि का नाम सृष्टि के प्रारम्भ मे कहा गया है और उसके माता-पिता का नामोल्लेख नही किया गया, तो उस ऋषि को अयोनिज अर्थात् विना माता-पिता के सयोग के ही उत्पन्न मानना होगा।

वेदलिङ्गाच्च ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—वेदलिङ्गात्—वेद में इस प्रकार के प्रमाण मिलने से च—भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—वेद प्रमाण से भी अयोनिज शरीर का होना सिद्ध होता है। ब्रह्मा देवगण और ऋषि आदि जो सर्गारम्भ में उत्पन्न हुए, वे सभी अयोनिज थे। यजुर्वेद (३१–१२) में "चन्द्रमा मनसो जात" अर्थात् 'चन्द्रमा ईश्वर के मन से उत्पन्न' कहा गया है। इससे भी अयोनिज शरीर होना सिद्ध होता है।

॥ चतुर्थोऽध्यायः—द्वितीय आह्निकम् समाप्तः ॥

पञ्चमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—आत्म सयोग प्रयत्नाभ्याम्=आत्मा के सयोग व प्रयत्न से, हस्ते=हाथ के द्वारा, कर्म=कर्म होता है।

व्याख्या—जब हाथ के द्वारा कोई कर्म करना हो, तब उसके लिये प्रयत्न और आत्मा का सयोग आवश्यक है। बिना आत्मा के सहयोग के कोई कर्म नही किया जा सकता, क्योकि हाथ आदि अचेतन वस्तु मे क्रिया का अभाव है, आत्मा के सयोग से ही हिलना-डुलना, किसी वस्तु को उठाना, तोड़ना, बनाना आदि सम्भव है। यदि कहें कि आत्मा का सयोग तो शरीर के प्रत्येक अ ग को हर समय प्राप्त है, जिस अ ग से, जिस समय आत्मा का सम्बन्ध न रहेगा, वह अ ग प्राण-हीन होकर निरर्थक हो जायगा और उसे शरीर से काट कर अलग कर देना होगा। इसलिये, जीवित अ ग से आत्मा का सयोग होगा ही, इस शका को दूर करने के लिये सूत्रकार ने स्पष्ट कह दिया है कि आत्मा के सयोग के साथ प्रयत्न अर्थात् इच्छा शक्ति का भी सम्बन्ध हो तभी हाथ कर्म करने मे समर्थ है। जिस कार्य के करने की इच्छा न होगी, उसे करने के लिये हाथ चेष्टावान् हो ही नही सकता और कर्म भी तभी हो सकता है जब उसे हाथ का सयोग प्राप्त हो। इस प्रकार आत्मा के चाहने पर ही हाथ कर्म करने के लिये चेष्टावान् होता है। इस प्रकार हाथ कर्म का समवायि कारण है।

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार हस्त संयोगात्=हाथ के संयोग से च=ही मुसले=मूसल में कर्म=कर्म उत्पन्न होगा।

व्याख्या—जैसे आत्मा के संयोग से और इच्छा शक्ति के द्वारा हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है वैसे ही हाथ के संयोग से धान कूटते समय मूसल में क्रिया उत्पन्न होती है। जब मूसल नीचे से ऊपर की ओर जाता है तब उसमें हाथ के संयोग से ही क्रिया होती है अर्थात् हाथ के सहारे से ही वह ऊपर होता है, नीचे गिरने में तो उसके भारी होने का भी संयोग है, इसलिये वह बिना प्रयत्न के ही गिर सकता है, परन्तु उस अवस्था में भी हाथ उसे न साधे तो वह ओखली में ही गिरे, यह सम्भव नहीं है। इसलिये नीचे गिरने की अवस्था में भी हाथ का संयोग मानना पड़ेगा। कुछ व्याख्याकारों ने मूसल से गेंद की समता का उदाहरण दिया है कि गेंद ऊपर तो हाथ के संयोग और प्रयत्न से जाती है, परन्तु, नीचे बिना प्रयत्न आती है, उसी प्रकार मूसल के नीचे आने में हाथ का प्रयत्न आवश्यक नहीं है। परन्तु, गेंद तो ऊपर उछलने पर हाथ से अलग हो जाती है और नीचे गिरते समय हाथ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु, मूसल के नीचे गिरते समय भी हाथ उसे पकड़े रहता है और उसका यह प्रयत्न तो रहता ही है कि मूसल ओखली में ही पड़े और उसी स्थिति में पड़े जिसमें कि धान कुटता रहे। इसलिये यही मानना ठीक है कि हाथ के संयोग से ही मूसल में ऊपर जाने और नीचे गिरने की अर्थात् धान कूटने की क्रिया होती है।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—अभिघातजे=चोट देने से उत्पन्न मुसलादौ=मूसल आदि में कर्मणि=कर्म होता है, वह हस्त संयोगः=हाथ

के सयोग का, अकारणम् = कारण नही है, क्योकि, व्यतिरेकात् = उससे अलग होने से, यही सिद्ध होता है ।

व्याख्या—हाथ मे लेकर मूसल को जब ओखली मे मारते है, तब मूसल उस चोट से ही ऊपर को उठ जाता है, उसमे हाथ को कोई प्रयत्न नही करना पडता, इसमे हाथ का सयोग नही, वेग ही कारण है । इसका तात्पर्य यह है कि मूसल के गिरने उठने से एक वेग उत्पन्न हो जाता है और ओखली मे बार-बार धक्का लगने से उस वेग में और भी वृद्धि हो जाती है, तब हाथ के प्रयत्न के बिना ही वह गिरता उठता रहता है । जैसे, साइकिल चलाने वाले साइकिल मे एक साथ पैर मार कर उसमे वेग उत्पन्न कर लेते हैं, तब साइकिल समतल या नीची सडक पर बिना प्रयत्न के ही दौडने लगती है अथवा इजिन किसी डब्बे को धक्का मारकर छोड देता है तो वह डब्बा बिना इजिन के, केवल वेग के द्वारा ही बहुत दूर तक चलता चला जाता है, वैसे ही ओखली से टकराने पर मूसल में वेग उत्पन्न हो जाता है और वह, हाथ के विशेष प्रयत्न के बिना, केवल वेग से ही ऊपर उठता और गिरता रहता है । उसमे हाथ का प्रयत्न न होने से आत्मा का सयोग भी नही रहता और वह आत्म-सयोग इच्छा शक्ति और हाथ के सयोग के बिना ही क्रियाशील रहता है ।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ।।४।।

सूत्रार्थ—तथा = वैसे ही, आत्म सयोग = आत्मा का सयोग, हस्तकर्मणि = हाथ के द्वारा होने वाली क्रिया मे नही है ।

व्याख्या—मूसल के उठने-गिरने वाली क्रिया वेग से होती है और उसमे हाथ का सयोग अमान्य ठहराया गया है, उसी प्रकार हाथ के द्वारा होने वाली क्रिया मे आत्मा का कोई सयोग नही माना जा सकता । उसमे केवल हाथ का और कर्म का सयोग ही होता है, क्योकि कर्म हाथ

के द्वारा होता है आत्मा के द्वारा नहीं होता। कुछ व्याख्याकारों ने इस सूत्र के आशय में हाथ के द्वारा होने वाले कर्म में आत्मा के संयोग को अनावश्यक कहते हुये मन के संयोग से हाथ के द्वारा कर्म होना कहा है।

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

सूत्रार्थ—अभिघातात्=चोट लगाने से मुसल संयोगात्=मूसल का संयोग है इससे हस्ते=हाथ में कर्म=क्रिया होती है।

व्याख्या—मूसल को ओखली से मारते हैं तब उस आघात से वेग उत्पन्न होता है और मूसल ऊपर नीचे होता रहता है। उस वेग के द्वारा ही बाल छूटता है। परन्तु, उसमें हाथ का संयोग यह है कि हाथ उसे पकड़े रहता है। इसमें इच्छा शक्ति का और आत्मा का कोई योग नहीं रहता। मनोयोग की भी आवश्यकता नहीं रहती यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि बाल छूटते हुए भी अन्य बातें होती रहती हैं और मन केवल बाल छूटने से ही नहीं लगा रहता। तब क्रिया 'वेग' के बिना न ही होती रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि हाथ मूसल को पकड़े रहता है परन्तु, मूसल में क्रिया चोट लगाने से उत्पन्न वेग के कारण ही होता है।

आत्मकर्म हस्त संयोगाच्च ॥६॥

सूत्रार्थ—आत्मकर्म=शरीर में होने वाली क्रिया हस्त संयोगात्=हाथ के संयोग से च=और वेग से होती है।

व्याख्या—इस सूत्र में 'आत्म' पद का अर्थ शरीर से है, क्योंकि शरीर में ही वेग के कारण क्रिया हो सकती है, चेतन शरीर में 'वेग' से क्रिया होने का प्रश्न नहीं उठता। ऊपर को उछलता हुआ मूसल हाथ में रहता है और उसके ऊपर उछलने या गिरने की क्रिया वेग से ही होती है और यही कारण है कि सारा शरीर भी उससे हिलता हुआ क्रिया करता रहता है। तात्पर्य यह है कि मूसल भारी होने के कारण नीचे

गिरता है और हाथ उसे पकडे रहता है, इसलिये मूसल के वेग के साथ ही वह भी गिरता और उठता है। मूसल का वेग हाथ मे भी वेग उत्पन्न कर देता है, इस प्रकार क्रिया के सयोग से सब शरीर मे क्रिया उत्पन्न हो जाती है। जैसे भाप से इन्जिन चलता है और इन्जिन से सब गाडियाँ चलती हैं, उसमे यथार्थ रूप मे चलने की क्रिया भाप से ही उत्पन्न होती है, वैसे ही भारी होने के कारण मूसल ओखली से टकरा कर उछलता है और वेग पैदा होने से ऊपर उठता और नीचे गिरता रहता है। इससे हाथ भी क्रिया करता रहता है और हाथ मे क्रिया उत्पन्न होने से पूरे शरीर मे क्रिया उत्पन्न हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर मे होने वाली क्रिया, कर्म के द्वारा उत्पन्न वेग से ही होती है।

संयोगाभावेगुरुत्वात् पतनम् ॥७॥

सूत्रार्थ—सयोग-अभावे=सयोग का अभाव हो जाने पर, गुरुत्वात्=भारी होने के कारण, पतनम्=गिरता है।

व्याख्या—जब मूसल ऊपर उठता है, तब हाथ का अधिक सयोग माना जाता है, परन्तु नीचे गिरते समय हाथ पर कोई जोर नही पडता और उसे कोई प्रयत्न भी नही करना होता इसलिये हाथ का सयोग न होना कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मूसल के नीचे गिरते समय हाथ उसे प्रयत्न पूर्वक नही पकडे रहता, वल्कि पकडने मे केवल इतना ही योग रहता है कि वह इधर-उधर न गिर सके। इस प्रकार स योग का अभाव होने पर, मूसल भारी होने के कारण पृथिवी की गुरुत्व-आकर्षण शक्ति के कारण नीचे गिरता है। अर्थात् मूसल के नीचे गिरने मे हाथ उसे रोकता नही और रुकावट न होने से मूसल स्वय ही नीचे गिर जाता है।

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥८॥

सूत्रार्थ—नोदनविशेषाभावात्=बिना विशेष भाव के, ऊर्ध्वम्=ऊपर को, न=नही जाता, और, तिर्यग्=तिरछा भी, न=नही, गमनम्=जाता।

व्याख्या—विशेष क्रिया के बिना उत्पन्न ऊपर को नहीं उछलता अर्थात् चोट मारने से जो क्रिया विशेष मानी वेग उत्पन्न होता है उसी से वह ऊपर को जाता है तथा प्रयत्नपूर्वक ही वह टेढ़ा तिरछा नहीं चलता। इससे यही सिद्ध होता है कि उसके ऊपर उठने में प्रयत्न विशेष की आवश्यकता है और टेढ़ा तिरछा न चले गिरते समय सीधा ओखली में ही पड़े यह कार्य भी प्रयत्न से ही होता है। यदि प्रयत्न अथवा प्रेरणा न हो तो हाथ भी कार्य नहीं करेगा और मूसल भी क्रिया नहीं कर सकता। इसलिये यही मान्यता ठीक है कि मूसल में क्रिया हाथ के प्रयत्न से ही उत्पन्न होती है, वेग तो प्रयत्न के बाद उत्पन्न होता है। यदि प्रयत्न न किया जाय तो वह टेढ़ा तिरछा चलकर ओखली में ही नहीं चाहे जहाँ गिर सकता है।

प्रयत्नविशेषान्नोदम विशेष ॥६॥

सूत्रार्थ—प्रयत्नविशेषात्=प्रयत्न की विशेषता से नोदन विशेष=प्रेरणा विशेष होती है।

व्याख्या—आत्मा के प्रयत्न से ही विशेष क्रिया होती है और प्रयत्न की विशेषता ही प्रेरणा की विशेषता मानी गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा मन को प्रेरित करता है और मन इन्द्रियों को प्रेरणा देता है तब क्रिया उत्पन्न होती है। प्रेरणा जितनी बलवती होगी उतनी ही क्रिया भी वेग वाली होगी। प्रेरणा ऐसी हो कि यह वस्तु पास में गिरे तो उस वस्तु के फेंकने में वेग कम होने से वह पास में ही गिरेगी और दूर गिराने की प्रेरणा होने पर वेग भी अधिक होगा। इस प्रकार इच्छा शक्ति के द्वारा ही कर्म का वेगवान् होना सिद्ध होता है।

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥१०॥

सूत्रार्थ—नोदन विशेषात्=प्रेरणा विशेष होने से उदसन विशेष=वेग विशेष होता है।

व्याख्या—प्रेरणा के अनुसार ही वेग होता है। प्रेरणा से ही गेंद ऊपर जाती है, उसमे अधिक वेग होगा तो अधिक ऊँची जायगी, कम वेग होगा तो कम ऊँची होगी। इसके साथ ही वेग का कम या अधिक ऊँचा जानावस्तु के भार पर भी निर्भर है। अधिक भारी वस्तु कम ऊँची होगी और कम भार वाली वस्तु अधिक ऊँची जायगी। परन्तु, बहुत हलकी वस्तु तो ऊँची जा ही न सकेगी, जायगी तो बडी कठिनता से। इस प्रकार प्रेरणा से ही कर्म का सिद्ध होना इस सूत्र मे कहा गया है।

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥११॥

सूत्रार्थ—हस्तकर्मणा=हाथ के कर्म को, दारक-कर्म=बालक का खेल, व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—इस सूत्र मे हाथ की क्रिया पर बालक के खेल का दृष्टांत दिया है कि बालक के हाथ-पाँव आदि अङ्ग आत्मा की प्रेरणा से कार्य करते हैं, परन्तु, उसे किसी को हानि-लाभ पहुंचाने की इच्छा नही होती, इसलिये, उसके कार्य किसी पाप-पुण्य के कारण नही होते, वैसे ही, हाथ आदि अङ्गो से होने वाली क्रियाओ मे किसी प्रकार पाप-पुण्य का भाव नही होता। सभी कर्म आत्मा की प्रेरणा से होते हैं और उन कर्मों में जो द्वेष आदि के कारण दूसरो के अहित की भावना होती है, वही पाप-पुण्य का कारण हो सकती है।

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥१२॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, दग्धस्य=जली हुई वस्तु के, विस्फोटने=टूटने, फूटने वाली क्रिया भी भावनात्मक है।

व्याख्या—जैसे आग से जङ्गल के वृक्ष जल जाते है और वे टूट कर इधर-उधर गिरते हैं अथवा पत्थर के टुकडे आग की गर्मी से तडक-तडक कर फूटते और उछट कर गिरते हैं, तो यह क्रिया आत्म प्रेरणा

के बिना ही होती है। इसमें इच्छा शक्ति का भी कोई संयोग नहीं होता। यदि बजाने या तोड़ने फोड़ने की क्रिया किसी प्रयत्न विशेष से अपने ही किसी प्रयोजनवश हो तो उसमें किसी दूसरे को हानि-लाभ पहुँचाने की भावना नहीं होती और वह पाप-पुण्य का कारण नहीं बनती। इसी प्रकार यदि कोई हिंसात्मक कार्य अपनी आत्म रक्षा के लिये किया जाय तो उसमें भी पाप-पुण्य का कोई दोष नहीं लगता क्योंकि ऐसा कार्य न चाहते हुये भी अपने प्राण की रक्षा के लिये करना होता है। जो कार्य दूसरों के हित-अहित के लिये जान बूझकर किये जाते हैं वे पुण्य या पाप के कारण बनते हैं।

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—प्रसुप्तस्य=सोये हुये या अचेत व्यक्ति के यत्न-अभावे=यत्न न करने के कारण चलनम्=वायु द्वारा क्रिया होती है।

व्याख्या—सोता हुआ मनुष्य कोई प्रयत्न नहीं कर सकता फिर भी उसमें सांस लेने आदि की क्रिया प्रत्यक्ष होती देखी जाती है। उसमें वह क्रिया आत्मा की प्रेरणा से नहीं होती वायु के कारण होती है। तात्पर्य यह है कि जिस किसी वस्तु में प्रयोजनपूर्वक कर्म किये जाय वे कर्म जीवात्मा के द्वारा प्रयत्न विशेष से ही होते हुये समझने चाहिये परन्तु, जो क्रिया स्वाभाविक रूप से होती हुई दिखाई दे, उसमें आत्मा का प्रयत्न नहीं मानना चाहिये क्योंकि वे कार्य तो प्रकृति के नियमानुसार सामान्यरूप से होते रहते हैं उनमें कोई विशेषता नहीं मानी जा सकती।

तृण कर्म वायु संयोगात् ॥१४॥

सूत्रार्थ—तृणे=घास में कर्म=क्रिया वायु संयोगात्=वायु के संयोग से होती हुई दिखाई देती है।

व्याख्या—घास बड़ी बूँटी बेल वृक्ष आदि में फलने-फूलने

चढने आदि की क्रिया वायु के सयोग से होती है और वे हिलते, झुकते, शब्द करते हुये दिखाई देते हैं, वह भी वायु के कारण ही होता है। उस क्रिया मे आत्मा मे आत्मा का या व्यक्ति विशेष का कोई प्रयत्न नही होता। इसी प्रकार पागल का हाथ-पाँव हिलाना, उछल-कूद करना या किसी पर आक्रमण करना उसके पागलपन के कारण ही होता है, उसमे आत्मा की कोई प्रेरणा नही होती। क्योंकि, पागल का वह कर्म उसकी अचेत अवस्था मे होता है और वह भी उसके पूर्व कर्म का फल भोग ही है, जो उसे इस प्रकार भोगना पडता है। इससे, यही मानना ठीक है कि जड वस्तु मे क्रिया वायु के द्वारा होती है और चेतन जीवात्मा के विद्यमान रहते हुए भी शरीर जो क्रिया अचेत अवस्था मे करता है, वह भी वायु के द्वारा अथवा दैव-सयोग से करता है, उसमे आत्मा की प्रेरणा नही होती।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—मणि गमनम्=जैसे लोहा चुम्बक की ओर चलता है अथवा, सूच्यभिसर्पणम्=सुई चुम्बक की ओर सरकती है, यह, अदृष्ट कारणम्=अदृष्ट कारण ही है।

व्याख्या—अदृष्ट कारण का तात्पर्य यहाँ आकर्षण शक्ति से है। लोहे का चलना चुम्बक की आकर्षण शक्ति के कारण ही होता है। परन्तु, वह शक्ति दिखाई नही देती। जैसे, चुम्बक के पास लोहा स्वय पहुँचता है, वैसे ही जीवात्मा के पूर्व कर्म के अनुसार भोग-साधन रूप वस्तुऐ जीवात्मा को स्वय मिल जाती हैं, उसके लिये, उसे कुछ प्रयत्न नही करना होता। इस फल भोग रूप साधन की प्राप्ति अदृष्ट द्वारा ही मानी जाती है। क्योंकि, अदृष्ट का तात्पर्य पूर्व जन्म के कर्मों से भी है।

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वेहेतुः ॥१६॥

सूत्रार्थ—इषौ=प्रत्यचा से निकला हुआ तीर, अयुगपत्=

अनेक समयों में संयोगविशेषा = विशेष संयोगों की प्राप्ति होने पर, कर्मान्यत्वे = कर्म के भिन्न होने में हेतु = कारण रूप है।

व्याख्या—तीर में अनेक समयों में होने वाले विशेष कर्म विभिन्न कर्मों के कारण हैं। जब तीर को धनुष की डोरी से छोड़ते हैं तब वह वेग से चलता हुआ अनेक क्रियाऐं करने म समर्थ होता है। अनेक वस्तुओं को चीरता हुआ चलना या किसी दीवार आदि से टकराकर गिरना या किसी वस्तु से टकराकर उछटना और किसी अन्य वस्तु में घुसकर उसे छिन्न भिन्न आदि कर्म संयोग से उत्पन्न कर्म विशेष के कारण ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि तीर चलाने वाला जिस उद्देश्य से तीर चलाता है यदि उस उद्देश्य की पूर्ति न हो तो वह संयोगवश ही माना जायगा। जैसे तीर चलाने वाले ने एक पक्षी का लक्ष्य बनाया उस समय मार्ग भी साफ था और यह प्रत्यक्ष सम्भावना थी कि तीर उस पक्षी के ही लगेगी परन्तु, अकस्मात् कोई वस्तु ऐसी बीच में आजाय जिससे टकराकर तीर किसी और वस्तु पर जाकर उसे नष्ट कर दे तो यह विरुद्ध कर्म संयोगवश ही होगा। इसमें धनुष चलाने वाले की आत्मा मन हाथ और प्रत्यंचा यह चार कारण उस तीर को छोड़ने में हैं, परन्तु बीच में जो विभिन्न कर्म उत्पन्न हुए अथवा तीर नष्ट होगया यह संयोगवश होना ही सिद्ध होता है।

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारा दुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च ॥१७॥

सूत्रार्थ—नोदनात् = प्रेरणा से इषोः = तीर का आद्यम् = प्रथम कर्म = कर्म होता है च = और तत्कर्मकारितात् = उसके कर्तापन से संस्कारात् = संस्कार वश उत्तरम् = आगे का तथा = उसी प्रकार, उत्तरम् = उससे आगे का च = और उत्तरम् = उससे भी आगे का कर्म होता है।

व्याख्या—तीर की जो पहिली क्रिया अर्थात् उसे प्रत्यचा से छोडने वाला कर्म प्रेरणावश होता है। उस प्रथम कर्म से ही सस्कार उत्पन्न होता है, वह सस्कार तीर के वेग से चलने से देखा जाता है अर्थात् तीर मे जो वेग उत्पन्न होता है, वही सस्कार है। उस वेग से तीर में कर्म उत्पन्न होता है, क्योकि यदि वेग न होगा तो वह वेधने आदि की क्रिया नहीं कर सकता और न लक्ष्य पर ही पहुँच सकता है। उस कर्म से दूसरा कर्म और दूसरे कर्म से तीसरा कर्म उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय तीर छोडा जाता है उस समय लक्ष्य भेद ही उस तीर का कर्म समझा जाता है, परन्तु, वेग से चलने के कारण लक्ष्य के बीच मे कोई वेधने योग्य वस्तु आ जाय तो उसे वेधता हुआ आगे बढता है, इस प्रकार वेग के द्वारा बीच की वस्तु को वेधने का कर्म उत्पन्न हुआ और बीच की वस्तु को वेधने से यदि वेग कम हो गया तो लक्ष्य पर न पहुँच कर बीच मे ही गिर गया, यह गिरना रूप कर्म, उस बीच के वेधने से उत्पन्न हुआ और गिरते हुये भी उसने यदि किसी और वस्तु को बीध डाला तो वह कर्म गिरने से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कर्म से कर्म का उत्पन्न होना मानना चाहिये।

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—सस्कार-अभावे=सस्कार के न रहने पर, गुरु-त्वात्=बोझ होने से, पतनम्=गिरता है।

व्याख्या—जब तीर मे वेग नही रहता, तब वह बोझ के कारण गिर जाता है। क्योकि, सभी वस्तुऐ, जिनमे भार होता है, पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से गिर जाती हैं। पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण को सस्कार अर्थात् वेग ही रोके रखता है और जब वेग समाप्त हो जाता है, तब पृथिवी का आकर्षण रोकने वाला कोई आधार नही रहता, इसलिये तीर को नीचे गिरना ही होता है। जैसे, वायुयान का इजिन चलता रहता है, तब तक वायुयान भी चलता रहता है और किसी गडबडी से इजिन

अन्य हो जाता है तो वायुयान गिर जाता है और दुर्घटना हो जाती है। इस प्रकार पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण सब निराधार वस्तुएँ गिर जाती हैं।

॥ पञ्चमोऽध्याय—प्रथम आह्निकम् समाप्तः ॥

पचमोऽध्याय—द्वितीयाह्निकम्

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥

सूत्रार्थ—नोदनाभिघातात्=प्रेरणा के आघात से च=और संयुक्त संयोगात्=मिले हुये पदार्थों के संयोग से पृथिव्याम्=पृथिवी में कर्म=क्रिया होती है।

व्याख्या—पृथिवी मे जो कर्म होता है वह प्रेरणा से या आघात आदि से होता है। वह प्रेरणा दैवी समझनी चाहिये। अर्थात् परमात्मा के सब में व्याप्त होने से अचेतन पृथिवी आदि में गति या कम्पन आदि क्रिया होती है। क्योंकि अचेतन वस्तुओं में स्वाभाविक क्रिया नहीं होती यदि ऐसा होता तो सभी वस्तु क्रिया करती हुई दिखाई देती। जब कोई व्यक्ति किसी अचेतन वस्तु मे गति उत्पन्न करता है तभी वह क्रियाशील होती है। इसी प्रकार पृथिवी दैवी प्रेरणा से और द्रव्यों के संयोग से सूर्य के चारों ओर घूमती है और उस गति के साथ ही विस्फोटक द्रव्यों का संयोग पाकर फटती या हिलती है। संयुक्त संयोगात् पद से तात्पर्य पृथिवी के परमात्मा से संयोग होने से है इसीलिये इस सूत्र के अर्थ में दैवी-प्रेरणा कहा गया है।

तद्विशेषेणाऽदृष्टकारितम् ॥२॥

सूत्रार्थ—तद् विशेषेण=पृथिवी की क्रिया विशेष अदृष्ट कारितम्=अदृष्ट का ही कार्य समझना चाहिए।

व्याख्या—पृथिवी मे जो भूकम्प आदि विशेष क्रियाये होती है, उनका कारण प्रत्यक्ष नही है, बल्कि अदृष्ट अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा ही है। क्योकि, भूकम्प आदि के परिणाम स्वरूप जिनको हानि होती या कष्ट पहुँचता है, वह सब उनके कर्मफल भोग के रूप मे ही होता है। इस प्रकार जीवात्माओ को प्रारब्ध कर्म का फल देने के लिए ही ईश्वर की प्रेरणा से भूकम्प या पृथिवी का फटना आदि क्रियाये होती हैं। यह क्रिया निरर्थक नही होती, उसका कारण अदृष्ट ही है, उसी के द्वारा जीवात्माओ को सुख-दुःखरूप फल-भोग की प्राप्ति होती है।

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥३॥

सूत्रार्थ—अपाम्=पानी, सयोग-अभावे=सयोग के अभाव से, गुरुत्वात्=भारी होने के कारण, पतनम्=गिरता है।

व्याख्या—पानी भारी होता ही है और जब उसे रोकने का कोई आधार नही होता, तब वह पृथिवी की गुरुत्व आकर्षण शक्ति से खिचकर नीचे गिरता है। जब वर्षा होती है, तब पानी नीचे ही गिरता है। मार्ग मे कोई छत आदि होती है, तो उस पर रुक जाता है और पनाला आदि होता है तो उसके द्वारा निकल कर पृथिवी पर गिर जाता है। उसे जैसे-जैसे नीची भूमि मिलती जाती है, वैसे-वैसे ही बहता जाता है।

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥

सूत्रार्थ—द्रवत्वात्=पतला होने के कारण, स्यन्दनम्=नीचे की ओर बहता है।

व्याख्या—पानी गीला और पतला होता है, जितनी भी पतली वस्तु हैं, वे सब नीचे को बहने वाली होती हैं। पानी भी नीचे की ओर बहता है। क्योकि वर्षा की बूंदे पृथिवी पर गिरकर परस्पर मिलती हैं और पानी का धारा के रूप मे हो जाती हैं, इसलिए जल को समवायि अर्थात् मिला हुआ मानते हैं और इसका जो कर्म बहना आदि है वह

असमवायि अर्थात् बिना संयोग के माना गया है और जल में भारीपन ही उसके गिरने का हेतु अर्थात् निमित्त कारण समझना चाहिये। जल का पतलापन ही द्रवत्व है उसी के कारण उसमें बहना पाया जाता है।

नाड्य वायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥

सूत्रार्थ—नाड्य वायु संयोगात्—सूर्य रश्मि और वायु के संयोग से आरोहणम्—ऊपर को चढ़ता है।

व्याख्या—पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है, परन्तु, वह सूर्य की किरणों और वायु के संयोग से ऊपर चढ़ता है। वायु के साथ मिली हुई किरणें ग्रीष्म ऋतु में जल को ऊपर खींचती हैं और जब किरणें निर्बल हो जाती हैं उनमें गर्मी नहीं रहती तब उनका संयोग वायु के साथ नहीं रहता इससे पानी गिरने लगता है। वर्षा ऋतु में बिजली का कड़कना भी वायु और सूर्य किरणों के संयोग को नष्ट करता है।

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥

सूत्रार्थ—नोदनापीडनात्—वायु की प्रेरणा और दबाव से संयुक्तसंयोगात्—संयुक्त संयोग के कारण जल उड़ने लगता है।

व्याख्या—वायु के बलवान होने पर उसके दबाव से जल के कण अलग-अलग होकर किरणों और वायु से मिलकर ऊपर की ओर उड़ने लगते हैं। ग्रीष्म ऋतु में नदियों का पानी जल्दी-जल्दी सूखने लगता है उसका यही कारण है कि धूप तेज होती है वायु की झकोर से पानी उछलता है और सूर्य की किरणें पानी के कणों को अपने में लपेट कर ऊपर ले जाती हैं। इसी प्रकार गर्म होते हुए पानी को देखा जाता है कि वह अग्नि के ताप से उबलता और वायु का संयोग पाकर उड़ता है। भाप बनकर पानी को उड़ते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं। इसके सिवा अन्य कारण से भी जल ऊपर चढ़ता है यह अगले सूत्र में बताते हैं—

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥७॥

सूत्रार्थ—इति=यह, वृक्षाभिसपणम्=वृक्ष की ओर पानी खिचना, अदृष्ट कारितम्=अदृष्ट के कारण से है ।

व्याख्या—वृक्ष की जड मे जो पानी सीचा जाता है, वह पानी वृक्ष के भीतर खिचकर ऊपर की ओर भी जाता है, इसी से वृक्ष फलता-फूलता है। यह अदृष्ट के कारण से होता है। अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा से कर्मफल भोग रूप से वह पानी वृक्ष मे खिचकर उसे बढाता है। क्योकि, वृक्षो मे भी जीवात्मा है और उन्हें भी कर्मफल भोग रूप साधन उपलब्ध होते रहते हैं। परन्तु, उन साधनो की प्राप्ति मे ईश्वरीय प्रेरणा ही कार्य करती है। यहाँ अदृष्ट का तात्पर्य ईश्वर-प्रेरणा से ही समझना चाहिये ।

अपांसंघातो विलयनञ्च तेजःसंयोगात् ॥८॥

सूत्रार्थ—अपाम्=जल का, स घात=जमना, च=और, विलयनम्=गलकर पतला होना, तेज स योगात्=तेज के सयोग से होता है ।

व्याख्या—जल जम कर वर्फ हो जाता है और वर्फ से गल कर पतला हो जाता है, उसकी यह क्रिया तेज के सयोग से होती है। विजली से जब पानी के परमाणु रोके जाने पर द्वयणुक मे पतलेपन को उत्पन्न नही होने देते, तव उन द्वयणुको से वर्फ या ओले वनते हैं और जव गर्मी से वर्फ या ओले पिघल जाते हैं तव वह फिर पानी के रूप मे हो जाते हैं। जल के जमने और पिघलने की क्रियाये तेज के कारण ही होती हैं। जव तेज वर्फ वनाने वाले परमाणुओ पर तीव्र प्रभाव डालकर विभाग वाली क्रिया उत्पन्न करता है तव वर्फ या ओले वन जाते हैं और जव विभाग वाली क्रिया नष्ट हो जाती है, तव द्रवत्व उत्पन्न हो जाने से जल हो जाता है। इस प्रकार इन दोनो क्रियाओ का कारण 'तेज' का होना ही सिद्ध होता है ।

तत्र विस्फूर्जथु लिङ्गम् ॥९॥

सूत्रार्थ—तत्र=उसमें विस्फूर्जथु=विद्युत का चमकना और तड़तड़ाना ही लिङ्गम=प्रमाण है।

व्याख्या—आकाश में कौन-सा तेज है ? यह शंका होने पर उत्तर देते हैं कि आकाश में बिजली रूप तेज है और उसका लक्षण चमकना और तड़तड़ाना है। जब ओले बरसते हैं तब बिजली का चमकना और तड़तड़ाना प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि जिस आकाश में वर्षा के कारक विद्यमान हैं और जिससे ओले गिरते हैं उस आकाश में विद्युत रूपी तेज भी स्थित है। यही तेज ओलों के रूप में पानी को जमाने और उसे पकाकर पानी कर देने में कारण रूप है।

वैदिकंच ॥१०॥

सूत्रार्थ—च=और यह बात वैदिकम्=वेद के प्रमाण से भी सपुष्ट होती है।

व्याख्या—पानी को जमाने या उसे गलाने में तेज का कारण रूप होना वेद प्रमाण से भी सिद्ध होता है। यजुर्वेद (१२ ३७) "गर्भोऽस्योषधीनां गर्भोवनस्पतीनाम् गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽपामसि" अर्थात् 'हे अग्ने! तुम औषधियों के गर्भरूप हो वनस्पतियों के गर्भ रूप तथा सब प्राणियों के गर्भ रूप होते हुये उनके उत्पन्न करने वाले तथा समस्त जलों के भी गर्भ रूप हो। सामवेद (१ १-७) "अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् अपांरेतांसि जिन्वति" अर्थात् 'स्वर्ग से भी महान्, देवताओं में श्रेष्ठ पृथिवी का अधीश्वर यह अग्नि जलों के सार रूपों को जीवन प्रदान करता है।

अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥११॥

सूत्रार्थ—अपाम्=जलों के संयोगात्=संयोग से च=

और, विभागात्=विभाग से, स्तनयित्नु=विद्युत चमकती-कडकती है।

व्याख्या—जलो के मिलने और उनके विभाजित होने से ही बिजली चमकती और कडकती है। क्योकि जल से भरे हुये दो बादलो के परस्पर सघर्ष से जो रगड उत्पन्न होती है, उसी से विद्युत पैदा होकर कडकती है। बादलो का परस्पर मिलना या सघर्ष करना वायु के कारण होता है। इसी सघर्ष के परिणाम स्वरूप बादल गरजते हैं। एक बादल इधर से चला, दूसरा उधर से आया और आपस मे टकरा गये, इससे रगड उत्पन्न होती है, वह रगड ही बिजली है। जैसे काठ को काठ से रगडने पर आग उत्पन्न हो जाती है या लोहे को लोहे से रगडें तो चिंगारियाँ निकलने लगती हैं, वैसे ही बादलो के आपस मे टकराने से रगड उत्पन्न होकर बिजली बन जाती है। यही इस सूत्र का आशय है।

पृथिवी कर्मणा तेजः कर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—पृथिवी कर्मणा=पृथिवी की क्रिया के साथ, तेजः कर्म=तेज की क्रिया, च=और, वायु कर्म=वायु की क्रिया भी, व्याख्यातम्=कही गयी समझनी चाहिए।

व्याख्या—जैसे अदृष्ट की प्रेरणा से पृथिवी की क्रिया काँपना, फटना आदि कही गई है, वैसे ही, अदृष्ट द्वारा तेज की क्रिया और वायु की क्रिया भी समझनी चाहिये। जैसे भूकम्प आदि के परिणाम से जीवो को उनके अदृष्ट कर्मो का फल प्राप्त होता है, वैसे ही तेज की क्रिया अर्थात् आग लगने आदि से जो हानि होती है या हवा—आँधी आदि से पेड गिर जाते या मकान आदि फट जाते हैं, उनसे जो हानि होती है, वह भी अदृष्ट के कारण ही अर्थात् पूर्व कर्मों के फल-भोग रूप मे प्राप्त होना ही समझना चाहिये। इस प्रकार की क्रिया मे ईश्वर की कर्मफल प्राप्त कराने वाली प्रेरणा ही एक मात्र कारण है।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनम् वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्य कर्मादृष्टकारितम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—अग्ने =अग्नि का ऊर्ध्वज्वलनम्=ऊपर को ओर जलना वायो=वायु की तिर्यकपवनम्=तिरछी गति होना अणूनाम्=अणुओं का च=और, मनस=मन का आद्यम्=प्रथम कर्म=कर्म अदृष्ट कारितम्=अदृष्ट के ही यह सब कार्य हैं।

व्याख्या—अग्नि के जलने पर ऊपर की ओर लपट निकलना वायु का टेढ़ा तिरछा तथा ओर से चलना यह सब अदृष्ट के ही कार्य हैं और परमाणुओं में तथा मन में भी जो पूर्व क्रिया होती है वह भी अदृष्ट का ही परिणाम समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि संसार के जितने भी कार्य हैं वे सब जीवात्माओं को उनके अदृष्ट कर्म के फल को भोगने के लिये साधन मात्र हैं। अग्नि को प्रज्ज्वलित करने में मनुष्य का प्रयत्न हो सकता है परन्तु, प्रज्ज्वलित होने के बाद उसकी लपट ऊपर की ओर उठती है। यह मनुष्य के वश की बात नहीं कि लपटों को ऊपर उठने से रोक सके यह तो अग्नि का स्वाभाविक धर्म है। उन लपटों के ऊपर उठने से भस्म-पाक अथवा रासायनिक आदि क्रियाओं द्वारा जो हित-साधन होता हो या आग लगकर सम्पत्ति या शरीर जल कर हानि होती हो यह सब उनके अदृष्ट कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों के फल भोग रूप समझने चाहिये। परन्तु यह कारण प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता इसीलिये इसे अदृष्ट माना गया है। इसी प्रकार वायु की क्रियायें परमाणुओं के और मन के कार्य भी अदृष्ट फल-रूप से उत्पन्न हुए मानने चाहिये।

हस्तकर्मणामनस· कम व्याख्यातम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—हस्त कर्मणा=हाथ के द्वारा होने वाले कर्म से

मनस=मन का, कर्म=कर्म, व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे जीवात्मा की प्रेरणा से हाथ कर्म करता है, वैसे ही मन भी कर्म करता है। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि मन व्यापक नही है, वह अणु है। एक समय मे मन एक ही विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकता हैं। जिस समय सुख का ज्ञान है, उस समय दु ख का ज्ञान नही होगा और दु ख का ज्ञान है उस समय सुख का नही हो मकता। जब तक इन्द्रिय का और मन का सम्पर्क न हो, तब तक इन्द्रिय किसी विषय को ग्रहण नही कर सकती। इससे सिद्ध होता है कि मन मे कर्म है और उसी के द्वारा सुख-दु ख की अनुभूति होती है। इसीलिये सूत्रकार ने हाथ की क्रिया के समान ही मन की क्रिया मानी है।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ सन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥

सूत्रार्थ—आत्म=आत्मा, इन्द्रिय=इन्द्रियाँ, मन=मन और, अर्थ=विषय, सन्निकर्षात्=परस्पर के स्पर्श से, सुख-दु खे=सुख दु ख का अनुभव करते हैं।

व्याख्या—आत्मा का सम्बन्ध मन से है, मन का इन्द्रियो से और इन्द्रियो का विषयो से, इसलिये आत्मा, मन और इन्द्रियाँ पारस्परिक सम्पर्क सुख-दु ख का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ विषयो को ग्रहण करके मन के पास पहुँचाती हैं, जैसे, जिस विषय को नेत्र देखते हैं, वह विषय मन के पास पहुँचता है और मन से आत्मा उस विषय को ग्रहण करती है। जब मन इन्द्रियो से उदास होता है, तब इन्द्रियाँ किसी विषय को ग्रहण नही करती। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सामने जो दृश्य है, उसे नेत्र देख रहा है, परन्तु, मन कही और लगा है तो सामने का दृश्य अनदेखा हो जायगा। जब हम किसी कार्य विशेष में लगे होते हैं, तब कोई व्यक्ति सामने से निकल जाता है, उसे देखते हुए भी, मन के अन्यत्र लगे रहने से, उस व्यक्ति के सामने से

निकल जाने का ज्ञान हमको नहीं हो पाता। इसी से मन का कर्म करना सिद्ध होता है।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि, शरीरस्य दु:खाभाव स योग: ॥१६॥

सूत्रार्थ—मनसि=मन के आत्मस्थे=आत्मा में स्थित हो जाने पर तदनारम्भ:=इन्द्रियों द्वारा उन विषयों को ग्रहण करना आरम्भ नहीं होता और शरीरस्य=शारीरिक दु:ख अभाव=दु:ख का अभाव हो जाता है स योग:=वह योग है।

व्याख्या—योग की अवस्था उसे कहते हैं जिसमें इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को ग्रहण करना छोड़ देती हैं। क्योंकि मन आत्मा में स्थित हो जाता है अर्थात् मन इन्द्रियों से सम्बन्ध छोड़कर आत्म-चिन्तन में लग जाता है, तब इन्द्रियों को विषयों के ग्रहण करने की प्रेरणा मन से नहीं मिल पाती और वे विषयों का ग्रहण नहीं करतीं। उस समय दु:ख रूप विषयों का त्याग होने से ही सूत्रकार ने दु:ख का अभाव होना कहा है। जब दु:ख की अनुभूति समाप्त होगई, तब जिस कार्य में सुख मिले उसमें प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार इन्द्रियों का सम्बन्ध ही दु:ख है और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद होना ही सुख है। इस प्रकार विषयों का त्याग करना ही दु:ख का अभाव है और मन का आत्म-ज्ञान में लगना ही योग सिद्ध होता है।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगा: कार्यान्तर संयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥१७॥

सूत्रार्थ—अपसर्पणम्=बाहर निकलना उपसर्पणम्=निकट पहुँचना अशित पीत संयोगा:=खान-पान का संयोग

च=और, कार्यान्तर-सयोगा.=कार्यों की भिन्नता से सयोग, अदृष्ट कारितानि=अदृष्ट के ही कार्य हैं।

व्याख्या—प्राण और मन का एक शरीर से निकलकर आत्मा के साथ दूसरे शरीर मे जाना और दूसरे शरीर को खान-पान के सयोग से प्राप्त करना तथा कार्यों की भिन्नता का सयोग होना यह सब अदृष्ट कर्मों के अनुसार ही होता है। इस सूत्र मे खान-पान के सयोग का तात्पर्य माता-पिता के खान-पान से बने रज-वीर्य से है और कार्य-भिन्नता का आशय पूर्व शरीर को छोडकर नये शरीर की प्राप्ति के लिये माता के गर्भ मे स्थित होना, माता के भोजन से भोजन ग्रहण करना, फिर गर्भ से उत्पन्न होना है। इस प्रकार जीवात्मा अपने प्राण और मन के साथ पूर्व देह को छोडकर नवीन देह प्राप्त करता है और यह कार्य उसके पूर्व कर्मों के फल भोग की प्राप्ति के रूप मे जीवात्मा को उपलब्ध होते हैं। इसीलिये सूत्रकार ने इसे अदृष्ट कहा है।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥१८॥

सूत्रार्थ—तत्-अभावे=उस कर्म के आरम्भ न होने मे, सयोग-अभाव=सयोग का अभाव होता है, च=और, अप्रादुर्भाव=उत्पत्ति नही होती, मोक्ष=यही अवस्था 'मोक्ष' कही जाती है।

व्याख्या—यदि प्राण और मन आत्मा के साथ एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर मे न जायें और आत्मा नयी गर्भावस्था को प्राप्त न करे तो जन्म लेना ही बन्द हो जाय। अर्थात् जीवात्मा विषयो को छोडकर आत्म-चिन्तन मे लगकर जब योगावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह सूक्ष्म शरीर को भी त्याग देता है। उस समय, ज्ञान हो जाने से राग-द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं और अदृष्ट कर्मो का भी क्षय हो जाने से उसका फल-भोग भी समाप्त हो जाता है। जब, प्राण और मन को

एक शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में ले जाने वाला कर्म-फल रूप भोग ही समाप्त होगया तो पुनर्जन्म ग्रहण करने का भी कुछ कारण नहीं रह जाता। जब वह कारण नहीं रहा तब शरीर त्यागने के बाद आत्मा को मुक्त अवस्था प्राप्त होगी ही। इस प्रकार पुनर्जन्म ग्रहण करना समाप्त होना ही मोक्ष की अवस्था है। यहाँ संयोग का अभाव होने से शरीर का त्यागना और दूसरे शरीर में न जाना ही समझना चाहिये इसी को मोक्ष कहा गया है।

द्रव्यगुण कर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥१९॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्म = द्रव्य गुण और कर्म की निष्पत्ति = सिद्धि के वैधर्म्यात् = विरुद्ध लक्षण होने से अभावः = प्रकाश का अभाव होना तमः = अन्धकार है।

व्याख्या—प्रकाश का न होना ही अन्धकार है और अन्धकार द्रव्य गुण कर्म इन तीनों में से एक भी नहीं है। इसमें तो इन तीनों के लक्षणों से विरुद्ध चिन्ह पाये जाते हैं। जिस द्रव्य में रूप होगा उसमें स्पर्श भी होगा अन्धकार में रूप तो है परन्तु स्पर्श का अभाव है इसलिये उसे द्रव्य नहीं कह सकते। केवल रूप मात्र होने से उसे गुण भी नहीं मान सकते और कर्म तो उसमें है ही नहीं। रूप इतना ही है कि नेत्र से कुछ दिखाई नहीं देता वास्तव में रूप तो प्रकाश में ही है। इस प्रकार अन्धकार में द्रव्य गुण और कर्म में से किसी के भी लक्षण नहीं मिलने से उसे इन तीनों से अलग ही मानना होगा।

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥२०॥

सूत्रार्थ—तेजसः = तेज में द्रव्यान्तरेण = द्रव्य के अन्तर का आवरणात् = आवरण होने से च = भी प्रकाश का अभाव अन्धकार है।

व्याख्या—प्रकाश पर दूसरे द्रव्य का पर्दा पड जाना ही तेज मे द्रव्य का अन्तर होना कहा है। इस प्रकार, तेज अर्थात् प्रकाश का छिप जाना ही अन्धकार है। इससे यही मानना ठीक है कि अन्धकार कोई द्रव्य नही है, प्रकाश के छिपते ही अँधेरा हो जाता है। इसलिये प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। यदि कोई व्यक्ति चलता है, तभी उसकी छाया होगी, यदि न चले तो छाया कहाँ से चलेगी ? इसलिये मनुष्य चलता है, परन्तु, चलने का जो भ्रम छाया मे होता है, वह मिथ्या है। इस प्रकार प्रकाश के अभाव रूप अन्धकार को कोई द्रव्य आदि नही मान सकते।

दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

सूत्रार्थ—दिक्काल = दिशा और काल, च = तथा, आकाशम् = आकाश निष्क्रियाणि = क्रिया-रहित हैं, क्रियावद्वैधर्म्यात् = क्रिया वाले पदार्थों से भिन्न होने के कारण ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—क्रिया प्रत्यक्ष पदार्थों मे होती है, दिशा और काल प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, इसलिये इन्हें क्रिया वाले पदार्थों से विरुद्ध लक्षण वाले होना कहा है। अथवा क्रिया अनन्त पदार्थों में नही, एक देशीय पदार्थों मे होती है और दिशा सर्वत्र विद्यमान होने से अनन्त है तथा काल भी व्यापक है, इसलिये उनमें क्रिया का अभाव है अर्थात् वे चलना, फिरना, उछलना, तोडना आदि कार्य नही कर सकते। इसीलिए दिशा और काल का निष्क्रिय होना माना गया है।

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥२२॥

सूत्रार्थ—एतेन = इसी प्रकार, कर्माणि = कर्म, च = और, गुणा = गुणो को, व्याख्याता = कहा गया है।

व्याख्या—जैसे आकाश, काल और दिशा को क्रिया रहित कहा

गया वैसे ही कर्म और गुण में भी क्रिया नहीं होती। क्योंकि कर्म और गुण भी मूर्तिमान नहीं हैं और जो मूर्तिमान अर्थात् आकार वाला नहीं वह चल फिर कैसे सकता है? इस प्रकार आकाश काल और दिशा के समान ही कर्म और गुण भी क्रिया-रहित मानने चाहिए। यही इस सूत्र का तात्पर्य है।

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥२३॥

सूत्रार्थ—निष्क्रियाणाम्=क्रिया रहित गुण और कर्म का समवाय=संयोग होता है परन्तु उसका कर्मभ्य=कर्म से होना निषिद्धः=नहीं माना है।

व्याख्या—जो क्रिया-रहित गुण कर्म हैं उनका द्रव्य के साथ सम्बन्ध रहता है, परन्तु, वह कर्म के द्वारा उत्पन्न नहीं होता उनका पारस्परिक सम्बन्ध कर्म पर निर्भर होते हुए भी सम्बन्ध का उत्पन्न होना नहीं माना गया। क्योंकि द्रव्य और गुण दोनों कर्म होने से परस्पर मिले रहते हैं। जैसे स्वर्ण का गुण अग्नि पर पिघलना है तो वह कर्म के द्वारा पिघल सकता है अर्थात् स्वर्णकार उसे आग पर रखेगा तभी सोना पिघलेगा अन्यथा नहीं पिघलेगा। इस प्रकार कर्म से द्रव्य और गुण मिले रहते हैं परन्तु कर्म से गुण का उत्पन्न होना नहीं माना जाता।

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥२४॥

सूत्रार्थ—गुणा=गुण कारणम्=कारण रूप कर्म से उत्पन्न होते हैं तु=तो भी वे असमवायिन=समवायि नहीं कहे जाते।

व्याख्या—सम्बन्ध का उत्पन्न होना न मानने पर भी कर्म से गुण का और गुण से कर्म का उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। क्योंकि स्वर्णकार के कर्म से स्वर्ण पिघलेगा स्वर्णकार का कर्म न होता तो स्वर्ण भी नहीं पिघल सकता। परन्तु कर्म के साथ उत्पन्न होने के कारण

संयोगादि गुण असमवायी कारण ही कहलाते हैं, समवायि नहीं कहे जाते। जो कारण कार्य के साथ हर समय रहता है, उसे समवायि कारण कहते हैं और जो कार्य के साथ हर समय नहीं रहता, वह असमवायि कारण है। कर्म कार्य के साथ हमेशा नहीं रहता वह कार्य को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है, इसलिए कर्म कार्य का समवायि कारण नहीं हो सकता। जैसे घड़े को बनाकर कुम्भकार अपने कार्य से निवृत्त होगया तो कर्म भी समाप्त हो गया, अब कर्म के बिना घड़े का अस्तित्व तो रहेगा ही। इसी प्रकार गुण भी कर्म का समवायि कारण नहीं हो सकता।

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२५॥

सूत्रार्थ—गुणैः = गुणों से, दिग् = दिशाओं के सम्बन्ध में, व्याख्याता = कहा गया समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे गुण को कर्म का समवायि कारण न होना कहा गया है, वैसे ही दिशा भी कर्म का समवायि कारण नहीं है। क्योंकि दिशा का कोई मूर्त रूप अर्थात् आकार-प्रकार नहीं है। दिशा आधार तो है, जैसे कहते हैं कि मुझे पूर्व दिशा में जाना है तो यहाँ पूर्व दिशा आधार है, परन्तु, जाने वाले के लिए समवायि कारण नहीं है। जो समवायि कारण न हो, वह भी आधार हो सकता है, जैसे घर में मनुष्य है तो घर उस मनुष्य का आधार है, समवायि कारण नहीं है।

कारणेन कालः ॥२६॥

सूत्रार्थ—कारणेन = निमित्त कारण होने से, काल = काल को भी आधार ही समझना चाहिये।

व्याख्या—काल भी किसी क्रिया को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए समवायि कारण नहीं है, उसे भी केवल आधार मान सकते हैं। जैसे,

वस्त्र के बुनने में धागा समवायि कारण है परन्तु, काल उसका समवाय कारण नहीं हो सकता जैसे ही काल किसी कर्म का समवाय कारण नहीं निमित्त कारण हो सकता है। क्योंकि वह कर्म कराने में निमित्त मात्र ही है। साथ ही काल भी अमूर्त अर्थात् बिना रूप वाला है और क्रिया मूर्त पदार्थों में ही होती है, अमूर्त पदार्थ में नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि काल आधार ही है, समवायि कारण नहीं है।

॥ पंचमोऽध्यायः द्वितीयाह्निकम् समाप्तम् ॥

षष्ठोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे ॥१॥

सूत्रार्थ—वेदे=वेद मे, वाक्य कृति =वाक्यो की रचना, बुद्धिपूर्वा=बुद्धि पूर्वक हुई है ।

व्याख्या—ज्ञान के सभी साधन बुद्धि से ही उपलब्ध हुए हैं। जिस मनुष्य मे बुद्धि नही, वही मूर्ख कहा जाता है । यदि बुद्धि का अभाव है तो समझने की शक्ति भी नही हो सकती । बुद्धि की तीव्रता होने पर ही ज्ञान के रहस्य समझ मे आने लगते हैं । इसलिए, बुद्धि को परिपक्व करने का विधान किया गया । शिक्षा के द्वारा बुद्धि परिपक्व होती है और शिक्षित मनुष्य ही ज्ञान का रहस्य समझने मे समर्थ हो सकता है । वेद-वाक्यो की रचना उसी बुद्धि का परिणाम है और वे वाक्य अज्ञानियो को सुबुद्धि देने मे सहायक सिद्ध होते हैं । यदि यह कहे कि बुद्धि तो मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, तो स्वाभाविक होने पर सब मनुष्यो में एक-सी बुद्धि ही होती, किसी मे कम, किसी मे अधिक होना न पाया जाता । इसलिये, बुद्धि का होना नैमित्तिक ही समझना चाहिये । जो अपनी बुद्धि को विषयो में लगाये रखे तो उसकी बुद्धि विषय हेतु वाली होगी और ज्ञान मार्ग मे लगाने पर ज्ञान हेतु वाली होगी । जिन्होंने वेदो की रचना की, वे मन्त्रदृष्टा ऋषि परिष्कृत्त अर्थात् मजी हुई बुद्धि वाले थे, जिन्होने वेद जैसे ज्ञान के भण्डार को जन-कल्याण के लिये प्रस्तुत किया । रचना वही कर सकता है, जो स्वय अपने विषय मे पूर्ण पारङ्गत होगा, जिसे

विषय का ज्ञान न हो वह किसी प्रकार की रचना करने में समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार, प्रखर बुद्धि के द्वारा ही वेद-वाक्य रचे गये हैं।

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥२॥

सूत्रार्थ—ब्राह्मणे=ब्राह्मण ग्रंथों में संज्ञाकर्म=नाम के साथ कर्म और उनके अनुष्ठान आदि का वर्णन सिद्धि लिङ्गम्=वेद के विषय की प्रामाणिकता को सिद्ध करने वाले चिह्न हैं।

व्याख्या—ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मानुष्ठान करने के विधान और संज्ञा अर्थात् उन कर्मों के नाम आदि का स्पष्ट वर्णन है जिससे वेद का विषय प्रामाणिक होना सिद्ध होता है। उन कर्मों के विधिपूर्वक किये जाने पर उनका फल भी ग्रन्थों में वर्णन किये अनुसार ही होता है इससे भी यही सिद्ध होता है कि वेदों में जो ज्ञान भरा पड़ा है वह यथार्थ है। उसकी शिक्षा पर चलने अर्थात् वैसा आचरण करने से काम्य कर्म की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदानुकूल कर्मों के नियम वेदों को प्रमाणित करते हैं क्योंकि उन ग्रन्थों में परोक्ष तत्त्व-ज्ञान की भी चर्चा है, और उस ज्ञान के प्रत्यक्ष न रहने से उसे वेदों को प्रकाश में लाने वाला स्वयं ही मानना होगा। साथ ही उन ग्रन्थों में अधिकतर वेदों का व्याख्यान हुआ है और कर्म भाष्य तथा विनियोग आदि भी कहे गये हैं। इससे ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों का व्याख्यान रूप माना गया है।

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥३॥

सूत्रार्थ—बुद्धिपूर्व=बुद्धि पूर्वक ददातिः=दान देने की बात कही गई है।

व्याख्या—ब्राह्मण ग्रन्थों में दान करने को बहुत जगह कहा गया है। यह दान देने की शिक्षा भी बुद्धि पूर्वक ही वर्णन की गई है। जैसे पृथिवी में बीज बोया जाता है वैसे ही दान दिया जाता है। पृथिवी में बीज बोने पर ही खेती उत्पन्न होती है बीज न बोने पर नहीं होती।

जिस समय बीज वोया जाता है उस समय न कोई अंकुर फूटता है, न कोई फल उत्पन्न होताहै। वीज बोने वाला किसान वीज बोकर अपने घर चला जाता है और वाद मे उसे अनाज से लहलहाते हुये खेत मिलते है। उसी प्रकार, दान का फल तुरन्त नही होता, वह तो आगे चलकर मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थो में प्रत्यक्ष फल वाले कर्म का निषेध किया गया है, क्योकि प्रत्यक्ष फल विषय-भोग रूप दु ख वाले ही होते हैं, उनसे सुख नही मिलता और परोक्ष फल वाले कर्म भविष्य अथवा परलोक को सुधारने वाले होने से विद्वानो को ग्रहण करने के योग्य हैं।

तथा प्रतिग्रहः ॥४॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, प्रतिग्रह=दान लेना भी वुद्धिपूर्वक ही कहा है।

व्याख्या—जैसे दान देना बुद्धि के अनुकूल कहा गया है, वैसे ही, दान लेना भी वुद्धि के अनुकूल ही है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे कौन-सा दान लेने योग्य है कौन सा नही है, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। क्योकि अच्छे दान लेने का फल श्रेष्ठ और बुरा धन लेने मे बुरे फल की प्राप्ति होती है। जैसे दान देने मे पात्र, अपात्र का विचार किया जाता है, वैसे ही दान लेने मे पात्र, अपात्र का विचार अथवा प्राप्त होने वाला धन कैसा है ? फलीभूत होगा या नही होगा आदि वातो का विचार बुद्धि-पूर्वक कर लेने पर ही दान लेना चाहिये। अनेक बार बुरे धन की प्राप्ति पर दान लेने वाले को सकट मे पडना होता है और कभी आत्म-सम्मान भी नष्ट हो जाता है।

आत्मान्तरगुणनामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ—आत्मान्तरगुणनाम्=अन्य आत्मा के गुण, आत्मान्तरे=अन्य आत्मा मे, अकारणत्वात्=कारण न होने से एक का फल दूसरे को नही मिलता।

व्याख्या—दान देने वाले और दान लेने वाले को एक-सा फल नहीं मिलता अथवा एक के लिये दान किये हुये का फल दूसरे को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अपने किये हुए कर्म का फल ही अपने को मिलता है। एक आत्मा के शुभ अथवा अशुभ कार्य पाप पुण्य आदि का फल दूसरी आत्मा नहीं भोग सकती। पाप करने वाला कोई और तथा भोक्ता कोई और होने से बद्धजीव के स्थान पर मुक्त जीवात्मा भी बन्धन में पड़ सकती है। अथवा पुण्य करने वाले के पुण्य का फल पापी को मिलकर वह बन्धन से छूट सकता है इससे परमात्मा के सब नियम भङ्ग हो जायेंगे और पाप-पुण्य में कोई अच्छाई या बुराई न रहेगी। इसलिये यही मानना ठीक है कि दूसरे के किये कर्म अपने को नहीं मिल सकते और जो मोक्ष की कामना वाले पुरुष हैं उन्हें दूसरों के कर्म के भरोसे न रहकर स्वयं ही मोक्ष प्राप्ति का यत्न करना चाहिये। मनुष्य जो कर्म करता है उससे संस्कार और भोग की उत्पत्ति होती है। कर्म के अनुसार उत्पन्न संस्कार ही भोग के समय सुख या दुःख की अनुभूति कराता है। इससे सिद्ध होता है कि एक के कर्म का फल दूसरा व्यक्ति कदापि नहीं भोग सकता।

तद्दुष्टभोजने न विद्यते ॥६॥

पदार्थ—तत्=वह फल दुष्ट भोजने=दूषित अन्न का भोजन करने में न=नहीं विद्यते=होता।

व्याख्या—अच्छा फल अच्छे भोजन के दान से मिलेगा खराब अन्न का दान करने पर अच्छा फल नहीं मिल सकता। इसी प्रकार अच्छे आचरण वाले को दान देने से भी फल मिलेगा और बुरे आचरण वाले को दान देने पर खराब फल मिलेगा। यदि ऊसर भूमि में बीज बोया जाय तो अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता। इसीलिये बुद्धिपूर्वक अर्थात् अच्छी तरह विचार करके दान देने का उपदेश दिया गया है, जो लोग पात्र कुपात्र का विचार किये बिना चाहे जिसे दान दे देते हैं। उनका

दान निष्फल होता है। इसीलिये, यज्ञ और तर्पण आदि में पापी और मूर्खों को भोजन कराने का निषेध किया गया है। जैसा बीज बोया जायगा, वैसा ही अन्न उत्पन्न होगा, इस न्याय से श्रेष्ठ भोजन, श्रेष्ठ आचरण वाले मनुष्य को ही कराना चाहिये।

दुष्टं हिंसायाम् ॥७॥

सूत्रार्थ—दुष्टम्=दूषित भोजन से, हिंसायाम्=हिंसा की प्रवृत्ति होती है।

व्याख्या—किसी की श्रद्धा न हो और अश्रद्धापूर्वक भोजन कराये तो उसमे भोजन कराने वाले को कष्ट होने से हिंसा माननी होगी। अथवा किसी पशु आदि को मारकर भोजन करना प्रत्यक्ष हिंसा है या अन्याय से प्राप्त धन से अन्न दान करना या भोजन कराना भी हिंसा-भावना ही है। इस प्रकार का दान स्वीकार नही करना चाहिये। इस सूत्र का तात्पर्य दान लेने वाले के सम्बन्ध मे भी यह निकलता है कि जो हिंसा करने वाला अथवा वेद-विरुद्ध कार्य करने वाला हो, उसे भोजन कराने या दान देने से दान का फल नही मिलता। इसीलिये सब कर्म बुद्धिपूर्वक करने का उपदेश दिया गय ।

तस्य समभिव्याहारत ो दोषः ॥८॥

सूत्रार्थ—तस्य=उस दूपित भोजन के, समभिव्याहारत = खाने या खिलाने से, दोप =दोष लगता है।

व्याख्या—हिंसा आदि पाप कर्म के द्वारा प्राप्त दूषित भोजन को खाने अथवा खिलाने वाले दोनो को ही हिंसा का दोष लगता है। यह हो सकता है कि दाता या दान लेने वाले दोनो को ही अन्न के दूषित होने की जानकारी न हो और अनजाने ही किसी प्रकार से हिंसा होगई हो अथवा और किसी प्रकार से अन्न दूषित हुआ हो। परन्तु, अनजाने के दोप से भी खाने-खिलाने वाले दोनों ही पाप के भागी होते हैं। इस

सूत्र का अर्थ कुछ व्याख्याकारों ने इस प्रकार भी किया है कि हिंसाकारी को भोजन कराना तो पाप है ही साथ ही उसके साथ दूसरे प्रकार के व्यवहार भी नहीं रखने चाहिये। उसके साथ बैठकर भोजन करना गमन या वार्तालाप भी वर्जित है। इसलिये सब प्रकार के व्यवहार में बुद्धिपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। बिना विचारे और बिना आचरण की जाँच किये किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाना उचित नहीं है। ऐसा करने से संसर्ग-दोष भी उपस्थित होता है। अर्थात् दूसरे के अवगुण अपने में भी आने की सम्भावना रहती है।

तदप्रदुष्टे न विद्यते ॥९॥

सूत्रार्थ—तत्=वह दोष अदुष्टे=दोष रहित भोजन न न=नहीं विद्यते=होता।

व्याख्या—जो भोजन निर्दोष है उसमें पाप-दोष नहीं होता उसके खाने और खिलाने वाले दोनों ही धर्मीभूत होते हैं। अथवा जो लोग दुष्ट नहीं हैं पाप कर्म नहीं करते उनके साथ व्यवहार या सम्पर्क रखने में कभी कोई हानि नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि अच्छी संगति से सदा सुख ही मिलता है और बुरी संगति सदा दुःखदायी होती है। इसीलिये किसी विद्वान् सन्त ने कहा है 'सङ्गति कीजे साधु की हरै और की व्याधि। अच्छी सङ्गति के प्रभाव से मनुष्य स्वयं तो सुखी रहता ही है दूसरों को भी सुखी बनाता है।

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

सूत्रार्थ—पुनः=फिर, विशिष्टे=विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों से ही प्रवृत्ति=व्यवहार रखना चाहिये।

व्याख्या—जब-जब आवश्यकता हो श्रेष्ठ पुरुषों से ही व्यवहार रख उन्हीं के आचरण पर चले और जो कुछ वे करें उसी को उचित समझे। क्योंकि विशिष्ट पुरुष ज्ञानी और वेद आदि का अध्ययन करने

वाले होने से सदाचारी तथा आत्मद्रष्टा होते हैं। उनके कार्य हिंसात्मक नहीं हो सकते। वे जो कार्य करते हैं उनमे जन-कल्याण की भावना होनी है। इसलिये, ऐसे व्यक्तियो के सत्सङ्ग से लाभ उठाने का उपदेश इस सूत्र मे है। यदि हमे किसी वस्तु की आवश्यकता है और वह वस्तु किसी दुष्ट पुरुष के पास है, उसी से मिल सकती है, तो उस वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा ही त्याग देनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि दुष्ट पुरुष से आवश्यक वस्तु भी न ले, चाहे उस वस्तु के विना कैसा भी कार्य क्यो न रुका रहे।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, समे=सामान्य में या, हीने=निर्धन मे भी, प्रवृत्ति=फल की प्रवृत्ति निहित है।

व्याख्या—श्रेष्ठ पुरुष धनवान ही हो या उसका अधिक सम्मान हो, उसी की सगति में बैठने की कोई बात नही है। सदाचारी, ज्ञानी आदि श्रेष्ठ व्यक्ति यदि निर्धन हो, सामान्य हो—जिनकी समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा न हो, तो भी उनकी सगति करने मे कोई दोष नही है। ऐसे व्यक्ति भी, अपने श्रेष्ठ आचरण से अपने साथियो का हित-साधन करने वाले होते हैं। इसी प्रकार सामान्य भोजन या रूखा-सूखा भोजन भी यदि निर्दोष हो तो खाने-खिलाने मे कोई बुराई नही है। यदि कोई अधिक श्रेष्ठ व्यक्ति दान के लिए न मिल सके तो सामान्य व्यक्ति को भी दान दिया जा सकता है, परन्तु, उसमे किसी पाप-दोष की प्रवृत्ति नही होनी चाहिये।

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—एतेन=इस प्रकार, हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्य=हीन, समान, विशिष्ट तथा श्रेष्ठ धार्मिक व्यक्तियो से ही, पर-

आदानम्=दूसरे का धन-दान लेना व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे विशिष्ट व्यक्ति, समान व्यक्ति अथवा हीन व्यक्ति को दान देना या उससे व्यवहार रखना कहा गया है वैसे ही दान लेने का भी नियम है। दूसरे का धन लेते समय दाता हीन अर्थात् नीची श्रेणी का है या समान अर्थात् बराबर का है अथवा अपने से विशिष्ट है और धार्मिक का है इसका ध्यान रखना चाहिये। परन्तु, पाप-कर्म करने वाला या अपराध-कर्म में प्रवृत्त न हो। क्योंकि दान का धन चोरी आदि का न हो। चोरी का हुआ तो पकड़ जाने पर दान लेने वाला संकट में पड़ सकता है। किसी की हिंसा करके लिया गया हो तो भी बन्धन हो सकता है और निरपराध होते हुए भी दूसरे का अपराध अपने सिर बन सकता है। कुछ व्यक्ति इस सूत्र का अर्थ जबर्दस्ती धन लेने के पक्ष में करते हैं और 'हीन सम विशिष्ट धार्मिकेभ्य' का तात्पर्य चार वर्णों से बताते हैं। उनका मत है भोजन न हो तो चोरी करके भी ला सकता है। पहिले शूद्र के यहाँ चोरी करे, फिर वैश्य के यहाँ फिर क्षत्रिय के यहाँ और फिर भी आवश्यकता हो तो धर्मवान् ब्राह्मण के यहाँ चोरी कर सकता है। परन्तु, हमारे मत में ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि चोरी करके धन लेना भी हिंसा आदि दोषों के अन्तर्गत होने से दूषित धन का प्रसंग उपस्थित हो जायगा जिसका निषेध पूर्व सूत्रों में स्वयं सूत्रकार कर चुके हैं।

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

सूत्रार्थ—तथा=इसी प्रकार, विरुद्धानाम्=वेद विरुद्ध आचरण वालों का भी त्यागः=त्याग करना चाहिये।

व्याख्या—धर्म-विरुद्ध कार्य करने वाले पापियों का दान स्वीकार करना तो निषिद्ध कहा ही जा चुका है साथ ही उन व्यक्तियों से भी दान लेने का निषेध किया गया है, जो वेद-शास्त्रों के विरुद्ध आचरण

करते है, जैसे नास्तिक आदि। जो व्यक्ति ईश्वर को नही मानते या दान मे विश्वास नही रखते, परन्तु, दान लेने वाले की निर्धनता आदि से प्रेरित होकर दान करते हैं, अथवा नाम कमाने के लिए दान देते है या किसी अन्य भावना के वशीभूत होकर धन या अन्न देना चाहते हैं, उनका दान कभी स्वीकार नही करना चाहिए। क्योकि, उनका दान अहकार और मिथ्याभिमान के कारण दूषित होता है ,और दूषित धन के ग्रहण करने का पूर्व सूत्रो मे स्पष्ट निषेध किया जा चुका है।

हीने परे त्यागः ॥१४॥

सूत्रार्थ—परे=दाता के, हीने=कर्म आदि मे हीन होने पर, उसका, त्याग =त्याग करना ही ठीक है।

व्याख्या—यदि दाता आस्तिक तो है, दान देने मे भी उसकी श्रद्धा है, पर, कर्म आदि से हीन है अर्थात् जीविका के लिये अच्छे कर्म नही करता—झूँठ बोल कर जीविकोपार्जन करता है या अन्याय, अधर्म से धन कमाता है, ऐसे दाता का दान भी त्याग देना चाहिये। कुछ सूत्रकारो ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि हीन कर्म वाले या अधर्मी मनुष्य का सर्वथा त्याग करे। यदि उसे भूख लगी हो तो उसे भोजन भी न दे, क्योकि लोक-विरुद्ध कार्य करने वाले का जीवित रहना भी आवश्यक नही। परन्तु, ऐसा अर्थ करना उचित प्रतीत नही होता, क्योकि, अधर्मी भी यदि भूखा है तो उसे भोजन देकर प्राण-रक्षा करनी चाहिए और उचित शिक्षा देकर सही मार्ग पर लाना चाहिए। किसी को असहाय अवस्था मे मरने देना भी हिंसा ही है। इसलिये, यही मानना ठीक है कि 'हीन कर्म वाले दाता का दान स्वीकार न करे।'

समे आत्म त्यागः परत्यागो वा ॥१५॥

सूत्रार्थ—समे=समानता मे, आत्म त्याग =अपना त्याग करे, वा=या, परत्यागी=दूसरे का त्याग करने वाला हो जाय।

व्याख्या—यदि दाता और दान लेने वाले दोनों ही गुण कर्म आदि में समान हैं तो चाहे अपने पास का धन या कम उसे दे दे या उससे स्वयं ले ले इसमें समान फल ही होता है। तात्पर्य यह है कि दाता और दान लेने वाले एक-से कर्म वाले या ज्ञान धर्म वर्ण आदि में समान हैं तो आवश्यकता पड़ने पर चाहे जो चाहे जिसकी वस्तु आपस में दे दें या लेलें इसमें दान देना या दान लेना नहीं कहा जा सकता यह तो परस्पर का व्यवहार मात्र होगा। इसमें दोनों का समान उपकार होने से देने लेने का कोई पुण्य या दोष उपस्थित नहीं होगा।

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥१६॥

सूत्रार्थ—विशिष्टे—यदि विशिष्ट है तो आत्मत्याग—अपना ही त्याग करे।

व्याख्या—यदि दाता अपने से श्रेष्ठ गुण-कर्म वाला है तो उसका भी धन न ले क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों को तो देना ही अच्छा है। इस सूत्र का अर्थ यह भी हो सकता है कि यदि श्रेष्ठ पुरुष किसी संकट में है तो उसकी रक्षा करनी चाहिए, चाहे उसकी रक्षा करने में अपने प्राण ही क्यों न उत्सर्ग करने पड़ें। इस प्रकार जो कार्य करे बुद्धि पूर्वक ही करने चाहिए।

॥ षष्ठोऽध्याय प्रथमाह्निकम् समाप्तः ॥

षष्ठोऽध्याय—द्वितीयाह्निकम्

दृष्टादृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

सूत्रार्थ—दृष्ट अदृष्ट प्रयोजनानाम्—दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों में दृष्टाभावे—दृष्ट का अभाव माना

प्रयोजनम्=कर्म ही, अभ्युदयाय=सुख का हेतु होता है।

व्याख्या—दृष्ट कर्म वह है, जिसका प्रत्यक्ष फल होता हो, जैसे खेती—बीज डालने पर कुछ दिन बाद ही अनाज उत्पन्न हो जाता है और अदृष्ट कर्म वह है, जिसका फल प्रत्यक्ष रूप से नही मिलता। परन्तु, वह कर्म ही, जिसमे प्रत्यक्ष फल का अभाव है, सुख देने वाला है। क्योकि, उस कर्म मे परलोक का सुख निहित है। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार के हैं—एक दृष्ट, जिसका फल इसी लोक मे तथा शीघ्र मिल जाता है और दूसरा अदृष्ट, जिसका फल इस लोक मे नही, परलोक में मिलता है। यह अदृष्ट कर्म ही निष्काम कर्म कहा गया है। इसमें किसी फल की इच्छा नही होती केवल तत्वज्ञान की प्रवृत्ति होती है और इसी कर्म के द्वारा मनुष्य को इहलौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकार के सुख मिलते हैं। इहलौकिक, इस प्रकार कि साधक विषय-भोगो का त्याग कर आत्म-चिन्तन मे लग जाता है, उसे सासारिक दु खो का आभास नहीं होता, इसी को दु ख की निवृत्ति अर्थात् सुख कहा गया है। और पारलौकिक सुख इस प्रकार मिलता है कि मनुष्य को जब आत्म-ज्ञान हो जाता है, तब उसके प्रारब्ध कर्मों का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अथवा जिनका कर्म इतना उत्कृष्ट नही होता, जिससे कि मोक्ष प्राप्त हो सकती हो, वे साधक अपने अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म से श्रेष्ठ प्रारब्ध वाले होकर पुनर्जन्म मे सुख भोगते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष फल देने वाले कर्मों से परलोक मे सुख देने वाले कर्म अधिक श्रेष्ठ हैं। अब उन कर्मों को कहते हैं जो अदृष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने वाले है।

अभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्यगुरुकुलवास वानप्रस्थ यज्ञदान प्रोक्षण दिङ्नक्षत्र मन्त्रकाल नियमाश्चादृष्टाय ॥२॥

सूत्रार्थ—अभिषेचनोपवास=मन्त्र द्वारा जल के छीटे और

उपवास ब्रह्मचर्य=इन्द्रिय संयम गुरुकुलवास=गुरु के आश्रम में रहना वानप्रस्थ=वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना यज्ञदान=यज्ञ और दान करना प्रोक्षण=जल से शुद्धि करना, दिङ्‌नक्षत्र=दिशा और नक्षत्र का ज्ञान रखना मन्त्रकाल नियम=मन्त्र और काल आदि के नियमों का ध्यान रखना अदृष्टाय=अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म के लिये च=और दृष्ट फल वाले कर्म के लिये भी आवश्यक हैं।

व्याख्या—स्नान आदि से निवृत्त होकर दिशा का विचार करते हुए अर्थात् पूर्व आदि दिशा की ओर मुख करके बैठे और कर्म प्रारम्भ करने में शुभ नक्षत्र तथा समय का भी ध्यान रखे। फिर मन्त्रोच्चारण करते हुए सिर पर जल के छींटों से अभिसेचन करना चाहिये। कर्मानुष्ठान के समय ब्रह्मचर्य पालन करे और गुरु के आश्रम में या किसी पवित्र स्थान में रहे। गुरुकुल-वास इसलिये कहा है कि कर्म में कोई विघ्न उपस्थित हो तो गुरु का परामर्श तुरन्त प्राप्त होने से विघ्न दूर हो सकता है। अथवा वानप्रस्थ आश्रम में दीक्षित होकर वहाँ के नियमों का पालन करे। अनुष्ठान में मन्त्र को भी बुद्धिपूर्वक पढ़े, क्योंकि सरल और शीघ्र फलकारी मन्त्र ही सुसाध्य होता है। विधान के अनुसार उपवास यज्ञ दान आदि भी करे। इस प्रकार विधिपूर्वक कर्म करने से अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म सिद्ध होते हैं और दृष्ट प्रयोजन वाले कर्म भी विधिपूर्वक किये जाने से ही फल देते हैं। इसलिए विधान का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥३॥

सूत्रार्थ—चातुराश्रम्यम्=चारों आश्रम और उनके नियम उपधा=उपनियम अनुपधा=अनुपनियम च=और सभी मान्यताओं का पालन करना उचित है।

व्याख्या—आश्रम चार है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चारो आश्रमो के पृथक्-पृथक् नियम हैं। जब, जिस आश्रम मे हो, तब, उस आश्रम के नियम उपनियम, विधि-विधान आदि का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। अनुपधा का अर्थ श्रद्धा भी है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने आश्रम के आचार-विचारो मे श्रद्धा भी रखनी चाहिये। क्योकि, श्रद्धा होगी तभी वह कार्य मन से होगा, अन्यथा मन के विना किया हुआ कार्य कभी फल नही देता। इसलिये, जो कर्म किया जाय, उसे बुद्धिपूर्वक और विधिपूर्वक करे, यही इस सूत्र का आशय है।

भावदोष उपधाऽदोषोनुपधा ॥४॥

सूत्रार्थ—भावदोष=भाव से दोष, उपधा=उपधा, और अदोष =भाव मे दोष न होना, अनुपधा=अनुपधा कहे गये है।

व्याख्या—भाव मे दोष अर्थात् राग, द्वेष, प्रमाद, अश्रद्धा, अहंकार अभिमान, परनिन्दा आदि जो मानसिक दोष हैं, उन्हे 'उपधा' कहते हैं और उपधा के विरुद्ध जो लक्षण हैं, वे अनुपधा के समझने चाहिए अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, सत्संग, श्रद्धा, नयम, गभीरता आदि गुण अनुपधा कहे गये हैं। यह दोनो प्रकार के गुण या कर्म अज्ञान या ज्ञान के कारण ही उत्पन्न होते है।

यदिष्टरूपरसगन्ध स्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च-
तच्छुचिः ॥५॥

सूत्रार्थ—यत्=जो वस्तु, इष्ट=इच्छित, रूपरसगन्धस्पर्शम्=रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाली है, च=और, प्रोक्षितम्=मन्त्र-जल से शुद्ध और, अभ्युक्षितम्=विना मन्त्र के शोधित है, तत्=वह, शुचि =शुद्ध है।

व्याख्या—जो वस्तु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाली दिखायी देती

उपवास ब्रह्मचर्य=इन्द्रिय संयम गुरुकुलवास=गुरु के आश्रम में रहना वानप्रस्थ=वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना यज्ञदान=यज्ञ और दान करना प्रोक्षण=जल से शुद्धि करना, दिङ् नक्षत्र=दिशा और नक्षत्र का ज्ञान रखना मन्त्रकाल नियम=मन्त्र और काल आदि के नियमों का ध्यान रखना अदृष्टाय=अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म के लिये च=और दृष्ट फल वाले कर्म के लिये भी आवश्यक हैं।

व्याख्या—स्नान आदि से निवृत्त होकर दिशा का विचार करते हुए अर्थात् पूर्व आदि दिशा की ओर मुख करके बैठे और कर्म प्रारम्भ करने में शुभ नक्षत्र तथा समय का भी ध्यान रखे। फिर मन्त्रोच्चारण करते हुए सिर पर जल के छींटों से अभिषेचन करना चाहिये। कर्मानुष्ठान के समय ब्रह्मचर्य पालन करे और गुरु के आश्रम में या किसी पवित्र स्थान में रहे। गुरुकुल-वास इसलिये कहा है कि कर्म में कोई विघ्न उपस्थित हो तो गुरु का परामर्श तुरन्त प्राप्त होने से विघ्न दूर हो सकता है। अथवा वानप्रस्थ आश्रम में दीक्षित होकर वहाँ के नियमों का पालन करे। अनुष्ठान में मन्त्र को भी बुद्धिपूर्वक जानें, क्योंकि सरल और शीघ्र फलकारी मन्त्र ही सुसाध्य होता है। विधान के अनुसार उपवास यज्ञ दान आदि भी करे। इस प्रकार, विधिपूर्वक कर्म करने से अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म सिद्ध होते हैं और दृष्ट प्रयोजन वाले कर्म भी विधिपूर्वक किये जाने से ही फल देते हैं। इसलिए विधान का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥३॥

सूत्रार्थ—चातुराश्रम्यम्=चारों आश्रम और उनके नियम उपधा=उपनियम अनुपधा=अनुपनियम च=और सभी मान्यताओं का पालन करना उचित है।

व्याख्या—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चारो आश्रमो के पृथक्-पृथक् नियम हैं। जब, जिस आश्रम मे हो, तब, उस आश्रम के नियम उपनियम, विधि-विधान आदि का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। अनुपधा का अर्थ श्रद्धा भी है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने आश्रम के आचार-विचारो मे श्रद्धा भी रखनी चाहिये। क्योकि, श्रद्धा होगी तभी वह कार्य मन से होगा, अन्यथा मन के बिना किया हुआ कार्य कभी फल नही देता। इसलिये, जो कर्म किया जाय, उसे बुद्धिपूर्वक और विधिपूर्वक करे, यही इस सूत्र का आशय है।

भावदोष उपधाऽदोषोनुपधा ॥४॥

सूत्रार्थ—भावदोप=भाव से दोष, उपधा=उपधा, और अदोष =भाव मे दोष न होना, अनुपधा=अनुपधा कहे गये है।

व्याख्या—भाव में दोष अर्थात् राग, द्वेप, प्रमाद, अश्रद्धा, अहकार अभिमान, परनिन्दा आदि जो मानसिक दोष हैं, उन्हे 'उपधा' कहते हैं और उपधा के विरुद्ध जो लक्षण हैं, वे अनुपधा के समझने चाहिए अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, सत्सग, श्रद्धा, सयम, गभीरता आदि गुण अनुपधा कहे गये हैं। यह दोनो प्रकार के गुण या कर्म अज्ञान या ज्ञान के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

यदिष्टरूपरसगन्ध स्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च-तच्छुचिः ॥५॥

सूत्रार्थ—यत्=जो वस्तु, इष्ट=इच्छित, रूपरसगन्धस्पर्शम्=रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाली है, च=और, प्रोक्षितम्=मंत्र-जल से शुद्ध और, अभ्युक्षितम्=विना मत्र के शोधित है, तत्=वह, शुचि =शुद्ध है।

व्याख्या—जो वस्तु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाली दिखायी देती

है उन्हें मंत्र के बल से शुद्ध किया जा सकता है। अनेक वस्तु ऐसी भी हैं जिन्हें शुद्ध करने के लिये मन्त्र की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् वे स्वयं ही पवित्र हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का उपयोग बुद्धिपूर्वक ही करना चाहिये। जिसके शुद्ध करने की आवश्यकता हो उसे शुद्ध करे और जिसे शुद्ध करने की आवश्यकता न हो उसे बिना मंत्र के ही कार्य में ले ले या अग्नि पर तपाने आदि से शुद्ध होती हो वैसा करे।

अशुचीति शुचिप्रतिषेध ॥६॥

सूत्रार्थ—शुचिप्रतिषेध=जो वस्तु शुद्ध न हो उसे अशुचीति=अपवित्र कहते हैं।

व्याख्या—जो वस्तु अशुद्ध है वही अपवित्र है। जिसमें शुद्ध वस्तु से विपरीत लक्षण हों वह अशुद्ध वस्तु है।

अर्थान्तरञ्च ॥७॥

सूत्रार्थ—अर्थान्तरम्=जिस वस्तु में 'शुद्ध' शब्द का व्यवहार न हो सके वह च=भी अशुद्ध ही हुई।

व्याख्या—जिस वस्तु को शुद्ध न कह सकें वह अशुद्ध ही हुई। जैसे धन कमाने में कोई दुष्टता न हो तो भी किसी प्रकार के अव्यवहारिक भाव आ जाने से वह धन दूषित माना जायगा। कहीं जल दूषित है और वह जल में मिलकर उसे दूषित कर रहा है, तो भी उसे दूषित ही मानना होगा। क्योंकि उससे हानि की संभावना है।

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावात् ॥८॥

सूत्रार्थ—नियम-अभावात्=नियम के अभाव से अयतस्य=अहिंसा आदि के न पालन करने वाले का शुचिभोजनात्=शुद्ध भोजन करने से अभ्युदय=कल्याण न विद्यते=नहीं होता।

व्याख्या—जो व्यक्ति अहिंसा आदि के नियमो का पालन नही करते, उनका शुद्ध भोजन भी कल्याणकारी नही है। 'नियमाभावात्' पद से तात्पर्य वेद-विहित-आचार से है। इसलिये वेद के उपदेशो के प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्तियो के यहाँ भोजन करने का निषेध समझना चाहिये। वेद-विरुद्ध आचरण मे झूँठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार आदि अपकर्म तथा पर-धन अपहरण करना आदि सभी सम्मिलित हैं। ऐसे व्यक्ति के यहाँ का शुद्ध भोजन भी त्यागने योग्य है। इसी प्रकार वेद-विरुद्ध आचरण करने वाले को भोजन कराना भी निषिद्ध है। इस प्रकार पाप-कर्म करने वालो के यहाँ भोजन करना या ऐसे व्यक्तियो को भोजन कराना अनुचित मानना चाहिये।

विद्यतेवार्थान्तरत्वाद्यमस्य ॥९॥

सूत्रार्थ—वा = अथवा, यमस्य = यम का, अर्थान्तरत्वात् = अन्य अर्थ होने से, विद्यते = शुद्ध भोजन का महत्व है।

व्याख्या—हिंसा आदि के द्वारा प्राप्त भोजन, चाहे वह पवित्र व्यक्ति के द्वारा ही दिया गया हो तो भी नियम मे अन्तर होने से अर्थात् पवित्र भोजन जिस प्रकार प्राप्त होता है, उस प्रकार प्राप्त न होने से अपवित्र ही माना जायगा। इस प्रकार अपवित्र भोजन का निषेध होने से शुद्ध भोजन का ही महत्व माना जाता है।

असति चाभावात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—च = और, अभावात् = दाता नियम पालक हो, परन्तु, उसमे श्रद्धादि का अभाव हो, तो भी, असति = कल्याण-कारी नही होता।

व्याख्या—खाने वाला या खिलाने वाला वेद-विहित नियमो का पालन तो करता है, परन्तु, उसके भोजन करने-कराने मे श्रद्धा न हो, तो भी वह भोजन कल्याण करने वाला नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि

अश्रद्धा से दिया हुआ दान फलदायक नहीं होता इसी प्रकार श्रद्धा न हो तो दान लेना भी नहीं चाहिये। मन में तो यह है कि यह दान हमारे लिये कल्याणकारी न होगा फिर भी दान स्वीकार कर लिया जाय तो अपनी इच्छा के विरुद्ध ग्रहण किया जाने से उस प्रतिग्रह को अधर्मयुक्त ही समझना चाहिये। यही बात दाता के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

सुखाद्राग ॥११॥

सूत्रार्थ—सुखात्—सुख से राग = विषयों में आसक्ति होती है।

व्याख्या—जिस कार्य में सुख मिले वह कार्य विषयों में आसक्त करने वाला होता है। रूप रस गंध स्पर्श आदि को सुखदायक माना गया है। क्योंकि सुन्दर नारी पर मन मोहित हो जाता है सुन्दर भवन बाग-बगीचा आदि को देखकर वहीं रहने की इच्छा होती है। उत्तम स्वादिष्ट पेय पदार्थ या भोजन मिले तो उसे छोड़ने की इच्छा नहीं होती और सुगंधित द्रव्यों की मादकता में भी जीव मतवाला हो जाता है। किसी लावण्यमयी नारी का स्पर्श प्राप्त होते ही मनुष्य आध्यात्मिक विषयों को भूल जाता है। इन सभी के द्वारा मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है और जैसे ही मन इन सब में रमा कि फिर छुटकारा नहीं हो सकता। यही आसक्ति है, इसी के कारण द्वेष की भी उत्पत्ति हो जाती है। इनमें से जिस वस्तु का अपने पास अभाव हुआ और वह दूसरे के पास दिखाई दे तो उससे द्वेष उत्पन्न होता है और द्वेष सब लड़ाई-झगड़ों का मूल है ही। इसीलिये आत्म-कल्याण चाहने वाले पुरुषों को इन सबका त्याग करना ही उचित बताया गया है।

तन्मयत्वाच्च ॥१ ॥

सूत्रार्थ—तन्मयत्वात्—तन्मय हो जाने से च—भी राग आदि की उत्पत्ति होती है

व्याख्या—किसी इन्द्रियजन्य विषय में तल्लीन हो जाने से भी राग-द्वेष आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे, किसी एक स्त्री की सुन्दरता पर दो मनुष्य आकर्षित हों तो वे परस्पर प्रतिद्वन्दी समझते हुए झगड़ सकते हैं। यही बात रस, गंध, स्पर्श के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। जिसके पास यह सुख-साधन मौजूद है, उसके सुख को देखकर, जिनके पास यह साधन नहीं हैं, वे द्वेष करने लगते हैं और कभी भी इसका परिणाम भयङ्कर निकलता है। चोरी, डकैती, अपहरण, बलात्कार आदि का कारण भी विषयों में तन्मयता ही है। किसी स्त्री को देखकर उसमें तन्मय हो जाने पर ही अपहरण या बलात्कार की घटना घटित होगी। पर-धन को देख कर, उसे प्राप्त करने की इच्छा का दृढ हो जाना भी तन्मयता ही है, उसके परिणाम् स्वरूप चोरी, डकैती आदि कुकर्म होते हैं और कभी-कभी तो हिंसा भी हो जाती है।

अदृष्टाच्च ॥१३॥

सूत्रार्थ—अदृष्टात्=अदृष्ट से, च=भी इन दोषों की उत्पत्ति हो जाती है।

व्याख्या—अदृष्ट पूर्व-जन्म के कर्म से उत्पन्न होने वाले संस्कार को कहते हैं। इन संस्कारों के द्वारा भी राग-द्वेष की उत्पत्ति होना संभव है। किसी पहिले जन्म में, किसी व्यक्ति से द्वेष रहा हो तो इस जन्म में भी उससे द्वेष उत्पन्न हो सकता है और किसी से मित्रता रही हो तो उससे मित्रता हो सकती है। इस जन्म में अकारण ही परस्पर शत्रुता होते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं, वह पूर्व जन्म के संस्कार से होता है। इसीलिये, राग द्वेष का अदृष्ट द्वारा उत्पन्न होना भी स्वीकार किया गया है।

जातिविशेषाच्च ॥१४॥

सूत्रार्थ—जातिविशेषात्=जाति विशेष से, च=भी राग द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है।

व्याख्या—जाति विशेष या पदार्थ विशेष भी राग-द्वेष का कारण हो सकता है। जैसे मनुष्य अन्न फल फूल दुग्ध आदि की इच्छा रखते हैं परन्तु घास वाली कटिदार वस्तुओं को नहीं खाते वैसे ही पशुओं के लिये घास खली आदि ही अधिक प्रिय है। बहुत-से पशु काँटों को या कड़वे नीम आदि को ही खाना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का सर्प सिंह आदि से द्वेष होता है और वह भय के कारण उनसे बचने की चेष्टा करता है। सर्प और नौले का द्वेष तो प्रसिद्ध ही है। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि जाति की विशेषता से भी राग-द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है।

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्ति ॥१५॥

सूत्रार्थ—इच्छा-द्वेष-पूर्विका=इच्छा अर्थात् राग और द्वेष के द्वारा धर्म-अधर्म प्रवृत्ति=धर्म या अधर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है।

व्याख्या—राग और द्वेष से धर्म या अधर्म कार्यों में प्रवृत्ति होती है। इच्छा के द्वारा मनुष्य यज्ञ दान आदि शुभ कर्म करता है और द्वेष से हिंसा आदि कर्मों में लग जाता है। अथवा राग-द्वेष दोनों ही धर्म कार्य और अधर्म कार्य के भी साधक हैं। किसी व्यक्ति को धर्म कार्य करते देखकर यह विचार उत्पन्न हो कि मैं भी इस कार्य को करूँ तो मेरा भी नाम होगा। यद्यपि उसमें धर्म-कार्य की प्रवृत्ति नहीं थी तो भी वह ईर्ष्या और नाम कमाने की इच्छा से धर्म-कार्य में प्रवृत्त होता है, इसीलिये इस धर्म में राग और द्वेष दोनों ही कारण बने हैं। इसी प्रकार, किसी स्त्री में एक व्यक्ति का प्रेम है और दूसरा उस पर अधिकार कर ले तो स्त्री में राग के कारण उस पर अधिकार करने वाले से द्वेष उत्पन्न होने से इसमें भी राग-द्वेष दोनों ही अधर्म के कारण बनते हैं।

तत्संयोगोविभागः ॥१६॥

सूत्रार्थ—तत् = उस धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति से, सयोग = जन्म और, विभाग = मरण होता है।

व्याख्या—धर्म-अधर्म पर ही जन्म-मरण निर्भर है। धर्म और अधर्म दोनो का चक्र चलते रहने के कारण मरने-जीने का क्रम लगा रहता है। यदि धर्म-अधर्म कर्म शेष न रहें तो उनके फलरूप भोग की भी आवश्यकता न रहे। और जब भोग नही रहा तो जन्म-मरण भी समाप्त हो गया। उस धर्म-अधर्म का कारण राग-द्वेष है, इसलिये राग-द्वेष से ही आवागमन का होना समझना चाहिये।

आत्म कर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१७॥

सूत्रार्थ—आत्म-कर्मसु = आत्म-ज्ञान प्राप्ति वाले कर्म से, मोक्ष = मुक्त होना, व्याख्यात = कहा गया है।

व्याख्या—जब आत्म-ज्ञान हो जाता है, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये भी कर्म की आवश्यकता होती है और कर्म है सासारिक विषयो का त्याग करना और आत्म-चिंतन मे तल्लीन होना। जब तक विषय-भोगो का त्याग नही किया जायगा, तब तक आत्म-ज्ञान का साधक कर्म बन ही नही सकता। जैसे, प्रकाश से अंधेरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही मन को वश मे करने से विषयों का नाश हो जाता है। इसलिये, मोक्ष की कामना वाले पुरुषो को विषयो के त्याग का प्रयत्न करना आवश्यक है।

॥ षष्ठोऽध्याय द्वितीयआह्निकम् समाप्त ॥

सप्तमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

उक्ता गुणा ॥१॥

सूत्रार्थ—गुणा=गुण उक्ता=कहे जा चुके हैं।

व्याख्या—प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक में गुणों की व्याख्या की गई थी उसमें रूप रस आदि चौबीस गुणों के नाम बतलाये गये थे अब उन गुणों की परीक्षा करते हैं। इस आह्निक में नित्य अनित्य पाकज संख्या और परिमाण इन पाँच प्रकार के गुणों की परीक्षा की जायगी।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥२॥

सूत्रार्थ—पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा=पृथिवी आदि के रूप रस गन्ध और स्पर्श यह गुण द्रव्य-अनित्यत्वात्=द्रव्य के न होने से अनित्या=अनित्य च=ही हैं।

व्याख्या—पृथिवी जल अग्नि वायु इन चार पदार्थों के रूप रस गन्ध स्पर्श यह गुण कहे गये हैं, यह नित्य नहीं अनित्य हैं। क्योंकि यह गुण नाशवान् पदार्थों में ही पाये जाते हैं और अपने आश्रय के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे वस्त्र का रूप वस्त्र के नष्ट होते ही समाप्त हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि गुणों के आश्रयभूत पदार्थ ही नष्ट हो जाते हैं तो गुण भी नष्ट ही हो जायेंगे। इसीलिये गुणों की अनित्यता सही है।

एतेन नित्येषुनित्यत्वमुक्तम् ॥३॥

सूत्रार्थ—एतेन = उन कहे हुए, नित्येषु = नित्य पदार्थों मे, नित्यत्वम् = नित्यता का होना, उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या—जिन द्रव्यो का नित्य होना कहा है, वे द्रव्य नित्य हैं। इसका तात्पर्य यह कि जिस गुण का आश्रय अनित्य है, वह गुण भी अनित्य है, जिसका आश्रय नित्य है, वह स्वय भी नित्य है। इस प्रकार नित्य, अनित्य की परीक्षा की गई।

अप्सु तेजसि वायौ च नित्याः द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थ—द्रव्यनित्यत्वात् = द्रव्य के नित्य होने से, अप्सु-तेजसिवायौ = जल, अग्नि और वायु के परमाणुओ मे रहने वाले गुण, च = भो, नित्या = नित्य ही हैं।

व्याख्या—जल के परमाणुओ मे रूप, रस, स्पर्श के स्वाभाविक होने से उनमें नित्यता भी हो सकती है। अग्नि के परमाणुओ मे रूप और स्पर्श नित्य हो सकते हैं और वायु के परमाणुओ में स्पर्श गुण का नित्य होना माना जा सकता है। क्योकि, द्रव्य नित्य होगे, तभी उनके गुण नित्य हो सकते हैं। रूप आदि गुण मे, एक में दूसरे गुण की प्रतीति न होने से, उनमे किसी प्रकार के विकार का होना भी नही पाया जाता।

अनित्येष्वनित्याः द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ—द्रव्यानित्यत्वात् = द्रव्य के अनित्य होने से, अनित्येषु = अनित्य द्रव्यो मे, अनित्या = गुण भी अनित्य होते हैं।

व्याख्या—जो कार्य-रूप अनित्य द्रव्य हैं, उनके गुण भी अनित्य हैं। जल आदि पदार्थ नाशवान् है, इसलिये उनके गुण भी नाशवान ही समझने चाहिये। क्योकि, जिसका आश्रय ही नष्ट होने वाला है तो वह आश्रित अविनाशी कैसे हो सकता है?

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥६॥

सूत्रार्थ—पृथिव्याम् = पृथिवी में पाकजा = पकने के गुण उत्पन्न होते हैं वे कारणगुणपूर्वका = अपने-अपने कारण से ही प्रकट होते हैं।

व्याख्या—पृथिवी में दूसरे द्रव्यों के साथ पक कर जो रूप रस आदि गुण प्रकट होते हैं उनकी उत्पत्ति अपने-अपने कारणों से ही होती है। अर्थात् जैसे गुण कारण के होंगे वैसे ही गुण कार्य के होंगे। जैसे लाल रङ्ग के धागे से बुनने पर लाल रङ्ग का ही वस्त्र होगा रेशम से बुने गये वस्त्र को रेशमी कहेंगे और उसका रूप स्पर्श आदि भी रेशम जैसा ही होगा। कागज से फूल बनाने पर भी वह कागज जैसा ही होगा उसमें असली पुष्प का-सा रूप या गन्ध आदि नहीं हो सकता। यदि कहें कि जो नेत्र से ग्रहण किया जाय वही रूप है और जो जीभ से ग्रहण किया जाय वही रस है तो नेत्र के नष्ट हो जाने पर रूप का दिखाई देना बन्द हो जायगा परन्तु रूप नष्ट नहीं होगा। क्योंकि कार्य के विद्यमान रहने तक रूप भी विद्यमान रहेगा। नेत्र के नष्ट होने से रूप का नष्ट होना या जिह्वा के नष्ट होने से रस का नष्ट होना नहीं माना जा सकता। धर्म के साथ धर्मी और धर्मी के साथ धर्म रहेगा धर्म से धर्मी अलग नहीं हो सकता।

एकद्रव्यत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थ—एकद्रव्यत्वात् = एक द्रव्यता होने से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—प्रत्येक गुण का आश्रय एक द्रव्य एक ही होता है। परन्तु, स्वाभाविक धर्मों के अलावा नैमित्तिक गुण भी होते हैं वे भी द्रव्यों में रहते हैं। जैसे पृथिवी का स्वाभाविक गुण गन्ध है रूप अग्नि का रस जल का और स्पर्श वायु का गुण माना जाता है। साथ ही पुरुष

वस्तु के गुण स्थूल मे तो आ जाते हैं, परन्तु स्थूल वस्तु के गुण सूक्ष्म मे नही आते। इस न्याय से पृथिवी मे चारो गुणो का आरोप कर लिया जाता है। यथार्थ में उसका गुण एक मात्र गन्ध ही है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यो में भी समझना चाहिये।

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥

सूत्रार्थ—अणो=अणु, महत=महत की, उपलब्धि=प्राप्ति, च=और, अनुपलब्धी=अप्राप्ति, नित्ये=नित्य, व्याख्याते=कही गई है।

व्याख्या—इस सूत्र में अणु और महत् आदि परिमाण को अविनाशी कहा है। जैसे किसी बर्तन को देखकर अनुमान करें कि यह बर्तन मोटा है या पतला है। छोटा है या बडा है। इसी प्रकार ससार की सभी वस्तुओ का अनुमान किया जाता है। यहाँ तक कि परमाणु का परिणाम भी इसी प्रकार से जाना जाता है। द्रव्य मे रूप, रस आदि गुणो के समान ही परिमाण भी होता है। क्योकि परिमाण अर्थात् माप से द्रव्य की पहिचान भी होती है। परमाणु सूक्ष्म होने से दिखाई नही देते, जब वे द्रव्य रूप में बदलकर 'महत्' हो जाते हैं, तभी दिखाई देते हैं। इसलिये, सूत्रकार ने अणु की अनुपलब्धि अर्थात् परिमाण रूप द्रव्य को प्रत्यक्ष होना माना है। इसी प्रकार दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु मे छोटा होना, मध्यम या बडा होना पाया जाता है, क्योकि, जो वस्तु दिखाई देती है, उसका परिमाण अर्थात् आकार-प्रकार अवश्य होगा। परिमाण के चार भेद हैं—छोटा, बडा, सूक्ष्म और स्थूल। सबसे छोटा या सबसे बडा होना नित्य पदार्थों मे भी होता है, परन्तु, मध्यम परिमाण वाले और अवयव-युक्त द्रव्य नित्य नही माने जात।

कारण बहुत्वाच्च ॥९॥

सूत्रार्थ—कारण बहुत्वात्=कारणो के अनेक होने से, च=भी, महत् होता है।

व्याख्या— कारण की योग्यता का भी महत् मानना होगा और जब कारण को महत् मान लिया तब उनके संयोग से महत् गुण की उत्पत्ति भी माननी होगी। एक परमाणु में अणु की स्पष्टता होते हुये भी परमाणुओं के समूह में अधिक संख्या होने से उसको महत् कहा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि महत् एक परमाणु के लिये नहीं कह सकते बल्कि अनेक परमाणुओं के इकट्ठे हो जाने से 'महत्' गुण की उत्पत्ति होती है। क्योंकि एक का गुण छोटा है दो के मिलने पर गुण भी कुछ बड़ा हुआ चार के मिलने पर और भी बड़ा हुआ। इस प्रकार जितने परमाणु मिलते जावेंगे उतना ही बड़ा गुण होता जायगा। जैसे एक खिलौना बनाना है तो उसके लिये थोड़ी मिट्टी से तो खिलौने का हाथ या पाँव अथवा मुख ही बनकर रह जायगा अधिक मिट्टी लेने पर और भी अङ्ग बनेंगे और भी मिट्टी लेने पर पूरा खिलौना बन जायगा अथवा यों कहना चाहिये कि थोड़ी मिट्टी लेंगे तो छोटा खिलौना बनेगा अधिक मिट्टी लेंगे तो बड़ा खिलौना बनेगा। इससे सिद्ध हुआ कि मिट्टी के परमाणुओं के मेल से खिलौने का निर्माण हुआ अर्थात् खिलौना मिट्टी के परमाणुओं के संयोग से बन सका। इसलिये इस सूत्र में कहा गया है कि अनेक कारणों के संयोग से मध्यम परिमाण वाली वस्तु में महत् की उत्पत्ति होती है। यह पहिले ही कहा चुके हैं कि मध्यम परिमाण वाली वस्तुयें अवयव वाली होने से अनित्य भी हैं। क्योंकि ये अनेक परमाणुओं के योग से बनती हैं।

अतोविपरीतमणु ॥१०॥

सूत्रार्थ—अतः = इससे विपरीतम् = विपरीत अणु = अणु है।

व्याख्या—ऊपर जो महत् परिमाण बताया गया है उसके विपरीत होने से अणु कहना चाहिये। जो पदार्थ दिखाई देता है वह महत् और जो न दिखाई दे वह अणु ऐसी मान्यता है। अर्थात् बड़ी या स्थूल वस्तु दिखाई देती है क्योंकि वह अनेक परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न

होती है और छोटी अर्थात् सूक्ष्म वस्तु दिखाई नही देती, क्योकि, वह अणु रूप होती है। अणु एक है, उसमे कारण सयोग नही है और महत् अनेक कारण-सयोग अर्थात् बहुत-से कारणो से बनता है। जितने कम परमाणु होगे, उतना ही कम आकार होगा और जितने अधिक परमाणु मिलेगे, उतना ही आकार बडा होगा। इससे सिद्ध होता है कि सब परमाणुओ के मिलने से सबसे बडा कहा जाता है और एक परमाणु का रहना अथवा परमाणुओ का सयोग न होना ही सबसे छोटा माना गया है।

अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषा-भ.व.च्च ॥११॥

सूत्रार्थ—अणु=छोटा, महत्=बडा, इति=यह, तस्मिन्=उस वस्तु मे, विशेषभावात्=विशेष होने से, और विशेष-अभावात्=विशेष न होने से, च=ही होता है।

व्याख्या—छोटा और बडा होना वस्तु के आकार-प्रकार पर निर्भर है, जैसे धोती से अङ्गोछा छोटा होता है, क्यो छोटा होता है ? इसलिए कि उसमे बडेपन का अभाव है अर्थात् अगोछा अधिक से अधिक दो-ढाई गज का होता है और धोती चार-पाँच गज की होने से अगोछे से विशेष भी हुई। साथ ही अगोछे भी छोटे-बडे हो सकते हैं। फिर नामो की विशेषता से भी छोटा-बडा होना सिद्ध होता है। जैसे बैंत और मूँठ। बैंत बडा होता है और मूँठ से विशेष प्रकार का होता है और मूँठ छोटी होती है तथा बैंत मे लगकर उसकी विशेषता समाप्त हो जाती है और वह बैंत को ही बडा बना देती है। परमाणु मे जो छोटापन है वह नित्य है और उसे कारण भी कहा गया है। क्योकि एक और एक मिलकर दो परमाणु होते हैं, इसलिये दो होने का कारण एक ही हुआ, परन्तु, दो अर्थात् द्वयणुक होकर जो कार्य बना वह अनित्य है, उसका छोटापन

अपेक्षाकृत अर्थात् तीन से छोटा होने से है। इस प्रकार किसी वस्तु का दूसरी वस्तु से छोटा होना अपेक्षाकृत ही कहा जायगा।

एककालत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थ—एक कालत्वात्—एक काल में होने से छोटा बड़ा कह सकते हैं।

व्याख्या—किसी वस्तु का छोटा होना या बड़ा होना यह एक समय में ही हो सकता है अर्थात् कोई एक वस्तु एक समय में ही छोटी या बड़ी कही जा सकती है। जैसे आम आमला और बेर तीन वस्तु रक्खी हैं उनमें आमले को आम से छोटा कहेंगे और बेर से बड़ा क्योंकि बेर आमले से छोटा होता है। परन्तु एक वस्तु में ही बड़ा या छोटा होना नहीं माना जा सकता क्योंकि छोटा और बड़ा एक-दूसरे से विपरीत होता है और एक वस्तु में अनुकूल तथा विपरीत दोनों गुण एक साथ नहीं रह सकते। साथ ही जिस वस्तु का जो आकार प्रकार है वह उसके नष्ट होने तक एक-सा ही रहेगा। जिनमें परमाणुओं की अधिकता है, वे वस्तु अधिक बड़ी और परमाणुओं की न्यूनता है, वे वस्तु छोटी होंगी। यही बात व्यावहारिक होने से मान्य भी है।

दृष्टान्ताच्च ॥१३॥

सूत्रार्थ—दृष्टान्तात्—उदाहरण से च=भी यही मान्यता सिद्ध होती है।

व्याख्या—ऊपर आम आँवला और बेर का उदाहरण दिया गया उसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। जैसे गाय ऊँट से छोटी होती है परन्तु बकरी से बड़ी है। शेर बिल्ली से बड़ा है इससे बिल्ली शेर से छोटी हुई और बिल्ली से चूहा छोटा होता है इससे बिल्ली का चूहे से बड़ा होना सिद्ध हुआ। एक के उदाहरण से दूसरे का

छोटापन सिद्ध करना अपेक्षाकृत है और अपेक्षाकृत बताना ही उदाहरण है।

अणुत्व महत्वयोरणुत्व महत्वाऽभावः कर्म गुणै र्व्याख्यातः ॥१४॥

सूत्रार्थ—अणुत्वमहत्वयो.=अणुपन और महत्व मे, अणुत्वमहत्व =छोटापन और बडापन, अभाव =न होना, कर्मगुणै·=कर्म और गुण से, व्याख्यात =कहा गया है।

व्याख्या—जैसे गुण और कर्म मे छोटापन या बडापन नही है अर्थात् गुण, कर्म का कोई आकार नही, उसी प्रकार अणु मे और महत् मे परिमाण की दृष्टि से को: छोटाई-बडाई नही होती। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कर्म मे कर्म नही होता और गुण मे गुण नही होता, वैसे ही अणु अर्थात् छोटे का छोटा नही होता और बड़े का बडापन भी नही होता।

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्चगुणाः व्याख्याताः ॥१५॥

सूत्रार्थ—कर्मभि=कर्म मे, कमाणि=कर्म, च=और, गुणै =गुण मे, गुणा.=गुण का होना, व्याख्याता =कहा गया है।

व्याख्या—कर्म में कर्म, गुण मे गुण के सम्बन्ध मे पहिले कह चुके हैं। अर्थात् कर्म से ही क्रिया होती है, और गुण से गुणत्व। गुण का आश्रय द्रव्य है अर्थात् द्रव्य मे गुण रहता है और गुण के कारण ही द्रव्य गुणत्व वाला है।

अणुत्व महत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च ॥१६॥

सूत्रार्थ—अणुत्वमहत्त्वाभ्याम् =अणुत्व और महत्व से, च=ही, कर्मगुणा =कर्म और गुण कहे गये हैं।

व्याख्या—जैसे अणुत्व में अणुत्व नहीं होता अर्थात् अणु का अणु नहीं वैसे ही महत् का महत् नहीं होता। जो छोटा है उसका छोटापन या बड़ा है उसका बड़ापन नहीं है उसी प्रकार गुणों का अणुत्व और महत्व नहीं होता अर्थात् गुणों में छोटापन या बड़ापन नहीं है।

एतेनदीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥१७॥

सूत्रार्थ—एतेन = इससे दीर्घत्व = बड़ापन ह्रस्वत्वे — छोटापन व्याख्याते = कहा गया है।

व्याख्या — सूक्ष्म में सूक्ष्मत्व और स्थूल में स्थूलत्व होता है इसके सिवा उनमें और किसी गुण का अभाव है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म द्रव्य में सूक्ष्मता होने के कारण ही उसका ह्रस्वत्व अर्थात् छोटा होना कहा है और स्थूल में स्थूलता होने से ही दीर्घत्व माना गया है। महत् होना यह परमाणुओं का समुदाय रूप होने से स्थूल है और अणु में सूक्ष्मता होने से उसका नित्य होना भी कहा गया है। अब सूत्रकार परिमाणों के नित्य या अनित्य होने का विचार करेंगे।

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—अनित्ये = अनित्य द्रव्य में आश्रित परिणाम, अनित्यम् = अनित्य ही होते हैं।

व्याख्या — अनित्य पदार्थ का परिणाम भी अनित्य ही होगा। क्योंकि आश्रय के नष्ट हो जाने पर कार्य का नष्ट होना आवश्यक है। जैसे धागा टूट जाय तो वस्त्र फट जाता है अर्थात् वस्त्र फटने का अर्थ धागों का टूटना ही है। परन्तु, आश्रित के नष्ट होने पर भी आश्रय का रूप बना रह सकता है। जैसे घड़ा टूट जाय तो भी उसके ठीकरों को देखकर यह कह सकते हैं कि यह घड़ा होगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अनित्य का परिणाम नित्य नहीं हो सकता और आश्रित का नाश होने से आश्रय भी नष्ट हो जाय ऐसा नहीं कहा जा सकता।

नित्ये नित्यम् ।।१९।।

सूत्रार्थ—नित्ये=नित्य द्रव्य मे, नित्यम्=नित्य परिणाम होता है।

व्याख्या—नित्य द्रव्यो का परिणाम भी नित्य होता है। आकाश और परमाणु आदि नित्य है, उनका परिणाम भी नष्ट न होने वाला होगा। क्योकि, आश्रय के नष्ट होने पर परिणाम का नष्ट होना स्वाभाविक है, जिसका आश्रय नित्य है, उसी का परिणाम नित्य हो सकता है।

नित्यं परिमण्डलम् ।।२०।।

सूत्रार्थ—परिमण्डलम्=गोल परमाणु का परिणाम, नित्यम्=नित्य होता है।

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् गोल परमाणुओ से बना है, वे परमाणु नष्ट न होने वाले माने गये हैं। गोल वस्तु मे आकाश का रहना सिद्ध है तथा अवयव वाली वस्तु मे भी आकाश रहता है, जिसमे आकाश है उसमे विभाग भी हो सकता है।

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ।।२१।।

सूत्रार्थ—अविद्या=अज्ञान, च=ही, विद्या=ज्ञान का, लिङ्गम्=लक्षण है।

व्याख्या—अविद्या के द्वारा विद्या की पहिचान होती है, क्योकि विद्या अविद्या से विरुद्ध लक्षण वाली है। एक वस्तु के लक्षण का ज्ञान हो, उससे विरुद्ध लक्षण वाली वस्तु की सज्ञा भी विरुद्ध होगी, इससे विरुद्ध लक्षण मे विरुद्ध नाम वाली वस्तु जानी जा सकती है। इसी प्रकार महत् परिमाण वाले परमाणु का अणु होना भी जाना जाता है अर्थात् एक परमाणु सूक्ष्म अथवा अणु है तो इसके विपरीत अनेक परमाणुओं

का समूह स्थूल होगा ही अथवा अनेक परमाणुओं के स्थूल होने से ही एक परमाणु का सूक्ष्म होना सिद्ध होता है।

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥२२॥

पदार्थ—तथा=उसी प्रकार विभवात्=विभु होने से आकाश=आकाश च=और आत्मा=आत्मा महान्=महत् परिमाण वाले हैं।

व्याख्या—आकाश विभु है। क्योंकि उसका सम्बन्ध अवयव वाले प्रत्येक पदार्थ से है और विभु वही है जो सबसे बड़ा है। इसलिये आकाश को सबसे बड़ा मानना चाहिए। आकाश का गुण शब्द भी सर्वत्र विद्यमान है इसलिये उसकी व्यापकता सब जगह होने से वह विभु भी है। इसी प्रकार आत्मा भी अनेक स्थानों से सम्बन्ध रखता है। आज भारत में जन्म लिया है तो दूसरे जन्म में किसी अन्य देश में उत्पन्न हो सकता है इस प्रकार किसी भी देश में उत्पन्न होने वाला होने से सभी देशों में या सब स्थानों में उसकी पहुँच है क्योंकि श्रुतियों में भी उसका एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना कहा है। जो वस्तु गतिमान है, वह विभु हो ही सकती है। इसलिये आत्मा भी विभु है—ऐसा सिद्ध होता है। आकाश और आत्मा के विभु होते हुये भी भेद इतना ही है कि आकाश अवयव वाले पदार्थ के भीतर रहता है और बिना अवयव के पदार्थ से बाहर। परन्तु आत्मा आकाश से अधिक सूक्ष्म होने के कारण अवयव वाले पदार्थ और बिना अवयव वाले पदार्थ दोनों के भीतर और बाहर रह सकता है। किसी-किसी व्याख्याकार ने इस सूत्र में आत्मा से परमात्मा का अर्थ किया है तो वह अर्थ भी ठीक है। क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक होने से विभु है ही। यदि आत्मा को जीवात्मा मानें तो उसके विभु होने के सम्बन्ध में अभी कह चुके हैं। इस प्रकार आकाश और आत्मा दोनों का विभु होना और महान् होना सिद्ध होता है।

तदभावादणु मनः ॥२३॥

सूत्रार्थ—तत्-अभावात्=उसके न होने से, मन =मन. अणु=अणु के परिमाण का है।

व्याख्या—मन का विभु होना नहीं माना गया, क्योंकि मन को एक समय मे एक-एक विषय का ही ज्ञान होता है, एक समय मे दो विषयो को ग्रहण नही कर सकता, इसलिये मन एक स्थानीय हुआ। जो वस्तु एक स्थानीय है उसका विभुत्व नही बनता और जो विभु नहीं, वह अणु ही हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि मन विभु नहीं, अणु अर्थात् ह्रस्व है।

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२४॥

सूत्रार्थ—गुणै =गुणो के समान ही, दिक्=दिशा, व्याख्याता=कही गई हैं।

व्याख्या—जैसे गुणो का वर्णन हुआ है, वैसे ही दिशा का वर्णन समझना चाहिये। प्रत्येक देश मे सामने अमुक दिशा है तो पीछे अमुक दिशा होगी और अमुक दिशा मे स्थित अमुक नगर अमुक नगर से पहिले होगा या बाद मे होगा, इसका भी अनुमान हो जाता है। जैसे, दिल्ली से बम्बई बहुत दूर है, परन्तु आगरा बम्बई से बहुत ही उरली तरफ है। आगरा और बम्बई के लिये जाने वाली गाडी एक ही है, वह एक ही दिशा को जाती है, इस प्रकार एक ही दिशा मे आगरा और बम्बई उसकी उपाधि हुई। इससे सिद्ध हुआ कि उपाधि के भेद से ही दिशाओं मे अन्तर प्रतीत होता है। वैसे दिशा एक ही मानी गई है।

कारणेन कालः ॥२५॥

सूत्रार्थ—कारणेन=कारण के समान ही, काल =काल का वर्णन समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे आकाश विभु है वैसे ही काल को भी विभु समझना चाहिये। पहिले पीछे, देर में जल्दी से आदि समय का ज्ञान एक स्थान पर ही नहीं होता सब जगह हो सकता है इसलिये इसका व्यापक होना ही कहा जायगा। तथा अमुक व्यक्ति अब उत्पन्न हुआ अथवा अमुक स्त्री के बालक होने में एक महीने की देर है, ऐसा कहने से भी समय का अनुमान होता है और यह अनुमान सभी स्थानों पर हो सकता है, एक ही स्थान पर नहीं हो सकता। इसलिये काल को विभु ही मानना उचित है तथा काल भी एक है उसका अनेक होना सिद्ध नहीं होता यह बात पहिले सिद्ध कर चुके हैं।

॥ सप्तमोऽध्याय —प्रथमाह्निकम् समाप्तः ॥

सप्तमोऽध्याय —द्वितीयाह्निकम्

रूप रस गंध स्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

सूत्रार्थ—रूपरसगंध स्पर्श व्यतिरेकात्—रूप रस गंध और स्पर्श के व्यतिरेक से एकत्वम्—एक आदि संख्यायें अर्थान्तरम्= एक से दूसरे में उपलब्ध होती हैं।

व्याख्या—रूप रस आदि से अन्य गुणों का भी ग्रहण होने से उन्हें उपलक्षण रूप ही मानना चाहिए। संख्या का बोध कराने वाले पदार्थों के सिवाय गुण रहित पदार्थों में भी यह संख्या रहित है इसीलिए रूपादि गुणों के भीतर रहने वाले गुणत्व से अलग माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि संख्या केवल रूप रस आदि गुणों में ही नहीं रहती अन्य पदार्थों में भी रहती है इसी से यह सिद्ध होता है कि संख्या रूप रस आदि पदार्थों से भिन्न है तथा उसका अस्तित्व भी अलग है। जैसे

एक घडा है, दो घडे हैं आदि सख्याऐ घडो मे ही नही, दूसरे पदार्थों मे भी पायी जाती है, क्योकि, एक धोती, पाँच अगोछे, तीन छतरी आदि कहने से धोती, अ गोछा और छतरी मे भी सख्या का बोध अलग-अलग रूप से हो सकता है। इससे सिद्ध होता है सख्या रूप आदि से अलग पदार्थ हैं।

तथा पृथक्त्वम् ॥२॥

सूत्रार्थ—तथा=इसी प्रकार, पृथक्त्वम्=पृथक् होना भी रूप आदि से भिन्न ही है।

व्याख्या—जैसे एकत्व अर्थात् एक आदि सख्या अलग पदार्थ है, वैसे ही पृथक्त्व भी भिन्न पदार्थ है। जैसे, 'एक घडा है दूसरे घडे से पृथक् है' ऐसा कहने से पृथकत्व अर्थात् अलग होने का बोध होता है। किसी पदार्थ में एकत्व और किसी पदार्थ मे अनेकत्व रूप, रस आदि से भिन्न पदार्थ है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। यह घडे हैं ऐसा कहने से अनेक घडो की एक जाति सिद्ध होती है, परन्तु, यह अनेकत्व घडे से अलग ही है, क्योकि एक घडे के लिए, अनेक घडे है ऐसा नही कह सकते।

एकत्वैक पृथक्त्वयोरेकत्वैक पृथक्त्वाभावोऽणुत्व-महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥

सूत्रार्थ—एकत्वैक पृथक्त्वयो=एकत्व और पृथक्त्व मे, एकत्वैक-पृथक्त्व-अभाव=अन्य एकत्व और पृथक्त्व का अभाव है, इसे, अणुत्वमहत्वाभ्याम्=अणुत्व और महत्त्व मे, व्याख्यात=कहा गया है।

व्याख्या—एकत्व मे कोई दूसरा एकत्व नही होता और पृथक्त्व मे कोई अन्य पृथक्त्व नही होता, यह बात, अणुत्व मे अन्य अणुत्व न होने और महत्त्व मे अन्य महत्त्व न होने के समान ही समझनी चाहिये।

इसे इसी अध्याय के प्रथम आह्निक में समझा चुके हैं कि गुण में गुण नहीं रहता अर्थात् गुण का भी कोई अन्य गुण नहीं है। महत् अर्थात् बड़े का बड़ा और अणु अर्थात् छोटे का छोटा भी अन्य नहीं है। इसी प्रकार, एकत्व का कोई अन्य एकत्व या पृथक्त्व का कोई अन्य पृथक्त्व नहीं है।

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥४॥

पदार्थ—कर्मगुणानाम्=कर्म और गुणों के निःसंख्यत्वात् =संख्या रहित होने से सर्वैकत्वम्=सब में एकत्व न=नहीं विद्यते=होता।

व्याख्या—कर्म और गुण मिलकर भी संख्या-रहित होने से एकत्व के अन्तर्गत नहीं आते। संख्या गुण नहीं है क्योंकि गुण द्रव्य में रहता है और कर्म भी नहीं है क्योंकि कर्म में गणना नहीं है। यदि ऐसा कहें कि गुण और कर्म में संख्या का आभास इस प्रकार मिलता है कि एक रूप यह है दूसरा रूप वह है, ऐसा कहने में आता है तथा एक कार्य तुमने किया है, दूसरा मैं कर दूँगा—ऐसा कहने से रूप आदि गुणों में और कर्मों में भी संख्या का आभास मिलता है। परन्तु, इसका उत्तर सूत्रकार स्वयं देते हैं—

भ्रान्तं तत् ॥५॥

पदार्थ—तत्=वह भ्रान्तम्=भ्रम है।

व्याख्या—गुण और कर्म में एकत्व संख्या का ज्ञान भ्रम के कारण ही है। क्योंकि जो संख्या कर्म और गुण के आश्रित है, वह कर्म और गुण नहीं हो सकती। जैसे गुण द्रव्यों में रहकर भी गुण द्रव्य नहीं हो सकता बल्कि अलग पदार्थ ही है, वैसे ही संख्या को भी अलग पदार्थ समझना चाहिये। इस पर यह शंका हो सकती है कि द्रव्यों में भी एकत्व का आभास भ्रान्ति से ही क्यों न माना जाय ? इस शंका का समाधान आगे के सूत्र में हुआ है—

एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ—एकत्व-अभावात्=एकत्व का अभाव होने से, तु=तो, भक्ति=समान धर्म, न=नही, विद्यते=होता।

व्याख्या—यदि द्रव्यो मे एकत्व का अभाव हो तो उसका अस्तित्व ही नही रह सकता और जब किसी वस्तु का अस्तित्व नही, भक्ति से होना भी नही मान सकते। जो वस्तु अपने स्वरूप से अलग न हो उसे भक्ति कहते हैं। जब, एकत्व का अभाव बना तो भक्ति का भी अभाव हो गया। जब कोई वस्तु देखी हो तभी उसका भ्रम भी हो सकता है। जैसे सर्प देखा जाने से ही रस्सी मे सर्प का भ्रम होता है। उसका कारण यह है कि सर्प की सत्ता है, वह विषधर होने से भयानक है, इस प्रकार उसके स्वरूप का ज्ञान ही रस्सी मे सर्प के भ्रम का कारण होगा। सर्प की सत्ता हीन होती तो रस्सी मे सर्प का भ्रम भी नही हो सकता था। इसी प्रकार, द्रव्य में एकत्व रहने पर ही गुण, कर्म मे एकत्व का भ्रम हो सकता है।

कार्य कारणयोरेकत्वैक पृथक्त्वाभावादेकत्वैक पृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥

सूत्रार्थ—कार्य कारणयो =कार्य और कारण मे, एकत्व-एकपृथक्त्व-अभावात्=एकत्व और एक पृथकत्व का अभाव होने से, एकत्व-एक पृथक्त्वम्=एकत्व और पृथकत्व, न=नही, विद्यते =होते।

व्याख्या—यदि शका करे कि कार्य और कारण एक ही है, उनमे एकत्व या पृथकत्व नही होता, क्योकि, कोई भी वस्तु स्वय अलग नही होती। यदि वस्त्र के धागो को अलग-अलग कर दें तो धागे ही दिखाई देंगे उनसे भिन्न कोई वस्त्र दिखाई नही देगा। इसी प्रकार दो ठीकरे अर्थात् कपाल मिलाकर घडा बनाते हैं, उन दोनो ठीकरो को

अलग-अलग कर दें तो घड़ा दिखाई नहीं देगा इससे यह मानना चाहिये कि वस्तु के पृथकत्व अर्थात् अलग होने से भिन्न कोई वस्तु नहीं इसलिये कार्य और कारण का एक होना ही सिद्ध होता है। परन्तु यह शंका निर्मूल है, ऐसा सूत्रकार स्वयं सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि कार्य कारण का एकत्व नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य का अलग होना और कारण का अलग होना पाया जाता है। यदि कार्य और कारण को एक ही मानते तो कपास को ही कपड़ा मान लेना होगा। यद्यपि कपास से कपड़ा बनाया जाता है परन्तु कपास कपड़ा नहीं हो सकती। यदि कपास ही कपड़ा होता तो उसे धुनकर रुई बनाने रुई से सूत कातने और सूत से कपड़ा बुनने का झंझट ही क्यों करना पड़ता? इससे सिद्ध होता है कि कार्य और कारण में भेद है। उपादान कारण से कार्य बनता है परन्तु, उपादान कारण स्वयं कार्य हो जाय ऐसा नहीं देखा जाता। मिट्टी के एक कण को घड़ा नहीं कह सकते बल्कि बहुत-से कणों के मिलने पर ही घड़ा संयोगात्मक है। उपादान पदार्थों में मिलने की और काम के कर्त्ता में पदार्थों को मिलाने की शक्ति होने से उस संयोगात्मक काम की सिद्धि होती है। कार्य बनने से पहिले कारण और उससे क्रिया होने की शक्ति तो विद्यमान थी परन्तु, कारण ही कार्य था ऐसा नहीं कह सकते।

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥

सूत्रार्थ—एतत्=इसी प्रकार अनित्ययो=एकत्व और पृथकत्व का अनित्य होना व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे एकत्व और पृथकत्व कार्य और कारण में नहीं होता वैसे ही एकत्व और पृथकत्व को अनित्य भी माना गया है। इसका तात्पर्य यह है एकत्व और पृथकत्व को कारण के गुण के अनुसार समझना चाहिये अर्थात् कार्य में कारण के गुणों के अनुसार ही संख्या और पृथकत्व की सिद्धि होती है। जैसे अनित्य तेज का गुण रूप और स्पर्श

कारण की विशेषता से ही कार्य मे रहता है और नित्य द्रव्य मे एकत्व और पृथकत्व अनित्य नही हो सकता। साथ ही एकत्व मे द्वित्व अथवा अनेकतव्य नही है। क्योंकि, एक ही दो नही हो सकते—एक और एक मिलकर ही दो होगे अथवा अनेक एक का सयोग ही बहुत्व होगा। इससे समझना होगा कि अनेक का मिलना अनित्य है और उनका अलग-अलग हो जाना भी अनित्य है। जो मिलता है, वह अलग-अलग होगा ही। इस प्रकार सयोग है तो विभाग होना भी निश्चित है और यह सयोग-विभाग ही अनित्यत्व है। एक और एक का सयोग दो है तथा तीन 'एक' का मिलना ही तीन है। जो दो से अधिक है वह बहुत माना जायगा। इसमे शका करे कि दस कहने बहुत्व नही होता, बल्कि दस की सख्या ही मानना चाहिये, तो यह बात ठीक नही मान सकते। क्योंकि, बहुत्व के होने पर सख्या का प्रश्न गौण हो जाता है। वहाँ अनेक वृक्ष हैं, वहाँ बहुत से मनुष्य है, इस टोकरी मे फल रखे हैं, ऐसा कहने से सख्या का आभास नही होता, बल्कि उनके बहुत होने का अनुमान ही होता है। परन्तु, यह बहुत्व एक-एक के सयोग से उत्पन्न होता और उनके अलग-अलग होने पर नष्ट हो जाता है, इसमे भी यही सिद्ध होता हैं कि एकत्व और पृथक्त्व नित्य नही, नाशवान् हैं।

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥९॥

सूत्रार्थ—अन्यतरकर्मज =दो में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न, अथवा, उभयकर्मज =दोनो के कर्म से उत्पन्न, च= और, सयोगज =सयोग से उत्पन्न, सयोग =यह सयोग ही कहा जायगा।

व्याख्या—दो वस्तुओ के मिलने को सयोग कहते हैं। सूत्रकार ने सयोग के तीन भेद किये हैं—(१) दो पदार्थो मे से एक मे क्रिया है, दूसरा पदार्थ क्रियाहीन है, परन्तु, क्रिया वाले पदार्थ के सयोग से क्रिया रहित पदार्थ मे भी क्रिया उत्पन्न हो जाय इसे सयोग कहेगे, (२) दो

पदार्थों में क्रिया हो और दोनों के मिलने पर क्रियाशील हो जाय यह भी संयोग है और (३) दो पदार्थों के मिलने पर दोनों की क्रिया अधिक शक्तिशाली हो वह संयोगज संयोग है। इसे दूसरे प्रकार समझिये—जो पहिले प्राप्त न हुआ हो उसका मिल जाना संयोग है, यह संयोग कर्म के द्वारा हो सकता है। जैसे एक पक्षी वृक्ष पर आ बैठा पहिले वह पक्षी उस वृक्ष पर नहीं बैठा था अब बैठने से संयोग उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कर्म द्वारा किसी वस्तु का मिलना प्रथम प्रकार का संयोग हुआ इसमें पक्षी क्रिया वाला और वृक्ष क्रिया-हीन है। एक आकाश में दो तारे टिम टिमा रहे हैं इन दोनों में टिमटिमाना या चमकना ही क्रिया है और एक आकाश में होने के कारण उनका संयोग भी है, इस प्रकार दूसरे प्रकार का संयोग सिद्ध हुआ। कहीं दो पदार्थों के मिलने से क्रिया की शक्ति बढ़ जाती है पानी से विद्युत उत्पन्न होकर भारी-भारी मशीनों को चलाती है। इसमें पानी और विद्युत का संयोग ही शक्ति उत्पन्न करता है अथवा अनेक पदार्थों के संयोग से संयोग उत्पन्न होता है, जैसे सी तारों के संयोग से वस्त्र बुन गया और वस्त्र से आकाश का संयोग होता है।

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥

सूत्रार्थ—एतेन = इस प्रकार से विभागः = विभाग के सम्बन्ध में भी व्याख्यातः = कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—जैसे संयोग तीन प्रकार का कहा गया है वैसे ही विभाग भी तीन प्रकार का ही होता है। जिस तरह संयोग है उसी तरह उसका विभाग है। पक्षी के वृक्ष से उड़ जाने पर एक प्रकार का विभाग हुआ। तारों के छिप जाने पर दूसरे प्रकार का और वस्त्र के फट जाने पर तीसरे प्रकार का अथवा जल के सूख जाने पर विद्युत के न बनने से भी विभाग हो गया। परन्तु, संयोग और विभाग दोनों ही कर्म से उत्पन्न होते हैं। पक्षी ने वृक्ष से उड़ने का कर्म किया इसी प्रकार अनेक

समझना चाहिये। वस्तुओ के अभाव से सयोग का अभाव हो जाता है और वह वस्तु का अभाव एक सयोग के नष्ट होने से सिद्ध नही होता। जैसे वस्त्र है, उसमे से कुछ धागे टूट जांय तो वस्त्र का आकार लोप नही होगा उसे फटा हुआ कह सकते हैं।

संयोग विभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्व महत्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥

सूत्रार्थ—सयोगविभागयो =सयोग और विभाग के, सयोगविभागाभाव =सयोग और विभाग का अभाव, अणुत्वमहत्वाभ्याम्=अणुपन और बडापन मे, व्याख्यात =कहा गया है।

व्याख्या—पहिले वता चुके हैं कि अणुत्व में अणुत्व नही होता और महत्त्व में महत्त्व नही होता अर्थात् छोटेपन का छोटापन और वडेपन का बडापन नही होता। इसी प्रकार, सयोग मे सयोग और विभाग मे विभाग नहीं होता।

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा अणुत्वमहत्वाभ्यामिति ॥१२॥

सूत्रार्थ—इति=इसी प्रकार, कर्मभि' कर्माणि =कर्मो मे कर्म, च=और, गुणै गुणा =गुणोमे गुण, अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्= अणुत्व और महत्त्व मे कहा गया समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे अणुत्व मे अणुत्व और महत्व मे महत्त्व नही रहता तथा सयोग मे सयोग और विभाग मे विभाग न होना कहा है, वैसे ही कर्म मे कर्म नही रहता अर्थात् किसी क्रियाशील वस्तु मे ही कर्म रहता है। जैसे मनुष्य कार्य करने वाला या हरकत करने वाला है, तो वह ही कर्म कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्म किसी निर्जीव वस्तु मे नही रहता, चेतन वस्तु ही कर्म करने मे समर्थ है।

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयो संयोगविभागौ न विद्यते ॥१३॥

सूत्रार्थ—युतसिद्धि-अभावात्=युतसिद्धि का अभाव होने से कार्यकारणयो=कार्य और कारण में संयोगविभागौ=संयोग और विभाग न=नहीं विद्यते=होता।

व्याख्या—युत सिद्धि उस वस्तु को कहते हैं जिसमें सम्बन्ध के बिना अधिक वस्तु की उपस्थिति हो अथवा वह वस्तु भी युत-सिद्धि है जो पृथक-पृथक् दो आश्रयों में रहती हो। अवयव और अवयवी में परस्पर सम्बन्ध होने के कारण उनमें युतसिद्धि नहीं होती। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य जिस स्थान में है वहीं उसके शरीर के अवयव होंगे वह शरीर से अधिक स्थान नहीं घेरते इसलिये कार्य और कारण में संयोग और विभाग होना नहीं बनता। क्योंकि एक ही आश्रय में सम्बन्ध का होना और विभाग का होना दोनों नहीं हो सकते। शरीर में अवयव कारण हैं और उनमें शरीररूपी कार्य मिला हुआ प्रतीत नहीं होता।

गुणत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थ—गुणत्वात्=गुण होने से भी ऐसा ही मानना चाहिए।

व्याख्या—संयोग और विभाग द्रव्य और गुण में नहीं मान सकते। क्योंकि संयोग को गुण मानें तो शब्द के आश्रित गुण के साथ उसका सम्बन्ध हो जाना चाहिये जो कि नहीं होता तथा शब्द गुण का अवयव आदि द्रव्य से भी सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिल सकता और अलग भी हो सकता है परन्तु शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होना भी सिद्ध नहीं होता।

गुणोऽपि विभाव्यते ॥१५॥

सूत्रार्थ—गुण गुण अपि=भी विभाव्यते=कहा जाता है।

व्याख्या—रूप, रस आदि जो गुण है, उनके साथ शब्द का सयोग सम्बन्ध नही होता । तात्पर्य यह है कि रूप, रस आदि के कहने से रूप, रस आदि गुणो का ग्रहण तो होता है परन्तु, उस कहने से गुणो का सयोग सम्बन्ध नही बनता अर्थात् शब्द से कहा जाता है कि यह सुन्दर भवन है, यह पकवान मीठा है, इस प्रकार कह कर ही शब्द समाप्त हो जाया है, वह भवन अथवा पकवान के साथ रहता नही है, इसलिये, उसका सयोग सम्बन्ध होना नही माना जाता ।

निष्क्रियत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—निष्क्रियत्वात्=शब्द के निष्क्रिय होने से भी ऐसी ही मान्यता होती है ।

व्याख्या—शब्द में क्रिया नही है और सयोग कभी क्रिया के विना उत्पन्न नही हो सकता । शब्द का अर्थ क्रिया करके शब्द की ओर जाता हुआ भी दिखाई नही देता । इससे सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ के साथ सयोग सम्बन्ध नही है ।

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

सूत्रार्थ—इति=इसी प्रकार, असति=सत्-रहित पदार्थ मे, च=भी, प्रयोगात्=प्रयोग होने से, न=नही, अस्ति=है ।

व्याख्या—असत् पदार्थों का तात्पर्य दिखाई न देने वाले पदार्थों से है । भूतकाल के तथा भविष्य मे होने वाले पदार्थ दिखाई नही देते । परन्तु, शब्द द्वारा ऐसे पदार्थों के होने की बात कही जा सकती है । इसी प्रकार जो पदार्थ नही हैं, उनकी कल्पना भी शब्द द्वारा की जाती है, इस प्रकार असत् पदार्थों का भी शब्द के द्वारा ज्ञान होने से शब्द को सयोगात्मक नही मान सकते ।

शब्दार्थाभाव सम्बन्धी ॥१८॥

सूत्रार्थ—शब्दार्थ=शब्द और अर्थ मे, सम्बन्धी=सम्बन्ध का, अभाव=अभाव है ।

व्याख्या—शब्द और अर्थ में भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि शब्द जिस बात को कहता है वह बात उससे अलग ही रहती है। शब्द बात कह कर समाप्त हो जाता है इसलिये भी शब्द और अर्थ में संयोग-सम्बन्ध का होना सिद्ध नहीं होता।

संयोगिनोदण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥१६॥

सूत्रार्थ—संयोगिन=संयोगी मनुष्य का दण्डात्=दण्ड से च=और समवायिन=समवाय सम्बन्ध वाले का विशेषात्=विशेषता से ग्रहण होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस मनुष्य के साथ दण्ड है उसे दण्डी पुरुष कहते हैं। उस दण्डी शब्द के ज्ञान में दण्ड और पुरुष का संयोग-सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार मनुष्य जिन अवयवों के मिलने से बना है उन सब अवयवों के मिले होने पर ही उसे मनुष्य कहा जायगा इसके विपरीत कोरे अवयवों को मनुष्य नहीं कह सकते। क्योंकि उन अवयवों के मिलने की विशेषता से ही उसकी मनुष्य संज्ञा होती है। जैसे मिट्टी के बहुत से कण मिलने पर ही घड़े की शकल बनेगी घड़ा न बनने पर मिट्टी के कणों को घड़ा नहीं कह सकते तो यह घड़ा उन कणों का समवाय सम्बन्ध सिद्ध करता है परन्तु, घड़े के साथ शब्द सम्बन्धित नहीं रहता इसलिये शब्द का उसके साथ समवाय सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसी से सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में भी समवाय सम्बन्ध का होना नहीं माना जा सकता।

सामयिकः शब्दादर्थ प्रत्ययः ॥२०॥

सूत्रार्थ—शब्दात्=शब्द से अर्थप्रत्ययः=अर्थ का प्रत्यय सामयिक=संकेत के नियम से है।

व्याख्या—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सांकेतिक नियम से होता है अर्थात् इस शब्द का ऐसा अर्थ जानना चाहिये अथवा इस शब्द का यह

अर्थ बनता है यह शब्द के पर्याय अर्थात् एक शब्द के दूसरे नाम पर आधारित है। जैसे जल को पानी भी कहते हैं, जल का अर्थ पानी ही होगा दूध नही होगा। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द का अर्थ वस्तुओ के लिये निश्चित है। मनुष्य जिसके लिये कहा है, उसी के लिये प्रयुक्त होगा हाथी, घोडे, ऊँट, बैल आदि के लिये मनुष्य नही कह सकते, इसी प्रकार जिस प्राणी की हाथी सज्ञा है, उसी प्राणी को हाथी कहेगे, उसे घोडा नही कहेगे। इससे यही मानना चाहिये प्रत्येक शब्द के लिये निश्चित सकेत है और सकेत के निश्चित होने से ही शब्द को साकेतिक कहा गया है। लौकिक और वैदिक शब्दो के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही समझना चाहिये। जो शब्द लौकिक हैं, उनमे सासारिक बातें होगी और जो वैदिक हैं, उनमे आध्यात्मिक विषय होंगे। कौन-सा शब्द लौकिक है, कौन-सा वैदिक है इसकी पहिचान, उन शब्दो के लिये जो अर्थ निश्चित है उससे ही होती है। विभिन्न भाषाओ मे एक वस्तु के विभिन्न नाम होते हैं, जैसे कपडा, वस्त्र, क्लौथ एक ही वस्तु के नाम हैं। इनमे शब्द की विभिन्नता दिखाई देने पर भी एक अर्थ का अनुभव करते है, इस प्रकार शब्द का साकेतिक सम्बन्ध ही मानना चाहिये, उससे सयोग सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध नही माना जा सकता।

एक दिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च ॥२१॥

सूत्रार्थ—एकदिक्काभ्याम्=एक दिशा मे रहने वाले, एक-कालाभ्याम्=एक काल मे ही उत्पन्न हुओ मे, सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टाभ्याम्=पास या दूर से, परम्=पर, च=और, अपरम्=अपर होता है।

व्याख्या—पर और अपर की उत्पत्ति दो प्रकार से कही गई है—एक दिशा से सम्बन्धित और दूसरी काल से सम्बन्धित। यद्यपि काल

एक है दिशा भी एक है परन्तु बीच की दूरी कम-अधिक होने से परत्व या अपरत्व कहा जाता है। समय के पास या दूर होने से भी परत्व या अपरत्व होता है। जैसे चार बजे बाद सवाचार, साढ़ेचार, पाँच इत्यादि बजेंगे परन्तु चार के बाद सवाचार अधिक निकट है और पाँच दूर है तो सवाचार बजे में अपरत्व और पाँच बजे में परत्व का बोध होगा। दिशा का भी इसी प्रकार परत्व अपरत्व समझना चाहिये। जैसे उत्तर दिशा में चले तो दिल्ली से मेरठ भी उत्तर में है और देहरादून भी परन्तु मेरठ पास है इसलिये उसमें अपरत्व और देहरादून दूर है उसमें परत्व की प्रतीति होगी।

कारण परत्वात्कारणापरत्वाच्च ॥२२॥

सूत्रार्थ—कारणपरत्वात्=कारण से परत्व च=और, कारण-अपरत्वात्=कारण से अपरत्व होता है।

व्याख्या—कारण के निकट होने या दूर होने से भी परत्व अपरत्व उत्पन्न होता है। परन्तु कारण में परत्व अपरत्व का होना काल के संयोग से है। इस प्रकार परत्व और अपरत्व का कारण काल में होना सिद्ध होता है।

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्व महत्वाभ्यां

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः ।।२४।।

सूत्रार्थ—कर्मभि =कर्मों से, कर्माणि=कर्म और, गुणै=गुणो से, गुणा =गुण हैं।

व्याख्या—जैसे, कर्म मे क्रिया नही होती अर्थात् कर्त्ता के द्वारा ही कर्म हो सकता है, कर्म स्वय कोई क्रिया नही करता और गुणो मे गुण गुण नही होता, इसी प्रकार परत्व मे परत्व और अपरत्व मे अपरत्व नही होता।

इहेदमिति यतः कार्यं कारणयोः सः समवायः ।।२५।।

सूत्रार्थ—यत =जिससे, कार्यकारणयो =कार्य और कारण में, इति=ऐसा प्रतीत होता हो कि, इहइदम्=इसमे यह है, स =वह, समवाय =समवाय कारण समझना चाहिये।

व्याख्या—कार्य और कारण मे 'यह है' ऐसा अनुमान होना समवाय कारण है। जैसे मिट्टी घडे का कारण है और घडा मिट्टी का कार्य है। इन दोनो का सम्बन्ध समवाय कहा जायगा। धागो मे वस्त्र है, मनुष्य मे मनुष्यत्व है, आत्मा मे ज्ञान है, अनाज मे पकवान है इत्यादि ज्ञान का उत्पन्न होना समवाय सम्बन्ध से ही सिद्ध होता है।

द्रव्यात्व गुणत्व प्रतिषेधोभावेन व्याख्यातः ।।२६।।

सत्रार्थ—द्रव्यत्व गुणत्व प्रतिषेध =द्रव्यत्व और गुणत्व का निषेध, भावेन=भाव के साथ, व्याख्यात =कहा जा चुका है।

व्याख्या—यह पहिले कह चुके हैं कि गुण, कर्म से सत्ता भिन्न वस्तु है। उसे केवल ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। इसी प्रकार समवाय भी द्रव्य और गुण आदि से भिन्न है।

तत्त्वम्भावेन ॥२७॥

सूत्रार्थ—तत्त्वम्=एकत्व और नित्यत्व भावेन=होने से कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—जैसे सत्ता एक और नित्य है, वैसे ही समवाय भी एक और नित्य है, क्योंकि एक ही समवाय एक समय में ही सब स्थानों पर रहता है। इससे सिद्ध होता है कि समवाय एक ही है और सब स्थानों पर रहने वाला होने से विभु एवं नित्य है। वह किसी भी लक्षण से एक से अधिक प्रमाणित नहीं होता। वह देश-काल के भेद से उपलब्ध होने पर भी एक होने से नित्य ही है।

॥ सप्तमोऽध्याय—द्वितीयाह्निकम् समाप्त ॥

अष्टमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

द्रव्येषु ज्ञानम् व्याख्यातम् ॥१॥

सूत्रार्थ—द्रव्येषु = द्रव्य के प्रति, ज्ञानम् = ज्ञान का, व्याख्यातम् = वर्णन किया जा चुका है।

व्याख्या—द्रव्य विषयक ज्ञान के सम्बन्ध मे पहिले कहा जा चुका है। परन्तु कुछ प्रत्यक्ष न होने वाले द्रव्य भी हैं, उनका वर्णन आगे किया जा रहा है। इनमे मन पर्याय रूप मे बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान माना गया है। बुद्धि के दो भेद हैं स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविक बुद्धि ही आत्मा का धर्म होने से वह नित्य भी है, ःपरन्तु नैमित्तिक बुद्धि मन की वृत्ति कही गई है, इसलिये वह अनित्य समझनी चाहिये।

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥२॥

सूत्रार्थ—तत्र = उन द्रव्यो मे, आत्मा = आत्मा, च = और, मन = मन, अप्रत्यक्षे = प्रत्यक्ष नही है।

व्याख्या—आत्मा, मन, वायु आकाश, काल, दिशा आदि अप्रत्यक्ष हैं, पचभूतो मे पृथिवी, जल, अग्नि यह तीन प्रत्यक्ष द्रव्य है, इनमे मन की वृत्ति रूप बुद्धि तीन प्रकार की मानी जाती है—सत्विद्या, विद्या और अविद्या। सत्विद्या उस ज्ञान को कहते हैं जो तीनों काल अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्त्तमान मे एक सा रहे। इसका तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान से भूत, भविष्यत, वर्त्तमान मे रहने वाले पदार्थों की जानकारी हो, वह सत्विद्या है। इस ज्ञान के द्वारा जीवात्मा, परमात्मा और परमाणुओ के

अस्तित्व की प्रतीति होती है ऐसा ज्ञान अपरिवर्तित भी है। पदार्थ के वास्तविक रूप का ज्ञान जिसके द्वारा हो वह विद्या है। यह विद्या चार प्रकार की कही गयी है—प्रत्यक्ष लिङ्ग स्मृति और आर्ष। इन्द्रिय और उसके विषयों के सम्बन्ध से जो ज्ञान हो—वह प्रत्यक्ष विद्या है। अनुमान के द्वारा अथवा लक्षण से किसी वस्तु का होना अनुमान कर लिया जाय वह लिंग-विद्या है। देखने-सुनने से जो बात समय पर याद हो जाती हो वह स्मृति है तथा जिस ज्ञान की प्राप्ति आप्त-उपदेश अर्थात् सत्पुरुषों के उपदेश से हो वह आर्ष विद्या है। अब अविद्या के लक्षण कहते हैं—किसी वस्तु के यथार्थ रूप को भ्रम से दूसरा रूप समझना अविद्या है। इसके चार भेद कहे गये हैं—संशय विरुद्ध स्वप्न और अविश्वास। वस्तु के यथार्थ रूप में संशय हो कि यह अमुक वस्तु है या नहीं—इसे संशय कहते हैं। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप विरुद्ध ज्ञान है जैसे रस्सी को सर्प समझने का भ्रम। स्वप्न में जिन दृश्यों का ज्ञान हो वह भी यथार्थ न होने से भ्रम ही है और आत्मा को अनात्म और अनात्म को आत्मा समझना अथवा 'आत्मा है' ऐसा न मानना यह अविश्वास रूप अविद्या ही है। इस सूत्र में जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष ज्ञान न होने की बात कही है, उन वस्तुओं का ज्ञान अनुमान आदि से होने के कारण अप्रामाणिक नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद माने गये हैं उनमें साधारण मनुष्यों के प्रत्यक्ष ज्ञान में भी भ्रम हो सकता है अर्थात् साधारण व्यक्ति को रस्सी का सर्प दिखाई दे सकता है परन्तु योगियों को जो ज्ञान होता है वह यथार्थ होता है उनके स्वप्न या अनुमान में भ्रम नहीं हो सकता।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥३॥

सूत्रार्थ—ज्ञाननिर्देशे = ज्ञान का निर्देश होना ज्ञाननिष्पत्तिविधि = ज्ञान के उपार्जन की रीति से उक्त = कहा गया समझना चाहिये।

व्याख्या—जिस कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उसी प्रकार प्राप्त होना समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जिस विषय का ज्ञान हो और वह ज्ञान जिस प्रकार और धर्म वाला हो, उसका वर्णन उसकी उत्पत्ति के कारण सहित किया जाता है। जैसे हाथ की रेखा वाला ज्ञान हस्त सामुद्रिक या हस्त-रेखा कहा जाता है। नेत्र से ग्रहण होने वाला ज्ञान चाक्षुप है। इसी प्रकार अन्य भेदो को समझना चाहिये।

गुणकर्ममु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यंकारणम् ।।४।।

सूत्रार्थ—सन्निकृष्टेषु=इन्द्रिय की निकटता मे, गुणकर्मसु =गुणो और कर्मो के, ज्ञाननिष्पत्ति =ज्ञान की उपलब्धि होने पर, द्रव्यम्=द्रव्य को, कारणम्=ज्ञान का कारण समझना उचित है।

व्याख्या—रूपादि गुण का ज्ञान अर्थात् यह रूप है, यह रस है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान और उत्क्षेपणादि अर्थात् यह उछलता है, यह गिरता है ऐसे ज्ञान का कारण द्रव्य है। द्रव्य के बिना गुण कर्म का ज्ञान नही हो सकता। आशय यह है कि द्रव्य होगा तभी उसका रूप दिखाई देगा और द्रव्य मे ही कर्म हो मकता है अर्थात् गेंद है तभी वह फेंकी जा सकती है, गेंद न होगी तो क्या फेंकोगे ? और गेद है तो वह नेत्र से दिखाई देने से प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है और उम ज्ञान का कारण भी गेद है। यदि गेंद नही होगी तो 'गेंद है' ऐसा ज्ञान हो ही नही सकता। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य से ही गुण, कर्म का ज्ञान हो सकता है, द्रव्य के विना उसका ज्ञान होना सभव नही है।

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाऽभावात्तत एव ज्ञानम् ।।५।।

सूत्रार्थ—सामान्यविशेषेषु=सामान्य और विशेषो मे, सामान्यविशेष-अभावात्=अन्य सामान्य और विशेष का अभाव

होने से तत्=उनसे एव=ऐसा ही ज्ञानम्=ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—सामान्य सत्ता और द्रव्यों के गुण कर्म रूप आदि की प्रत्यक्षता का कारण वह स्वयं ही है उसकी सत्ता का बोध किसी अन्य के द्वारा नहीं होता। सूत्र का अर्थ है कि सामान्य और विशेष में सामान्यता और विशेषता न होने से ही ज्ञान प्रकट होता है। जो द्रव्य अपने द्रव्यपने से सामान्य गुण वाला है वही अपने गुण विशेष के अस्तित्व से विशेषता वाला भी है, इसलिये इसमें अस्तित्व की ही विशेषता है। इसमें सामान्य और विशेष अपेक्षा से होने के कारण ही ज्ञान की उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है। इस प्रकार द्रव्य के सामान्य गुण होने से उसमें सामान्य न होना और गुण की विशेषता के अतिरिक्त अन्य विशेषता न होना अपेक्षा से ज्ञान का होना सिद्ध करता है।

सामान्य विशेषापेक्षम् द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मसु=द्रव्य गुण और कर्म के विषय में सामान्य विशेष-अपेक्षम्—सामान्य और विशेष की अपेक्षा से ज्ञान का उत्पन्न होना समझना चाहिये।

व्याख्या—सामान्य और विशेष की अपेक्षा से द्रव्यों में गुण और कर्म होने का ज्ञान होता है। अथवा द्रव्य गुण कर्म में जो द्रव्यत्व गुणत्व और कर्मत्व है, उससे विशेष ज्ञान की उत्पत्ति के साथ इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध आवश्यक है अर्थात् यह पदार्थ है उसे देख कर ही उसमें क्रिया की जा सकेगी और क्रिया से ही उसका रूप आदि होगा। उसमें सामान्य और विशेष भी आवश्यकता है क्योंकि यह द्रव्य है, यह गुण है यह कर्म है ऐसा ज्ञान उन-उनकी उत्पत्ति की आवश्यकता से ही सम्बन्धित है।

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥

सूत्रार्थ—द्रव्ये=द्रव्य मे, द्रव्य गुणकर्म-अपेक्षम्=द्रव्य, गुण, कर्म की अपेक्षा वाला ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—द्रव्य के विषय मे द्रव्य, गुण, कर्म की अपेक्षा वाला ज्ञान होता है। जैसे कोई कहे कि बुर्जी वाला मन्दिर बन रहा है। इसमे मन्दिर द्रव्य और बुर्जी उसकी विशेषता प्रदर्शित करने वाला गुण है तथा बन रहा कर्म है। इस प्रकार विशेष को जानने से ही विशिष्ट का ज्ञान होता है। मन्दिर बहुत से हैं, परन्तु, कौन-सा मन्दिर बन रहा है, इसका ज्ञान बुर्जी से हो सकता है। अथवा 'वह मकान लाल रग का है' इसमे लाल रङ्ग ही उस मकान की विशेपता को प्रकट करता है। लाल रङ्ग न कहने से उसकी विशेषता का प्रश्न नही उठता और मकान तो बहुत-से है, किस मकान के प्रति कहा गया, यह बिना विशेषता के नही जाना जा सकता।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावात् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥

सूत्रार्थ—गुण कर्मसु=गुणो और कर्मो मे, गुणकर्म-अभावात्=अन्य गुण, कर्म का अभाव होने से, गुणकर्म-अपेक्षम्=गुणो और कर्मो की अपेक्षा वाला ज्ञान, न=नही, विद्यते=विद्यमान रहता।

व्याख्या—गुण कर्म में गुण कर्म नही रहता, इसलिये उनके जानने मे भी गुण-कर्म नही रह सकता। क्योंकि, गुण मे कोई अन्य विशेप गुण नही रहता और कर्म मे भी कोई क्रिया नही होती यह बात इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि कर्म स्वय कोई वस्तु नही है, कर्त्ता जब क्रिया करता है तभी कर्म होता है। जैसे कुम्भकार बर्तन बनाने का कार्य करेगा, तभी बर्तन बनने की क्रिया होगी, जब वह कार्य न करेगा तो बर्तन बनेगा ही नही।

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेतेबुद्धि' ते एते कार्य कारण भूते ॥६॥

सूत्रार्थ—समवायिनः=समवायि द्रव्य के श्वैत्यात्=सफेद आदि गुण होने से च=और, श्वैत्यबुद्धेः=सफेदपने के ज्ञान से श्वेते=सफेद पदार्थ में बुद्धि=ज्ञान उत्पन्न होता है ते=वे दोनों एते=यह कार्यकारणभूते—कार्यभूत एवं कारणभूत ज्ञान हैं।

व्याख्या—चाँदी शंख सीप यह तीनों सफेद रंग के हैं इनका सफेद होना तो कारण ज्ञान है और यह सफेद वस्तु है वहाँ चाँदी रूप द्रव्य का सफेद होना विशेषता है और यह विशेषता समवाय सम्बन्ध से है। इसलिये चाँदी के ज्ञान में उसकी आवश्यकता है, परन्तु गुण कर्म में गुण कर्म का समवाय सम्बन्ध नहीं रहता इसलिये इसमें उसकी आव श्यकता नहीं रहती।

द्रव्येष्वनितरेतरकारणा ॥१०॥

सूत्रार्थ—द्रव्येषु=अनेक द्रव्यों में अनितरेतरकारणा'—परस्पर कारण नहीं माने जाते।

व्याख्या—अनेक द्रव्य होने से उनके ज्ञान में भी अनेकता होती। परन्तु, द्रव्यों के ज्ञान में एक दूसरे द्रव्य परस्पर ज्ञान के कारण नहीं हो सकते। जैसे चाँदी का ज्ञान सीप के ज्ञान का कारण नहीं हो सकता अर्थात् चाँदी है तो यह नहीं कह सकते कि यह सीप है।

कारणायौगपद्यात्कारणक्रमाच्च घटपटादि-बुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥११॥

सूत्रार्थ—कारणायौगपद्यात्=ज्ञान के कारणों का एक साथ उत्पन्न होने से च=और कारणक्रमात्—कारणों के क्रम से घटपटादिबुद्धीनाम्=घड़ा और कपड़े आदि के ज्ञानों में

क्रम =क्रम पूर्वक है, हेतुफलभावात्=कारण का फल होने से, न=नही है।

व्याख्या—किसी को पहिले कपडे का ज्ञान हो, फिर घडे का ज्ञान हो तो यह दोनो ज्ञान एक दूसरे के कार्य अथवा कारण नही हो सकते। बल्कि इस ज्ञान के कारण ही एक पहिले प्रत्यक्ष हुआ दूसरा बाद मे प्रत्यक्ष हुआ। एक साथ दोनों वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त नही हो सकता, क्योकि ज्ञान की उत्पत्ति मन के बिना नही हो सकती और मन एक विषय के ज्ञान को ही एक समय मे प्राप्त कर सकता है अर्थात् 'यह घडा है' और 'यह कपडा है' ऐसा ज्ञान एक साथ नही हो सकता। क्रमपूर्वक अर्थात् कोई आगे होगा, कोई पीछे होगा। इससे यही सिद्ध होता है कि दो या अधिक वस्तुओ के ज्ञान अलग-अलग समय मे ही होंगे, एक साथ नही हो सकते।

॥ अष्टमोऽध्याय —प्रथमाह्निकम् समाप्त. ॥

अष्टमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

अयमेष त्वया कृतम् भोजयैनमितिबुद्ध्यपेक्षम् ॥१॥

सूत्रार्थ—अयम्=यह है, एष=वह है, त्वयाकृतम्=यह तूने किया है, एनभोजय=इसको भोजन कराओ, इति=इस प्रकार का ज्ञान, बुद्धि-अपेक्षम्=बुद्धि की अपेक्षा से होता है।

व्याख्या—इन्द्रिय का सम्बन्ध जिस वस्तु के साथ होता है, उस वस्तु के प्रति 'यह है' ऐसा ज्ञान होता है। तथा जिस वस्तु को इन्द्रिय ग्रहण नही करती है, उसके लिये 'वह है' ऐसा कहा जाता है। यह कार्य तेरे द्वारा हुआ, इसको भोजन कराओ, यह वीर पुरुष है इत्यादि ज्ञान

की उत्पत्ति बुद्धि के द्वारा होती है अर्थात् बुद्धि जिस कार्य को जिस रूप में आवश्यक समझती है उसका वैसा ही ज्ञान प्राप्त करती है। विषय के सम्बन्ध से ज्ञान होता है और वैसा विषय होता है उसका वैसा ही वर्णन शब्दों के द्वारा होता है। जो वस्तु सामने वर्तमान है उन्हीं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और ऐसा ज्ञान बुद्धि की सहायता से होता है—यही इस सूत्र का तात्पर्य है।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥२॥

सूत्रार्थ—दृष्टेषु = दिखाई पड़ने वाले विषयों में भावात् = होने से और अदृष्टेषु = न दिखाई पड़ने वाले विषयों में अभावात् = न होने से होना न होना माना जाता है।

व्याख्या—दिखाई न पड़ने वाले विषयों का ज्ञान पहिले देखी गई वस्तु के आधार पर होता है और जब वे दिखाई नहीं देतीं तब यह कहा जाता है कि अमुक वस्तु नहीं है। जैसे घड़ा था उसके टूट जाने पर यही कहना होगा कि अब घड़ा नहीं है। इस प्रकार घड़े का अभाव माना जायगा। जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसका अस्तित्व सामने होने से माना जाता है। अथवा जो वस्तु है परन्तु आँखों से दिखाई नहीं देती उसका भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मान सकते। जैसे कोई राज भवन बहुत सुन्दर है उसकी सुन्दरता देखने के लिये ही हमने उसे देखा था और घर आने पर उस राजमहल का आकार प्रकार तो मन में बसा रहा परन्तु, राजमहल सामने नहीं है तो हमारे लिये उसका अभाव ही होगा। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु सामने है उसका होना और जो सामने नहीं है उसका न होना मानना चाहिये। परन्तु, परोक्ष वस्तु का ज्ञान भी प्रत्यक्ष वस्तु पर आधारित है इसलिये उस वस्तु का अत्यन्त अभाव नहीं कह सकते। क्योंकि प्रत्यक्ष विषय का ही ज्ञान होता है मुख अर्थात् छिपे हुवे विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता उन्हें अनुमान से जाना जाता है।

अर्थ इति द्रव्यगुण कर्मसु ॥३॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुण कर्मसु=द्रव्य, गुण, कर्म मे, इति=इस प्रकार, अर्थ =अर्थ किया जाता है।

व्याख्या—अर्थ शब्द का व्यवहार द्रव्यो के गुणो और कर्मों मे होता है। अर्थात् जहां कही अर्थ करने की आवश्यकता हो वहां द्रव्य, गुण, कर्म की दृष्टि से ही अर्थ करे। अर्थ शब्द का वर्णन तीनो के प्रति किया जाने से यह समझना चाहिये कि द्रव्य, गुण, कर्म तीनो मे ही अर्थ है।

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वम् ॥४॥

सूत्रार्थ—द्रव्येषु=कार्य-द्रव्य मे, पचात्मकत्वम्=पचतत्व का होना माना गया है।

व्याख्या—द्रव्यो मे जो कार्य-द्रव्य हैं, वे पचभूतों से वने हैं। शरीर और इन्द्रिय आदि कार्य-द्रव्य कहे गये हैं। जो इन्द्रिय जिस तत्व से निर्मित है, वह उसी तत्व के नियमित विषय को ग्रहण करती है। इससे सिद्ध होता है कि एक-एक भूत के नियमित विषय वाली एक एक इन्द्रिय है। इस प्रकार शरीर पच तत्वो से वना हुआ सिद्ध होता है।

भूयस्त्वाद्गंधवत्वाच्च पृथिवी गन्ध ज्ञाने प्रकृतिः ॥६॥

सूत्रार्थ—भूयस्त्वात्=अधिक होने से, च=और, गधवत्वात्=गध वाली होने से, पृथिवी=पृथिवी तत्व, गधज्ञाने=गध के ज्ञान से, प्रकृति =उपादान कारण इन्द्रिय मे है।

व्याख्या—जिस इन्द्रिय से गध का ज्ञान होता है, वह नासिका है और उस नासिका की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण पृथिवी मानी गई है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी का गुण गध हैं और नासिका पृथिवी के गुण गध को ही ग्रहण करती है, इसलिये पृथिवी को उसको वनाने वाली

कहा है। पृथिवी गंध वाली है गंध न हो तो वह गंधवती नहीं हो सकती थी और नासिका का कार्य केवल गंध ग्रहण करना ही है, इसलिये नासिका पृथिवी के गुण से अभिभूत होने के कारण पृथिवी तत्व से उत्पन्न सम झनी चाहिये। ऊपर कह चुके हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय को बनाने वाला एक नियमित तत्व है उस कथन से भी इसकी पुष्टि होती है।

तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शज्ञानेऽविशेषात् ॥६॥

सूत्रार्थ—तथा = इसी प्रकार, अविशेषात् = किसी प्रकार की विशेषता न होने से आप = जलतत्व तेज = अग्नितत्व च = और, वायु = वायु तत्व रसरूप स्पर्शज्ञाने = रस रूप और स्पर्श ज्ञान के उपादान कारण माने जाते हैं।

व्याख्या—जैसे नासिका का उपादान कारण पृथिवी को कहा गया है, वैसे ही जल अग्नि वायु को भी उपादान कारण माना गया है। जल का स्वाभाविक गुण रस है और रस को जिह्वा ग्रहण करती है इसलिये जिह्वा का उपादान कारण जल तत्व है। तेज का स्वाभाविक गुण रूप है और रूप को ग्रहण करने का कार्य नेत्र का है, इसलिये नेत्र का उपादान कारण अग्नि तत्व मानना चाहिये। इसी प्रकार वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है और त्वचा द्वारा ही स्पर्श का अनुभव होता है इसलिये स्पर्श गुण वाली त्वचा का उपादान कारण वायु हुआ। अब शंका होती है कि सूत्रकार ने आकाश तत्व को किसी इन्द्रिय का उपादान कारण क्यों नहीं कहा तो इसका समाधान यह है कि 'च' शब्द से सूत्र कार ने जल अग्नि वायु के साथ 'और' कहा है इससे आकाश तत्व का भी अनुमान कर सकते हैं। जहाँ अवकाश हो उसका उपादान आकाश होना अथवा आकाश का गुण शब्द है और कान शब्द को ग्रहण करते हैं, इसलिये कानों का उपादान कारण आकाश तत्व है। कान में अवकाश अर्थात् शून्य रूप स्थान भी है, इसलिये भी कान ही आकाश तत्व का कार्य रूप समझना चाहिये।

॥ अष्टमोऽध्याय — द्वितीयाह्निकम् समाप्त ॥

नवमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागऽसत् ॥१॥

सूत्रार्थ—क्रियागुणव्यपदेश.=क्रिया और गुण का व्यवहार, अभावात्=न होने से, प्राक्=उत्पन्न होने से पहले इनका, असत् =अभाव था अर्थात् वे विद्यमान नही थे।

व्याख्या—कार्य-द्रव्य अपनी उत्पत्ति से पहिले विद्यमान नही रहते। यदि कहे कि वे लुप्त हो जाते हैं, परन्तु उनकी सत्ता नष्ट नही होती। तो, यह बात ठीक नही है, क्योकि, कार्य-द्रव्य उत्पन्न होने से पहिले विद्यमान होते तो उनकी कोई क्रिया अथवा गुण अवश्य दिखाई देता। परन्तु, क्रिया या गुण प्रत्यक्ष न होने से यही मानना ठीक है कि वे उत्पत्ति से पहिले नही थे। साथ ही यह भी मानना होगा कि उत्पत्ति के समय उत्पन्न करने वाला भी होना चाहिये, परन्तु, उससे पहिले उत्पन्न करने वाले का भी अभाव था। आशय यह है कि यदि वस्त्र, वर्तन आदि अपने उत्पन्न होने से पहिले भी विद्यमान होते तो उनका गुण भी प्रत्यक्ष होता। जैसे उनके उत्पन्न होने पर कहते हैं कि यह वस्त्र बड़ा सुन्दर है, यह वर्तन पीला है, यह मकान बड़ा है। परन्तु, उनके उत्पन्न होने से पहिले ऐसा नही कह सकते, क्योकि, वे वस्तुऐ थी ही नही, जो दिखाई देतीं। यहाँ, यह शका होगी कि दूर की वस्तु या ओट मे छिपी हुई वस्तु दिखाई नही देती, परन्तु वे होती तो हैं ही, इसी प्रकार उत्पन्न न हुई वस्तुओ का होना मानना चाहिये। इसका समाधान यह है कि ओट मे छिपी वस्तु या दूर की वस्तु का अभाव नही होता, वह अपने अस्तित्व मे होती हैं। परन्तु, उत्पत्ति से पहिले वस्तु का अभाव

होता है और हम जुलाहे को वस्त्र बुनते हुये या बर्तन बनाने वाले को बर्तन बनाते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि बनने से पहिले वस्तु का अभाव था। क्योंकि द्रव्यों के अवयवों के मिलने से ही कार्य बनता है और जब द्रव्यों का संयोग नहीं होता तब कार्य नहीं बन पाता। घड़ा के फूट जाने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है टूटे हुये ठीकरों को घड़ा नहीं कह सकते इससे भी सिद्ध होता है कि उत्पन्न होने से पहिले कार्य—द्रव्य का अस्तित्व नहीं था।

सदसत् ॥२॥

सूत्रार्थ—सत्=कारण रूप से होना तथा असत्=कार्य रूप से न होना उत्पत्ति से पहिले ऐसा ही माना जाता है।

व्याख्या—कार्य द्रव्य अपने रूप में नहीं रहता परन्तु, कारण रूप में विद्यमान रहता है। जैसे घड़े का कारण मिट्टी है और टूट जाने पर घड़ा मिट्टी हो जाता है। इस प्रकार, घड़े के टूटने से उसका तो अभाव हो गया। परन्तु, उसके कारण [रूप मिट्टी का अभाव नहीं हुआ। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उत्पन्न होने से पहिले कार्य अपने रूप में तो विद्यमान नहीं रहता परन्तु, कारण रूप मे विद्यमान रहता है।

असतः क्रियागुणव्यपदेशाऽभावादर्थान्तरम् ॥३॥

सूत्रार्थ—असतः=उत्पन्न न हुए द्रव्य मे क्रियागुणव्यपदेश=क्रिया और गुण के व्यवहार का अभावात्=अभाव होने से अर्थान्तरम्=पदार्थ भेद का ज्ञान होता है।

व्याख्या—सत् पदार्थ और असत् पदार्थ मे अन्तर होता है वे एक जैसे नहीं हो सकते क्योंकि असत् कार्य में कोई क्रिया या गुण नहीं होता तथा सत् कार्य में क्रिया और गुण प्रत्यक्ष देखे जाते है। इसलिये उत्पत्ति से पहिले जिसकी सत्ता नहीं और जिसका उत्पन्न होना प्रत्यक्ष देखा जाता है उस कार्य-रूप द्रव्य को कारण-रूप द्रव्य से भिन्न ही मानना होगा।

सच्चासत् ॥४॥

सूत्रार्थ—सत्=कार्य द्रव्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है, च=और असत्=उसको नष्ट होते हुए भी देखा जाता है।

व्याख्या—उत्पन्न होने वाला कार्य-द्रव्य नेत्र से प्रत्यक्ष दिखाई देता है और उसको नष्ट होते हुए भी देखते हैं। इसलिये, यह भी मानना ठीक है कि कार्य-द्रव्य उत्पत्ति से पहिले अपनी सत्ता मे विद्यमान नही था। इस अभाव के अतिरिक्त एक प्रकार का अभाव और भी है, जैसे बकरी को देख कर कहे कि 'यह बकरी है कुत्ता नही' तो इस प्रकार कहने मे कुत्ते का अभाव हुआ। बकरी कुत्ता नही हो सकती, वस्त्र वर्तन नही हो सकता और यह न होना सदा के लिये ही है अर्थात् बकरी कभी भी कुत्ते के रूप मे नही बदल सकती, इसलिये बकरी में कुत्ते का अभाव ही कहेगे।

यच्चान्यदऽसदतस्तदऽसत् ॥५॥

सूत्रार्थ—च=और, यत्=जो द्रव्य, अत=इन सत् और असत् दोनो प्रकार से, अन्यत्=भिन्न प्रकार का और असत्=न होने वाला है, वह, असत्=केवल असत् ही कहा जायगा।

व्याख्या—कोई भी द्रव्य उत्पन्न होने पर सत् और उत्पन्न होने से पहिले असत् माना जाता है। तथा जिस द्रव्य का कभी भी अस्तित्व नही पाया जाता, वह तो असत् है ही। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु नष्ट नही हुई, प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसका अभाव नही कह सकते। इसी प्रकार, जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई नही देती या नष्ट हो गई, वह भाव-हीन अर्थात् अस्तित्व हीन कही जायगी। क्योकि, जो वस्तु है ही नही, उसका सत् कहना सिद्ध हो ही नही सकता।

असदिति भूतप्रत्यक्षाऽभावाद्भूतस्मृतेर्विरोधि प्रत्यक्षवत् ॥६॥

सूत्रार्थ—असत् = जिसका भाव न हो इति = ऐसा ज्ञान भूत प्रत्यक्ष-अभावात् = उत्पन्न पदार्थ के अभाव से भूतस्मृते = होने वाले द्रव्य की याद बनी रहने से विरोधि प्रत्यक्षवत् = विरोधी प्रत्यक्ष के समान है।

व्याख्या—जैसे असत् का विरोधी सत् है वैसे ही जो द्रव्य उत्पन्न होकर नष्ट हो जाय वह सत् का विरोधी असत् कहा जायगा। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है देखा हुआ होने से उसकी याद भी बनी रहेगी, फिर भी वह प्रत्यक्ष द्रव्य के विपरीत होने जैसा ही है। तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु देखी हो तो उसके नष्ट होने पर भी याद बनी रहती है जैसे देहली के चाँदनी चौक में घण्टा-घर था वहाँ के रहने वाले या बाहर के व्यक्ति भी जो वहाँ जाते हैं, उन सबको यह अनुभव है कि यहाँ घण्टा-घर था और घण्टा-घर का ऐसी याद बनी रहने से यह प्रतीत होता है कि अब घण्टा-घर नहीं है। अब घण्टा-घर नहीं है तो वह सत् के विपरीत अर्थात् असत् पदार्थ रहा। 'प्रत्यक्षवत्' पद का प्रयोग इसलिए हुआ है कि पहिले उस घण्टा-घर की सत्ता थी अब नहीं है इसलिये उसे सत् का विरोधी असत् या असत् के विरोधी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष के समान कहा है।

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—तथा = इसी प्रकार अभावे = असत् होने में च = भी भावप्रत्यक्षत्वात् = सत् के प्रत्यक्ष होने से विपरीत लक्षण का बोध हो जाना सम्भव है।

व्याख्या—अभाव शब्द सामान्य है फिर भी विषय के अनुसार

ही उसका होना न होना बनता है। सत् [प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु को कहते हैं और असत् में सत् के विपरीत लक्षण होंगे अर्थात् जो वस्तु दिखाई दे वह सत् है, तो जो वस्तु दिखाई न दे वह असत् ही कही जायगी। जैसे घागा प्रत्यक्ष रूप मे सामने है, वह नेत्र द्वारा देखा जा रहा है और जब वह नष्ट हो जाता है, तब नेत्रो मे नही देखा जाता, इसलिये वह पहिले तो प्रत्यक्ष था और बाद मे, नष्ट होने पर अप्रत्यक्ष हो गया। इससे सिद्ध हुआ कि सत्ता के विद्यमान रहने पर सत् और सत्ता के न रहने पर अर्थात् धागे के नष्ट हो जाने पर सत् का विपरीत लक्षण हो गया, इसलिये उसका असत् होना माना गया है।

एतेनाऽघटोऽगौरऽधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—एतेन=इससे, अघट =घडे का न होना,अगौ = गौ का न होना, च=और, अधर्म =धर्म का न होना, व्याख्यात· =कहा गया समझना चाहिये।

व्याख्या—घडे के गुण घडे मे ही होंगे गौ मे नही हो सकते। इसी प्रकार गौ के गुण भी घडे मे नही मिलेंगे। जो घडा है, वह घडा रहेगा, गौ है वह गौ रहेगी। इस प्रकार एक के धर्म दूसरे मे न होने से 'अधर्म' पद का प्रयोग इस सूत्र मे हुआ है। गौ का अभाव घडे मे और घडे का अभाव गौ मे यह सामान्य रीति से ही जान लिया जाता है, इसकी पहिचान के लिये किसी प्रकार के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नही होता। प्रत्येक वस्तु नियत धर्म वाली है और अन्य के गुण उसमे आ नही सकते। इसलिये, उसके नियत लक्षण से ही यह जान लिया जाता है कि 'यह गौ है' अथवा 'यह घडा है' इसलिये प्रत्येक वस्तु को उसके नियत लक्षण से समझ लेना चाहिये।

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—अभूतम्=जो उत्पन्न नही हुआ और, न-अस्ति=

असदिति भूतप्रत्यक्षाऽभावाद्भूतस्मृतेर्विरोधि प्रत्यक्षवत् ॥६॥

सूत्रार्थ—असत् = जिसका भाव न हो इति = ऐसा ज्ञान भूत प्रत्यक्ष-अभावात् = उत्पन्न पदार्थ के अभाव से भूतस्मृते = होने वाले द्रव्य की याद बनी रहने से विरोधि प्रत्यक्षवत् = विरोधी प्रत्यक्ष के समान है।

व्याख्या—जैसे असत् का विरोधी सत् है वैसे ही जो द्रव्य उत्पन्न होकर नष्ट हो जाय वह सत् का विरोधी असत् कहा जायगा। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है ऐसा हुआ होने से उसकी याद भी बनी रहेगी फिर भी वह प्रत्यक्ष द्रव्य के विपरीत होने जैसा ही है। तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु ऐसी हो तो उसके नष्ट होने पर भी याद बनी रहती है जैसे देहली के चाँदनी चौक में घण्टा-घर था वहाँ के रहने वाले या बाहर के व्यक्ति भी जो वहाँ जाते हैं उन सबको यह अनुभव है कि यहाँ घण्टा-घर था और घण्टा-घर था ऐसी याद बनी रहने से यह प्रतीत होता है कि अब घण्टा-घर नहीं है। जब घण्टा-घर नहीं है तो वह सत् के विपरीत अर्थात् असत् पदार्थ रहा। 'प्रत्यक्षवत्' पद का प्रयोग इसलिए हुआ है कि पहिले उस घण्टा-घर की सत्ता थी अब नहीं है इसलिये उसे सत् का विरोधी असत् या असत् के विरोधी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष के समान कहा है।

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—तथा = इसी प्रकार, अभावे = असत् होने में च = भी भावप्रत्यक्षत्वात् = सत् के प्रत्यक्ष होने से विपरीत लक्षण का बोध हो जाना सम्भव है।

व्याख्या—अभाव शब्द सामान्य है, फिर भी विषय के अनुसार

ही उसका होना न होना बनता है। सत् [प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु को कहते है और असत् में सत् के विपरीत लक्षण होंगे अर्थात जो वस्तु दिखाई दे वह सत् है, तो जो वस्तु दिखाई न दे वह असत् ही कही जायगी। जैसे धागा प्रत्यक्ष रूप मे सामने है, वह नेत्र द्वारा देखा जा रहा है और जब वह नष्ट हो जाता है, तव नेत्रो से नही देखा जाता, इसलिये वह पहिले तो प्रत्यक्ष था और वाद मे, नष्ट होने पर अप्रत्यक्ष हो गया। इससे सिद्ध हुआ कि सत्ता के विद्यमान रहने पर सत् और सत्ता के न रहने पर अर्थात् धागे के नष्ट हो जाने पर सत् का विपरीत लक्षण हो गया, इसलिये उसका असत् होना माना गया है।

एतेनाऽघटोऽगौरऽधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—एतेन=इससे, अघट =घडे का न होना,अगौ.= गौ का न होना, च=और, अधर्म =धर्म का न होना, व्याख्यात =कहा गया समझना चाहिये।

व्याख्या—घडे के गुण घडे मे ही होगे गौ में नही हो सकते। इसी प्रकार गौ के गुण भी घडे मे नही मिलेंगे। जो घडा है, वह घडा रहेगा, गौ है वह गौ रहेगी। इस प्रकार एक के धर्म दूसरे मे न होने से 'अधर्म' पद का प्रयोग इस सूत्र मे हुआ है। गौ का अभाव घडे मे और घडे का अभाव गौ मे यह सामान्य रीति से ही जान लिया जाता है, इसकी पहिचान के लिये किसी प्रकार के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नही होती। प्रत्येक वस्तु नियत धर्म वाली है और अन्य के गुण उसमे आ नही सकते। इसलिये, उसके नियत लक्षण से ही यह जान लिया जाता है कि 'यह गौ है' अथवा 'यह घडा है' इसलिये प्रत्येक वस्तु को उसके नियत लक्षण से समझ लेना चाहिये।

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—अभूतम्=जो उत्पन्न नही हुआ और, न-अस्ति=

था नहीं है इति—यह दोनों ही अनर्थान्तरम्—परस्पर में विरोधी नहीं, बल्कि एक जैसे ही हैं।

व्याख्या—असूत पदार्थ अर्थात् जो पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ था अब नहीं है अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गया और जिसका अस्तित्व अब नहीं है यह ज्ञान अभाव का ही बोध कराने वाला है इसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। 'अनर्थान्तरम्' कह कर असूत और भूत के भिन्न-भिन्न होने वाले भाव को समाप्त कर दिया गया है। इससे सूत्र का अर्थ बनेगा कि जो वस्तु कभी न हुई हो और जिसके कभी होने की आशा भी न हो, उस वस्तु का अत्यन्त अभाव मानना चाहिये। साथ ही जो वस्तु उत्पन्न नहीं हुई और जो वस्तु है नहीं उन दोनों का अभिप्राय एक ही है। जो उत्पन्न नहीं हुई वह होगी ही कहाँ से अथवा जो नहीं है—वह या तो उत्पन्न ही नहीं हुई और यदि उत्पन्न भी हुई तो नष्ट हो गई, इस प्रकार उत्पन्न न होना अथवा नष्ट हो जाना यह दोनों दशाएँ उस वस्तु के अत्यन्त अभाव का ही ज्ञान कराती हैं। इसी से इनको एक दूसरे के विपरीत लक्षण वाली न कह कर, समान होना ही माना गया है।

नास्ति घटोगेह इति, सतो घटस्य गेह संसर्ग प्रतिषेध ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—गेह=घर में घट—घड़ा न अस्ति—नहीं है, इति—ऐसा कहने में सत—होते हुए घटस्य=घड़े का गेह संसर्ग—घर के सम्बन्ध से प्रतिषेध—न होना समझना चाहिये।

व्याख्या—घर में घड़ा नहीं रहा तो घर का और घड़े का सम्बन्ध भी समाप्त हो गया। घर में घड़ा था ऐसा कहने से जब घड़े का अस्तित्व था तब उसका सम्बन्ध भी घर से था अब नहीं है तो उसका अत्यन्त अभाव ही कहा जायगा। सम्बन्ध तो तभी बनेगा जब वस्तु घर में होगी और वह नेत्र से दिखाई देगी। जो वस्तु नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं कहीं छिपी हुई भी नहीं तो उसका न होना ही मानना पड़ेगा।

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्म प्रत्यक्षम् ॥११॥

सूत्रार्थ—आत्मनि = जीवात्मा में, आत्ममनसो: = जीवात्मा और मन के, सयोग विशेषात् = सयोग की विशेषता से, आत्म प्रत्यक्षम् = आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है।

व्याख्या—जोवात्मा मे आत्मा और मन के विशेष योग से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि एकाग्र मन से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करने वाले योगी आत्म साक्षात्कार करने मे समर्थ होते हैं। जब तक मन एकाग्र नही होगा, तब तक आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास मे भी सफलता न मिल सकेगी। इसीलिये आत्म साक्षात्कार के लिये मन की एकाग्रता आवश्यक है। और मन का एकाग्र होना विषयों के त्याग करने पर ही सम्भव है। विषयो में मन फँसा है तो अभ्यास करते रहने पर भी उसका एकाग्र कर सकना कठिन है, क्योंकि मन चचल होता है और वह बारम्बार विषयो की ओर दौडता है। इसीलिये, सूत्रकार मन को आत्म-चिन्तन मे तल्लीन करने का भाव व्यक्त करते हुए, मन का आत्मा से सयोग होने पर ही आत्म साक्षात्कार होने का उपदेश करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा के साथ मन तल्लीन हो तो आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। वैसे, मन यह जानता है कि मेरा सम्बन्ध आत्मा से है, परन्तु, अविद्या के कारण आत्मा की ओर न जाकर, विषयों की ओर जाता है। इसलिये, सर्व प्रथम अविद्या को नष्ट करने की चेष्टा करे, जिससे विवक की उत्पत्ति होकर मन मे एकाग्रता आ सके और उसका आत्मा से योग हो सके। इस सूत्र मे 'स योग-विशेषात्' पद इसीलिये कहा है कि मन सामान्य तौर से तो विषयो मे ही फँसा रहता है और जब वह विषयो को त्याग देता है, तब वह विशेष रूप से आत्मा के साथ युक्त हो जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कार की विशेष उपलब्धि होती है।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—तथा=इसी प्रकार, द्रव्यान्तरेषु=अन्य द्रव्यों में भी प्रत्यक्षम्=साक्षात् ज्ञान होता है।

व्याख्या—योग की सहायता से अन्य सूक्ष्म द्रव्यों का भी ज्ञान हो जाता है। क्योंकि सूक्ष्म द्रव्य-परमाणु आदि नेत्र से दिखाई नहीं देते परन्तु, योग की शक्ति इतनी प्रबल है कि उसके द्वारा उनका ठीक अनुमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मन को एकाग्र करके जिस विषय के अन्वेषण में लगाया जाय वह विषय ज्ञान-गम्य हो जाता है। साधारण रूप से भी यह देखा जाता है कि जो कार्य मनोयोग पूर्वक किया जाय उसके पूर्ण होने में सफलता मिल जाती है और जो कार्य बिना मन के किया जाता है, वह कभी सफल नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि लौकिक कार्यों में और आध्यात्मिक कर्मों में मन का योग हो तभी सफलता मिल सकती है अन्यथा नहीं मिल सकती।

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृत समाधयस्तेषाञ्च ॥१३॥

सूत्रार्थ—असमाहितान्तःकरणा=जो स्थिर अन्तःकरण वाले नहीं है, च=और,उपसंहृत समाधय=जो समाधि से विरत हो गये हैं तेषाम्=वे योग भ्रष्ट पुरुष बंधन में पड़े रहते हैं।

व्याख्या—जिन योगियों का मन एकाग्र नहीं रह पाता और मन के एकाग्र न रहने से समाधि भी बार-बार भंग हो जाती है, तब अपने को समाधि के योग्य न मान कर वे समाधि का त्याग ही कर बैठते हैं ऐसे पुरुषों को योग-भ्रष्ट माना गया है। वे योग-भ्रष्ट पुरुष जन्म-मरण के सांसारिक चक्र में पड़े हुए अपने प्रारब्ध कर्म का भोग भोगते रहते हैं। अथवा जो पुरुष समाधि के प्रभाव से अपने आत्मा आदि को शुद्ध कर चुके हैं और उन्होंने समाधि को छोड़ दिया है तो उनके मन की स्थिरता नहीं रह पाती इसलिये उन्हें आत्म-ज्ञान तो होता नहीं इस

दशा मे उन्हे प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों को भोगना पड़ता है और उनका जन्म-मरण नही रुकता। क्योकि, प्रारब्ध कर्मों का क्षय आत्म-ज्ञान होने पर ही हो सकता है और तभी जीवात्मा का फल-भोग नष्ट होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिये मन के स्थिर रहने को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानना चाहिये।

तत्समावायात् कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—तत्समावायात्=जिन द्रव्यो का साक्षात् होता है, उनके समवाय सम्बन्ध से, कर्मगुणेषु=उन-उन द्रव्यो के कर्मों और गुणो का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से हो सकता है।

व्याख्या—योगी को प्रत्येक सूक्ष्म द्रव्य के गुण, कर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है, क्योकि, उसका उन द्रव्यो से समवाय सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी विषय मे मन का सयोग होने से, वह विषय प्रत्यक्ष हो जाता है (मन के सयोग के विना, ज्ञान की उपलब्धि सम्भव नही, जिस द्रव्य के गुण, कर्म का ज्ञान करना आवश्यक हो, वह मन के समवाय सम्बन्ध अर्थात् मेल से ही होता है। सूक्ष्म द्रव्यो का ज्ञान योगियो को होना इसीलिये माना है कि उनका मन एकाग्र रहता है और वे जिस विषय का ज्ञान करना अभीष्ट समझते हैं, उस विषय के चिन्तन मे अपने मन को तल्लीन कर देते हैं। यही ज्ञान-प्राप्ति मे सफलता का एक कारण है, जो योगियो को ही सुलभ हो सकता है।

आत्मसमवायादात्म गुणेषु ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ-आत्मसमवायात्=आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध होने से, आत्मगुणेषु=आत्मा के चेतन स्वरूप होने वाले गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार मन के सयोग से सूक्ष्म द्रव्यो के गुण, कर्म का ज्ञान होना सुलभ है, वैसे ही, मन का आत्मा के साथ सयोग होने

पर आत्मा के गुणों का ज्ञान हो जाता है। आत्मा का गुण है, उसका चेतन होना। मन जब आत्म-चिंतन में तल्लीन होता है तभी आत्मा के चेतन स्वरूप का साक्षात्कार कर पाता है। यह, आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होना ही मोक्ष-प्राप्ति का अन्तिम साधन है। इसी को परम-सिद्धि माना गया है। जिन्होंने आत्मा से साक्षात्कार कर लिया वे ही मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हैं। उनका मुक्त अवस्था में रहना कहा गया है। उनके प्रारब्ध कर्म नष्ट होने से फल-भोग का भी क्षय हो जाता है, इस लिये उन्हें पुनः संसार में नहीं आना होता। इसीलिये योगीजन आत्म ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। मोक्ष की कामना वाले पुरुषों के लिये यही एक मार्ग है। इससे आत्मा के साथ मन का समवाय सम्बन्ध अर्थात् संयोग होने से आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष होना सिद्ध होता है।

। नवमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम् समाप्तम् ।।

नवमोऽध्याय—द्वितीयाह्निकम्

अस्येदं कार्यं कारण संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—अस्य=इसका इदम्=यह कार्यम्=कार्य कारणम्=कारण संयोगि=संयोगी विरोधि=विरोधी है च=और, समवायि=सदा साथ रहने वाला है इति=ऐसा ज्ञान लैङ्गिकम्=लक्षण से होता है।

व्याख्या—कार्य को देखकर कारण का ज्ञान होता है और कारण से कार्य को जाना जाता है। संयोग से संयोगी का और विरोध से विरोधी

का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार समवाय को देखकर समवायिका ज्ञान होता है। "अर्थात् इस कार्य का यह कारण है— उस कारण का यह कार्य है—यह इसका संयोगी है और यह इसका विरोधी है तथा यह समवायी है' इस प्रकार का ज्ञान लक्षण देखकर होता है। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहा गया है। अनुमान के लिये व्याप्ति को कारण मानते हैं। जैसे—घुँआ देखकर ऐसा अनुमान होता है कि यहाँ अग्नि होगी। क्योंकि, घुँआ है तो अग्नि अवश्य होगी। अग्नि के बिना घुँआ हो ही नहीं सकता। जब तक किसी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध न हो, तब तक व्याप्ति नही बनती। कार्य-कारण सम्बन्ध मे व्याप्ति का होना सिद्ध होता है। घुँए का कारण अग्नि है, इस व्याप्ति सम्बन्ध से ही घुँए को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। पुत्र को देखकर भी पिता के होने का अनुमान होता है, क्योंकि पुत्र की उत्पत्ति पिता से ही होगी। संयोग से भी सम्बन्ध का ज्ञान होता है, जैसे शरीर और त्वचा का संयोग। शरीर है तो उसके साथ ही त्वचा भी होगी। गर्म जल को देख-कर यह अनुमान करना कि जल अग्नि पर गर्म हुआ होगा, इसलिये, यहाँ अग्नि भी होगी। विरोधी का ज्ञान इस प्रकार होता है कि सर्प को झाड़ी की तरफ फुंकारते देखकर यह अनुमान हो कि यहाँ नेवला ही होगा, क्योंकि सप का विरोधी नेवला है। परन्तु, इस प्रकार का ज्ञान तभी हो सकता है, जब लक्षण का पूरा ज्ञान हो। अधूरे ज्ञान में भ्रम हो सकता है और भ्रम होने पर अनुमान प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती और व्याप्ति सम्बन्ध के ठीक न होने पर भी अनुमान नही बनता। जैसे अग्नि को देखकर यह अनुमान कर लिया जाय कि यहाँ घुँआ अवश्य होगा तो यह अनुमान मिथ्या सिद्ध होगा, क्योंकि, अग्नि, बिना घुँआ वाला भी होता है। इसलिये घुँये को देखकर अग्नि का अनुमान तो कर सकते हैं, परन्तु अग्नि को देखकर घुँए के होने का अनुमान नही कर सकते। इससे सिद्ध हुआ कि लक्षण का सही ज्ञान ही अनुमान का ठीक ज्ञान करा सकता है।

अस्येदं कार्य कारण सम्बन्धश्चाऽवयवाद्भवति ।।२।।

सूत्रार्थ—अस्य=इसका इदम्=यह लक्षण है च=और, कार्य कारण-सम्बन्ध=कार्य-कारण के सम्बन्ध वाला ज्ञान अवयवात्=अवयव रूप होने से भवति=होता है।

व्याख्या—इस वस्तु का यह लक्षण है यह बात कार्य और कारण के सम्बन्ध से जानी जाती है। धुएं का कारण [अग्नि है इस बात का ज्ञान होने से धुएं को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि यह अग्नि से] उत्पन्न हुआ है। साथ ही धुयें को देखकर पहिचान लेना कि यह धुंआ ही है, उसके स्वरूप का ज्ञान होने पर निर्भर है। यदि धुयें का रूप नहीं मालूम तो किस प्रकार पहिचाना जायगा कि यह धुंआ है या धूल आदि कोई अन्य पदार्थ है। सूत्र में अवयव से अवयवी की पहिचान करने का निर्देश किया गया है, जैसे लोहे का कार्य करता है वह लोहार है या पकाने का कार्य करता है, वह पकाने वाला कहा जायगा। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिये। अनुमान दो प्रकार का माना गया है—एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। स्वार्थ अनुमान उसे कहते हैं जिसकी अपनी ही व्याप्ति और गुण से परीक्षा हो सके तथा परार्थ अनुमान वह है जो अन्य की प्रेरणा वाले न्याय से उत्पन्न व्याप्ति का ज्ञान होने से होता हो। न्याय में पाँच अङ्ग अनुमान के लिये माने गये हैं—एक प्रतिज्ञा दूसरा हेतु, तीसरा उदाहरण चौथा अवयवी और पाँचवा निगमन। प्रतिज्ञा—जैसे शब्द अनित्य है इसे प्रतिज्ञा कहा गया है क्योंकि दृढ़ रूप में उसे अनित्य कह दिया गया। अब इस प्रतिज्ञा का हेतु भी होना ही चाहिये क्योंकि शंका होती है कि शब्द को अनित्य क्यों कहा? तो उसका हेतु बताया कि शब्द उत्पन्न होता है। इस पर कोई कहे कि शब्द उत्पन्न होता है इस बात को उदाहरण देकर समझाओ तो कहा कि जैसे घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है और उसका टूट कर नष्ट होना प्रत्यक्ष देखा जाता है और उत्पन्न होने वाली जितनी वस्तुएँ हैं वे सभी नाशवान हैं। इसीलिये

शब्द उत्पन्न होने वाला होने से अनित्य कहा गया। हेतु को प्रतिज्ञा सिद्ध करना अवयवी कहा जायगा, जैसे जो वस्तु उत्पन्न होगी, वह अवयव वाली होगी और अवयव वाली वस्तु नित्य हो ही नही सकती। साथ ही जो वस्तु उत्पन्न होगी, वह नष्ट भी अवश्य होगी। इस प्रकार, अवयवो से अनुमान करने से, इसे अवयवी कहा गया। पाँचवा निगमन वह है जिसमे प्रतिज्ञा का हेतु वताकर प्रतिज्ञा को सिद्ध करने का निर्णय देते हैं, जैसे शब्द उत्पन्न होने से अनित्य है—यह अन्तिम निर्णय हो गया। इस प्रकार अवयवो से अनुमान करने को ही परार्थ अनुमान कहते है।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥३॥

सूत्रार्थ=एतेन=इस प्रकार कहने से, शाब्दम्=शब्द सबधी ज्ञान भी, व्याख्यातम्=कह दिया समझना चाहिये।

व्याख्या—जिस प्रकार लक्षण का ज्ञान कहा गया है, उसी प्रकार शब्द का ज्ञान समझना चाहिये। अर्थात् शब्द के द्वारा जो अर्थ आदि का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी अनुमान के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। जैसे अनुमान व्याप्ति-सम्वन्ध से होता है, व्याप्ति के विना नही हो सकता, वैसे ही शब्द का ज्ञान भी उसके अर्थ को जानने पर ही हो सकता है। शब्द का अर्थ जाने विना उसका तात्पर्य ही नही समझा जा सकता। जैसे अनुमान के दो भेद कहे गये हैं, वैसे ही शब्द भी दो प्रकार का है। एक तो शब्द मे अर्थ वताने वाली शक्ति रहने से अर्थ समझा जाता है और दूसरे लक्षण और व्यजन आदि से भी अर्थ जाना जा सकता है। लक्षण से तात्पर्य यह है कि किसी विषय के वर्णन को देखकर उसमे आये हुए शब्द का विषय के अनुकूल अर्थ किया जाता है। जैसे रेलगाड़ी में चलते हुये किसी स्टेशन पर गाडी ठहरे और कह दें कि 'कानपुर आगया' तो समझना होगा कि स्टेशन तो चलता नही, गाडी चलती है, कानपुर कही से नही आया, वल्कि गाडी कानपुर के स्टेशन पर आगई। इसलिये, 'कानपुर आ गया' का अर्थ विषय के अनुकूल यही वनेगा कि 'गाड़ी कानपुर मे

जायगी'। इसी प्रकार, कोई व्यक्ति धुंए को देखकर कहे कि 'यहाँ अग्नि है'। जहाँ धुंआ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगा इस व्याप्ति-सम्बन्ध से तो यह कहना ठीक हो सकता है परन्तु वाक्य का सही अर्थ 'यहाँ अग्नि है ऐसा नहीं हो सकता बल्कि यहाँ धुंआ है' ऐसा होगा। परन्तु, जानकार व्यक्ति 'यहाँ अग्नि है ऐसा कहने से यह समझ लेगा कि इसने धुंए को देखकर ही इस प्रकार कहा है। अन्यथा धुंए को देखकर अग्नि है' ऐसा कहना अशुद्ध भी हो सकता है क्योंकि इंजिन से निकला हुआ धुंआ तो कुछ देर तक व्याप्त रहता है परन्तु, इंजिन दूर चला जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द का अर्थ विषय के वर्णन से भी समझा जा सकता है। तथा शब्दों का सामान्य अर्थ उनके यथार्थ ज्ञान से होता है जिन्हें अर्थ का ज्ञान नहीं वे शब्द का तात्पर्य समझने में समर्थ नहीं हो सकते।

हेतुरपदेशोलिङ्गम् प्रमाण करणमित्यनर्थान्तरम् ।।४।।

सूत्रार्थ—हेतु = हेतु, उपदेश = उपदेश लिङ्गम् = लक्षण प्रमाणम् = प्रमाण और करणम् = करण इति = यह अर्थान्तरम् = समान अर्थ का ज्ञान कराने वाले हैं।

व्याख्या—हेतु कारण सूचक है अर्थात् 'अमुक कार्य किस हेतु से हुआ ? ऐसा प्रश्न करने से ज्ञात हुआ कि हेतु का तात्पर्य कारण से है। जिस कारण कार्य किया जाय उस कारण को हेतु कहते हैं। जिससे अर्थ का ग्रहण हो सके वह उपदेश है। जैसे किसी से कहें कि 'अन्न से भोजन बनेगा' अथवा 'घर को स्वच्छ रखना आवश्यक है'। इन वाक्यों का अर्थ मनुष्य के लिये हितकारी तो है ही साथ ही शिक्षा प्रद होने से भी उपदेश ही है। इस प्रकार जिस शब्द से मतलब सिद्ध होता है वह उपदेश है। जिस चिह्न अथवा आकार प्रकार से किसी वस्तु की पहिचान हो सके उसे लिङ्ग अर्थात् लक्षण कहते हैं। जैसे गाय सींग वाली होती है तो सींग अन्य पशुओं के भी है। पूँछ वाली होती है तो पूँछ अन्य पशुओं के भी होती है उसकी पूँछ के अन्त में बाल होते हैं, तो बैल की पूँछ भी

वैसी ही होती है, फिर कहा कि गाय के गले के नीचे मांस लटकता रहता है, तो मांस बैल के भी लटकता है, फिर कहा कि गाय के थन होते हैं, बैल के थन नही होते। इस प्रकार पूँछ के अन्त मे बाल, सीग, गले मे लटकता हुआ मांस कुब्ब और थन होना यह गाय के लक्षण हैं। लक्षण आदि का यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण रूप है। इस प्रकार उदाहरण सहित सिद्ध हुये करण अर्थात् कारण को अनुमान कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हेतु, उपदेश लिङ्ग, प्रमाण और करण के द्वारा शब्द का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

अस्येदमितिबुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ—अस्य=इसका, इदम्=यह लक्षण है, इति=ऐसा ज्ञान, बुद्ध-अपेक्षित्वात्=बुद्धि की अपेक्षा से होता है।

व्याख्या—इस कार्य का यह कारण है अथवा इस वस्तु का यह लक्षण है, इस प्रकार की जानकारी बुद्धि से होती है। क्योंकि बुद्धि ही पदार्थ का ज्ञान कराने वाली है। जैसे, किसी बालक से कहें कि यह गाय है, यह ऊँट है, यह घर है, यह तोता है इत्यादि और वह बालक उस-उस वस्तु को देखकर समझ ले कि इसे गाय कहते हैं, इसे ऊँट कहते हैं। यह ज्ञान बालक की बुद्धि ही ग्रहण करती है। यह देखा जाता है कि कि अनेक मन्द बुद्धि वाले पुरुष जिस किसी विषय को शीघ्र नहीं समझ पाते और तीक्ष्ण बुद्धि वाले पुरुष उसी विषय को शीघ्र समझ लेते हैं। इसमे बुद्धि की अपेक्षा से ही ज्ञान का उत्पन्न होना सिद्ध होता है। यदि कहें कि 'गाय है' ऐसा सकेत होने से ही गाय का होना समझ मे आ जाता है तो यह कहना ठीक नही है। क्योकि गाय के आकार-प्रकार और सभी लक्षणो को बुद्धि जब ठीक प्रकार से ग्रहण कर लेती है तभी समझ में आता है कि यह गाय है, अन्यथा बहुत से बालको को देखा है कि वे सभी पशुओं को गाय बताने लगते हैं। यह उनकी बुद्धि की कमजोरी ही है, जब तक उनकी बुद्धि ठीक प्रकार से गाय का या भैस आदि का अन्तर

नहीं समझ लेती तब तक सभी पशुओं में गाय का भ्रम रहता है और ठीक प्रकार समझ लेने पर नहीं रहता। कभी-कभी गाय-बैल के झुण्ड को दूर से देखकर यह पहचानना कठिन होता है कि गाय कौन-सी है और बैल कौन-सा है। इसका कारण यही है कि दूर होने के कारण बुद्धि गाय या बैल के विशेष चिह्न थन आदि को ग्रहण नहीं कर पाती इसलिये यही सिद्ध होता है कि बुद्धि की अपेक्षा से ही विषयों का यथार्थ ज्ञान हो पाता है।

आत्ममनसो संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥६॥

पदार्थ—आत्ममनसो = आत्मा और मन के संयोग-विशेषात् = संयोग की विशेषता से च = और, संस्कारात् = संस्कार से स्मृति = याद बनी रहती है।

व्याख्या—देखी हुई वस्तु को मन आत्मा को पहुँचाता है अर्थात् आत्मा मन के द्वारा ही सब वस्तुओं को जानता है और मन के संयोग से और वस्तु के आकार प्रकार आदि के अनुभव से वह उस वस्तु की याद रखता है। ऐसे यों भी कह सकते हैं कि आत्मा के साथ मन का विशेष योग होता है और संस्कार-सम्बन्ध होता है उससे स्मृति की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वस्तु का सम्बन्ध नेत्र से हुआ और नेत्र ने मन को वह वस्तु समर्पित की तथा मन ने उसे आत्मा को समर्पित कर दिया। इस प्रकार आत्मा ने उस विषय को ग्रहण करके पुनः मन को लौटा दिया। जैसे कोई राजा किसी कागजात को देखकर उसे सुरक्षित रखने के लिये अपने मन्त्री को लौटा देता है और आवश्यकता होने पर उसे फिर कभी पेश करने को कहता है, तब वह मंत्री उन कागजात को मांगे जाने पर राजा के सामने पेश करता है। वैसे ही शरीर का राजा आत्मा अपने मंत्री मन को लौटाये हुए विषय की आवश्यकता होने पर चाहे जब ले लेता है—इसी को याद कहते हैं। क्योंकि मन ही उस वस्तु के संस्कार को अपने में जमाये रखता है और जब आत्मा को उसकी

आवश्यकता होती है तब उसे याद दिला देता है। अब यह समझना चाहिये कि जिस वस्तु अथवा दृश्य का अनुभव ठीक नही हुआ है उसका सस्कार ठीक स्मृति नही होने देगा, क्योकि जब वस्तु या दृश्य का यथार्थ ज्ञान ही न होगा तो उसका सही सस्कार ही कैसे जमेगा ? इससे मानना होगा कि सस्कार ही यथार्थ ज्ञान मे सहायक है और स्मृति भी सस्कार के विपरीत कभी नही हो सकती। किसी देखी हुई वस्तु को याद करने पर आत्मा का मन के साथ जो सयोग है उसे सयोग की विशेषता समझनी चाहिये। क्योकि, विषयो का आत्मा के लिये निवेदन करना तो मन का सामान्य कार्य है, ऐसा तो वह निरन्तर करता रहता है। परन्तु, किसी पिछले दृश्य की याद दिलाना—यह मन का विशेष कार्य मानना होगा। अनेक वार, इच्छा से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा जिस सस्कार को उत्पत्ति होती है, उसके दुवारा याद आने के कारण उसे स्मृति कहते हैं। परन्तु, योगी के लिये स्मृति भी प्रत्यक्ष के समान ही है। वे अपनी योग-शक्ति से अतीत के दृश्यो को प्रत्यक्ष करने मे समर्थ होते हैं। जिन पर उनकी कृपा हो जाती है, उन्हें योगाभ्यास की ओर आकर्षित करने के लिये उनके अतीत के मार्मिक दृश्यो को साक्षात् दिखला कर ससार की असारता का ज्ञान करा देते हैं। हमारे मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो ने, न देखे हुए विषयों को भी लिपि-बद्ध कर परम ज्ञान के भण्डार रूप वेदो का आविर्भाव किया। यह सब आत्मा और मन के सयोग और सस्कार की सहायता से ही हो सका। इस सब से यही सिद्ध होता है कि मन के योग से आत्मा में उत्पन्न हुआ सस्कार ही स्मृति का कारण है और मनोयोगपूर्वक उत्पन्न हुआ ज्ञान ही आर्ष ज्ञान कहा गया है।

तथा स्वप्नः ॥७॥

सूत्रार्थ—तथा=इसी प्रकार (आत्मा और मन का स योग होने पर और सस्कार के द्वारा, स्वप्न =स्वप्न का होना समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे संस्कार के द्वारा तथा मन और आत्मा का विशेष संयोग होने पर स्मृति का होना कहा गया है, वैसे ही अर्थात् आत्मा का मन के साथ विशेष योग और संस्कार से स्वप्न की उत्पत्ति समझनी चाहिये। इन्द्रियों का बाह्य विषयों का ग्रहण करना छोड़ देने और मन का भी बाह्य विषयों को छोड़कर अन्तरस्थ हो जाने पर मन और इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही स्वप्न है। अर्थात् सोते हुये को जो स्वप्न दिखाई देते हैं, वह देखे हुए विषयों को मन और इन्द्रियों द्वारा छोड़ देने पर, परस्पर मिलने और आत्मा से सम्पर्क करने का परिणाम है। विद्वानों ने स्वप्न को तीन प्रकार का माना है—(१) संस्कार विशेष से उत्पन्न (२) पुराणादि के सुनने से उत्पन्न और (३) पूर्व जन्म के कर्मफल से उत्पन्न। अब संस्कार विशेष से उत्पन्न स्वप्न का निरूपण करते हैं। जिस कार्य को देखते विचारते अनुभव करते हुए निद्रा आ जाय वैसे ही दृश्य विचार या अनुभव से सम्बन्धित दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। उसमें ऐसा नहीं है कि सब बातें ज्यों की त्यों दिखाई दें बल्कि उसका रूपान्तर, फेर बदल अथवा उसका उलटा भी दिखाई दे सकता है। जिस विषय का मन पर अधिक संस्कार होगा वह विषय अधिकता से होगा और कम संस्कार वाला विषय न्यूनता से दिखाई देगा। दूसरे प्रकार का स्वप्न पुराण शास्त्र कहानी किस्से चरित्र आदि के सुनने अभिनय आदि देखने या अन्य प्रकार से ग्रहण करने योग्य विषय के संस्कार से मन के प्रभावित होने से दिखाई देता है। इनमें युद्ध आदि का प्रसंग देखना समुद्र तट पर जाना पर्वत पर चढ़ना देव-दर्शन करना पृथिवी पर भ्रमण आदि यह अथवा ऐसे ही अन्य दृश्य उपस्थित हो सकते हैं। तीसरे प्रकार का स्वप्न वह है जिसमें भयावने दृश्य कोई मारने को दौड़ता है कोई उठाकर फेंकता है कोई गाली देता है कभी सवारी करता है महल में जाय बैठता है राजा बन जाता है ऐश्वर्य-सुख भोगता है इत्यादि दृश्य वाले स्वप्न पूर्वजन्म के शुभ-अशुभ फल रूप से दिखाई देते हैं। शुभ कर्म वालों को अच्छे और अशुभ कर्म वालों को बुरे अथवा भयावने स्वप्न होते हैं।

अनेक वार देखा जाता है कि स्वप्न मे जो बात दिखाई देती है, वह जागने पर सत्य सिद्ध हो जाती है। इसलिये अनेक विद्वान् स्वप्नो को भविष्य की सूचना देने वाले भी कहते है। इन भविष्य सूचक स्पप्नो मे शुभ परिणाम वाले और अशुभ परिणाम वाले, इस प्रकार दो भेद होते हैं। पूर्व जन्म के कर्मों के फल रूप मे उन सस्कारो का जागृत होकर मन को प्रभावित करना ही इन स्वप्नो का कारण कहा जा सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि स्वप्नो की उत्पत्ति मे भी मन और सस्कार का आत्मा से योग ही प्रमुख है।

स्वप्नान्तिकम् ॥८॥

सूत्रार्थ—स्वप्नान्तिकम् = एक स्वप्न मे दूसरे स्वप्न की उत्पत्ति भी उसी पर आधारित है।

व्याख्या—जैसे आत्मा और मन के असामान्य सयोग से स्वप्न की उत्पत्ति कही गई है, वैसे ही एक स्वप्न मे दूसरे स्वप्न का उत्पन्न हो जाना भी आत्मा, मन और सस्कार से ही होता है। इसमे भेद इतना ही है कि स्वप्न तो पहिले अनुभव मे आये हुये सस्कारो के प्रभाव से होता है, परन्तु स्वप्न में स्वप्न की उत्पत्ति का कारण तात्कालीन अनुभव का सँस्कार है। अथवा यो कहना चाहिये कि वीते हुए अनुभूत विषयों की याद से स्वप्न उत्पन्न होता है और उन अनुभूत विपयो मे दूसरे अनुभूत विपयो की छाया का समावेश होना स्वप्नान्तिक अर्थात् स्वप्न की उत्पत्ति होती है। जैसे अभी देखा कि राज-दरबार मे खडे है, वहाँ का दृश्य देखते-देखते जगल का दृश्य देखने लगे और वह दृश्य भी बदल गया—एक सुन्दर शहर मे पहुँच गये। यह एक स्वप्न मे दूसरे स्वप्न का उत्पन्न होना ही है। कभी-कभी तो स्वप्न मे ही ऐसा ज्ञान होता है कि हमे जो दिखाई दे रहा है, वह स्वप्न है। स्वप्न देखने वाला स्वप्न मे ही यह अनुभव करे कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ—इसे वास्तव मे, स्वप्न मे ही स्वप्न मानना

होता। इसमें मन पर बाह्य वस्तुओं का अधिक प्रभाव रहता है और आत्मा निद्रा से कम प्रभावित रहता है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि स्वप्न की उत्पत्ति तो मन और संस्कार के आत्मा के साथ संयुक्त होने पर होती ही है साथ ही स्वप्न की उत्पत्ति का कारण भी यही है।

धर्माच्च ॥६॥

सूत्रार्थ—च=और, धर्मात्=धर्म से भी स्वप्न का उत्पन्न होना कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—धर्म अधर्म से भी स्वप्न की उत्पत्ति हो सकती है। *क्योंकि अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोग तो आवश्यक है ही वह* किसी भी रूप में प्राप्त हो सकता है। स्वप्न भी फल-भोग का एक साधन समझा जा सकता है। क्योंकि स्वप्न में बुरे दृश्य देखकर दुःखी और अच्छे स्वप्न देखकर सुखी होना *निश्चित है। जहाँ दुःख होता है, वहाँ* यही मानना होगा कि आत्मा अपने अशुभ पूर्व कर्म का फल भोग रहा है और सुख होने से यह मान्यता होती है कि पुण्य रूप अर्थात् धार्मिक कर्मों के फल रूप में सुख मिल रहा है। स्वप्न में भी जिस सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, वह कर्म-फल का आंशिक भोग ही है। यदि कहें कि स्वप्न में दुःख-सुख की प्राप्ति का कारण धर्म नहीं अनुभूति ही होगी क्योंकि जो बात अनुभव में आती है वही ही स्वप्न रूप में देखा जाता है, स्वप्न में मार पड़ने से चोट तो लगती नहीं यदि भूखे को स्वप्न में भोजन करा दें तो उसका पेट कभी नहीं भर सकता। जागने पर उसकी भूख कम नहीं *होगी तो कैसे मानें कि इसका कारण धर्म ही होगा?* इसका समाधान करते हैं कि जिस समय स्वप्न में मार पड़ती है उस समय तो मार का अनुभव होता ही है भयानक स्वप्न से भारी डर लगता है किसी के के द्वारा ऊपर से गिराये जाने पर गिरने का अनुभव भी होता है, भोजन मिलने या जल पीने से तृप्ति का भी अनुभव होता है। चाहे वह अनुभव

यथार्थ न हो, तो भी उस समय तो प्राणी को सुख-दुःख की प्रतीति होती ही है। अब इस बात को समझाते हैं कि स्वप्न पर धर्म-अधर्म का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है ? जो व्यक्ति धार्मिक विचार वाले, शुद्ध भावना, पवित्र आचरण और सीमित खान-पान वाले हैं, उन्हें बुरे स्वप्न दिखाई नही देते, वे सदा अच्छे स्वप्न ही देखते हैं। इससे विपरीत अर्थात् बुरे आचरण वाले पापी पुरुषो को अच्छे स्वप्न कभी भी दिखाई नही देते, वे जब भी स्वप्न देखते हैं, बुरे ही देखते हैं। यदि, अच्छे आचरण वाले व्यक्ति कभी-कदा बुरे स्वप्न देखते भी हो तो या बुरे आचरण वालो को कभी अच्छे स्वप्न दिखाई देते हो तो उसका कारण उनके पूर्व जन्म का सस्कार ही हो सकता है। जो पूर्व जन्म में या इस जन्म मे भी कभी भूल से या जानकर ही कोई बुरा कार्य कर बैठे हों और बाद मे अच्छे आचरण वाले हो गये हो तो उन्हे कभी-कभी बुरे स्वप्न भी दिखाई दे सकते हैं। इसी प्रकार पाप-कर्म करने वालो को, पूर्व शुभ कर्मों के प्रभाव से अच्छे स्वप्नो का दिखाई देना सम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वप्न के शुभ या अशुभ रूप से दिखाई देने में धर्म, अधर्म भी एक कारण है।

इन्द्रियदोषात् सस्कारदोषाच्चाऽविद्या ॥१०॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियदोषात्=इन्द्रिय के दूषित होने से, च=और सस्कार-दोषात्=सस्कार के दूषित होने से, अविद्या=अविद्या अर्थात् अधर्म ही समझना चाहिए।

व्याख्या—इन्द्रिय का दूषित होना अर्थात् इन्द्रिय का अपने यथार्थ विषय को ग्रहण न करना और सस्कार का दूषित होना अर्थात् कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म मानना अथवा दृश्य-भ्रम होना आदि कार्य अविद्या के कारण ही होते हैं। इसमे इन्द्रिय-दोष वह है जिसमे या तो इन्द्रिय बेकार होजाय अथवा जिस विषय को ग्रहण करना है, उसे उसके यथार्थ रूप मे ग्रहण न करके अन्य रूप मे ग्रहण करे। जैसे अधकार मे रस्सी को सर्प रूप से देखना। यह दृष्टि का दोष हुआ और सस्कार का

दोष यह है जैसे कि संखिया आदि विष को मारक माना गया है, इसके सेवन करने से साधारण मनुष्य आदि की मृत्यु हो सकती है। परन्तु, बहुत-से व्यक्ति संखिया और अफीम आदि का दैनिक सेवन करते हैं। यह उनका विरुद्ध संस्कार ही हुआ। इस प्रकार, इन्द्रियों के दूषित होने से और विरुद्ध संस्कार से, विरुद्ध धर्म की उत्पत्ति मानी जाती है। जैसे संखिया मारक है परन्तु जो उसे सेवन करने के अभ्यासी हैं, उनके लिये वह जीवन प्राप है तो यह विरुद्ध-धर्म हुआ। कुछ का कुछ दिखाई देना या इन्द्रियों का अपने अपने कार्य से विरत होजाना यह भी विरुद्ध धर्म हुआ क्योंकि इन्द्रियों का बेकार हो जाना जैसे नेत्र से दिखाई न देना हाथ-पाँवों का न चलना मुख से न बोल सकना कान से सुनाई न देना यह सब रोग आदि की उत्पत्ति के कारण होता है और रोग की उत्पत्ति उचित आहार-विहार के न होने से होती है तथा उचित आहार-विहार का न रहना अविद्या अर्थात् अज्ञान के ही कारण होता है। कुछ का कुछ दिखाई देना भी अज्ञान का ही विषय है और संस्कार में दोष भी अज्ञान से ही सम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय और संस्कार, इनके दूषित होने का कारण अविद्या ही है।

तद् दुष्टज्ञानम् ॥११॥

सूत्रार्थ—तत् = वह अविद्या दुष्टज्ञानम् = दूषित ज्ञान अर्थात् अज्ञान कही जाती है।

व्याख्या—ज्ञान के दूषित हो जाने को ही अविद्या कहते हैं। यदि कहें कि ज्ञान तो ज्ञान ही है वह दूषित कैसे होगा? तो इसका समाधान यह है कि जो लोग किसी के मरने पर उसका मृतक संस्कार करने जाते हैं वे यह जानते हैं कि अन्त में सब की यही गति होनी है अर्थात् सब को मरना है। ऐसा जानते हुये भी झूठ बोलते और अधर्म कर्म द्वारा धनोपार्जन आदि का कार्य करते रहते हैं। ऐसे कार्यों को करते हुए वे भूल जाते हैं कि हमको भी एक दिन मर जाना होगा।

फिर अधर्म के कार्यों को क्यो करें ? इसे ज्ञान का दूषित होना ही कहेंगे। संसार को असार जानते हुए भी विषय-भोगो मे फँसे रहना और मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रयत्न न करना, यह ज्ञान का दूषित होना ही सिद्ध होता है। इसीलिये, सूत्रकार ने दूषित ज्ञान को अविद्या कहा है।

अदुष्टं विद्या ॥१२॥

सूत्रार्थ—अदुष्टम् = जिस ज्ञान मे दोष नही है, वह ज्ञान, विद्या = विद्या कहा जाता है।

व्याख्या—जो ज्ञान दोष-रहित अर्थात् निर्मल है, वही विद्या है। अर्थात् यथार्थ ज्ञान हो और उसके अनुसार ही आचरण करे वही विद्या कही जाती है। विभिन्न मत-मतान्तरो और सम्प्रदायो मे भी जो ज्ञान वेद-सम्मत है, वही यथार्थ ज्ञान है और वेद विरुद्ध मान्यतायें मनमानी होने के कारण कल्पित तथा त्याज्य हैं, वह अविद्या से उत्पन्न समझनी चाहिये। इसी प्रकार जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना निर्मल ज्ञान माना गया है। शरीर और आत्मा के भेद को यथार्थ रूप में जानना और संसार को असार मानकर मोक्ष के लिये प्रयत्न करना भी 'विद्या' अर्थात् शुद्ध ज्ञान ही समझना चाहिये।

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥१३॥

सूत्रार्थ—आर्षम् = ऋषियो के उपदेश, च = और, सिद्ध-दर्शनम् = वेद सम्मत पदार्थो का देखना अथवा वेद आदि शास्त्रो का देखना, धर्मेभ्य = धर्म से सिद्ध होता है।

व्याख्या—मन्त्र द्रष्टा ऋषियो को भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल का स्पष्ट ज्ञान होता है, इसलिये, वे जो कुछ कहते हैं, वह प्रामाणिक होता है। उनका उपदेश सुनना सभी के लिये सुलभ नही है। क्योंकि ऐसे ज्ञानी सन्त कहीं कही ही मिलते हैं। धर्माचरण वाले और मोक्ष की कामना करने वाले पुरुष ही उनके समीप जा पाते हैं और

उनको ही उन ऋषि महर्षियों के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार वेद आदि शास्त्रों के दर्शन उनका अध्ययन या उनके उपदेश के अनुसार होने वाले यज्ञादि के दर्शन भी धार्मिक व्यक्ति ही कर पाते हैं। जो पुरुष अधर्मी या पापी हैं उनकी रुचि भी सन्त-दर्शन और उपदेश-श्रवण की ओर नहीं होती। इसलिये यह मान्यता ठीक है कि ऋषियों के उपदेश और यज्ञादि पुण्य पदार्थों के दर्शन धर्मवान् पुरुषों को ही होते हैं। इस सूत्र का यह भी अर्थ होता है कि सिद्ध पुरुषों के दर्शन और उनके यथार्थ उपदेशों को सुनने का धार्मिक जन ही सौभाग्य प्राप्त करते हैं। ठीक भी है—अधार्मिकों को ऐसा अवसर ही नहीं मिल सकता।

॥ नवमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम् समाप्तः ॥

दशमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुख दुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥

सूत्रार्थ—इष्ट-अनिष्ट-कारण-विशेषात्=इच्छित और अनिच्छित कारणो की विशेषता से, च=और, मिथ =परस्पर, विरोधात्=विरोध से, सुख-दु खयो =सुख और दु.ख मे, अर्थान्तर भाव =परस्पर मे विरुद्ध-भाव होता है।

व्याख्या—सुख और दु ख दोनो के लक्षण एक दूसरे से विरुद्ध भाव वाले है। सुख की प्राप्ति इच्छित है अर्थात् सुख मिले यही इच्छा सदा रहती है, परन्तु, दु ख की प्राप्ति अनिच्छा से हो जाती है। अर्थात् यह कोई नही चाहता कि मुझे दु ख की प्राप्ति हो। इस प्रकार सुख इच्छित और दु ख अनिच्छित होने से, दोनो मे परस्पर विरोध है। क्योकि, सुख है तो दु ख का अभाव होगा और दु ख है तो सुख नही रहेगा। इन दोनो के लक्षणो में भी भिन्नता है। सुखी मनुष्य का मुख प्रसन्न रहता है, वह शरीर से स्वस्थ और अच्छे वस्त्राभूषण धारण किये उमग वाला होता है। परन्तु, दु खी मनुष्य के मुख पर मलीनता दिखाई देती है, उसका शरीर निर्वल प्रतीत होता है और दु ख के कारण अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण करने की इच्छा ही नही हो पाती। इससे सिद्ध होता है कि सुख और दु ख परस्पर विपरीत लक्षण वाले हैं। 'अर्थान्तर-भाव' का यही तात्पर्य है और इसीलिये सूत्रकार ने सुख-दु ख को परस्पर विरोधी कहा है।

प्रथम निषेधात्मक उदाहरण यह बतलाता है कि प ग प पूर्ववर्ती अवस्थाओं में विद्यमान हैं और फिर भी 'क' उत्तरवर्ती अवस्थाओं में विद्यमान नहीं है। यह बतलाता है कि वे 'क' के कारण नहीं हो सकते। इसी प्रकार 'च' भी 'क' का कारण नहीं हो सकता जैसा कि दूसरे निषेधात्मक उदाहरण में पाया जाता है इत्यादि। इस प्रकार यदि निषेधात्मक उदाहरण पूर्वांश से रिक्त हो जायँ और उनमें सब अवस्थायें पायी जावें केवल उनको छोड़कर जो विध्यात्मक समूह में एकरूप से पायी जाती हैं तो कारण अशुद्ध नहीं हो सकता। यदि यह शर्त पूरी नहीं होती तो कारण अशुद्ध की सम्भावना अलग नहीं की जा सकती।

(८) व्यतिरेक विधि

मिल का कहना है कि व्यतिरेक विधि, (The method of dif ference) का जब कभी प्रयोग किया जाय, यह अन्वयविधि की कमियों को पूर्ण करती है। वे इसका स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं :—

"एक उदाहरण जिसमें अनुसंधानगत पदार्थ या घटना पैदा होती है और अन्य उदाहरण जिसमें यह पदार्थ या घटना नहीं उत्पन्न होती है, ये दोनों उदाहरण, केवल एक अवस्था को छोड़कर सब में समानता रखते हैं और यह केवल पहले उदाहरण में उत्पन्न होती है, तब यह अवस्था जिसमें ही केवल दोनों उदाहरण भेद रखते हैं वह या तो पदार्थ का कार्य है या कारण है या कारण का आवश्यक अंग है।" 1

व्यतिरेकविधि इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि जिस किसी अवस्था को, बिना अनुसंधानगत पदार्थ या घटना के नाश करने के अलग नहीं कर सकते, वह अवस्था अवश्य ही पदार्थ या घटना से कारणता के सम्बन्ध में अनुस्यूत है। यदि एक अवस्था निकाल दी जाय और उसमें अनुसंधानगत पदार्थ या घटना गायब हो जाती है तो अन्य वस्तुओं के उसी प्रकार रहते हुये, दोनों के अन्दर अवश्य ही कारणता का सम्बन्ध होना चाहिये।

व्यतिरेकविधि में हम दो उदाहरण लेते हैं और केवल दो ही उदाहरण लेते हैं। प्रत्येक उदाहरण में पूर्ववर्ती अवस्थाओं का समूह होता

है और उसके अनुसार उत्तरवर्ती अवस्थाओं का भी समूह होता है। दोनों उदाहरण केवल एक अवस्था (चाहे वह पूर्ववर्ती अवस्था हो या उत्तरवर्ती अवस्था हो) में भेद रखते हैं जो एक में विद्यमान रहती है, और दूसरी में विद्यमान नहीं रहती। अन्य सब बातों में दोनों उदाहरण बिलकुल समान होते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जिस अवस्था में दो पूर्ववर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं वह उस अवस्था का कारण है, जिसमें ही केवल दो उत्तरवर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं।

यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि व्यतिरेक विधिके दो रूप हो सकते हैं। हम पूर्ववर्ती अवस्थाओं में कुछ और मिला सकते हैं और उसका परिणाम यह होता है कि उत्तरवर्ती अवस्थाओं में कुछ नवीनता आजाती है। या हम पूर्ववर्ती अवस्थाओं में से कुछ निकाल लेते हैं तो हम देखेंगे कि उत्तरवर्ती अवस्थाओं में से भी कुछ निकल जाता है। इसी हेतु से मेलोन साहब व्यतिरेक विधि का इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

"जब किसी पदार्थ या घटना के अन्दर उसकी पूर्ववर्ती अवस्था मे कुछ मिला देने से उत्तरवर्ती अवस्था में कुछ मिला हुआ प्रतीत होता है और उस में से कुछ घटा देने से कुछ घटा हुआ प्रतीत होता है तब, अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर भी, वह कुछ अवश्य ही पदार्थ या घटना के साथ कारणता के सम्बन्ध से सम्बन्धित है।"

इसको उन्होंने व्यतिरेक विधि कहा है क्योंकि दोनों उदाहरणों की तुलना करने पर, जिनको हम ग्रहण करते हैं, हम देखेंगे कि वे केवल एक अवस्था में ही भेद रखते हैं। यह केवल भेद की ही इकाई है जो सिद्धि का मुख्य कारण है और इसलिये ही कॉफी और मेलोन इस विधि को एकाकी व्यतिरेक विधि (The method of single difference) कहते हैं। इस प्रकार अन्वय विधि में बहुत से उदाहरण केवल एक अवस्था में एक समान होते हैं (दूसरी अवस्था में भेद रहते हैं) किन्तु व्यतिरेक विधि में दो उदाहरण केवल एक अवस्था में भेद रखते हैं (दूसरी अवस्थाओं में वे एक समान होते हैं।)

हम निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण देते हैं —

(१) क ख ग　　क' ख' ग'　　(२)　ख घ　　ख' घ'
　　ख ग　　　ख' ग'　　　　　क ख घ　　क' ख' ग'

प्रथम उदाहरण में पूर्ववर्ती अवस्थाओं में से 'क' अलग कर दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क' निष्कर्ष में से गायब हो गया है। द्वितीय उदाहरण में 'क' पूर्ववर्ती अवस्थाओं में जोड़ दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क' उसमें से गायब नहीं हुआ है। इस प्रकार 'क' ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो पूर्ववर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। उसी प्रकार 'क' ही केवल एक अवस्था है जिसमें दो उत्तरवर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। दूसरी अवस्थाएँ समान हैं अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' 'क'' का कारण है।

इसके यथार्थ उदाहरण अधोलिखित हैं :—

(क) यदि हम एक हवा से भरे हुए घड़े में घंटी बजाते हैं तो घंटी की आवाज़ सुनाई देती है। यदि वही घंटी उस घड़े के अन्दर बजाई जाय जिसकी हवा निकाल दी गई है तो उसका शब्द सुनाई नहीं देता। अन्य अवस्थाएँ उसी प्रकार रहती हैं; इसलिये हवा का होना शब्द की उत्पत्ति का मुख्य कारण है।

(ख) जब किसी मनुष्य के हृदय में गोली मारी गई तब हम इस विधि के द्वारा यह जानते हैं कि उसकी मृत्यु गोली के लगने से हुई है क्योंकि गोली के लगने से पहले वह अच्छा स्वस्थ जीवित दिखा रहा था केवल गोली लगने की और को छोड़कर अन्य सब अवस्थाएँ समान थीं। अतः गोली का लगना उसकी मृत्यु का मुख्य कारण है।

ऐसे और एक का प्रयोग—जब किसी वायुपम्प के ग्राहक (Receiver) में हमने एक साथ पैसा और पंख छोड़ा। चूँकि वायु उसमें अवस्थित है इसलिये पंख पैसे की अपेक्षा देर में पहुँचता है। बाद में हम पम्प में से वायु निकाल देते हैं और पैसा और पंख एक साथ ही छोड़ते हैं तो हम देखते हैं कि दोनों चीजें एक साथ ही तल पर

पहुँचती हैं। यहाँ भेद सूचक केवल एक ही अवस्था-हवा का होना है; अन्य अवस्थाएँ उसी प्रकार हैं। अतः इसका निष्कर्ष यह है कि हवा की रुकावट ही एक कारण है जिसके रहने से पत्र अधिक देर से गिरा और पैसा जल्दी गिर गया। हमारी दैनिक अनुमान विधि में व्यतिरेक विधि अत्यन्त सहायक होती है। मान लो एक मनुष्य भूखा है, उसको भोजन मिल गया, उसकी क्षुधा शान्त हो गई। हम एक दियासलाई को बक्स से रगड़ते हैं और देखते हैं कि एक दम प्रकाश होकर आग उत्पन्न हो जाती है। सूर्योदय होता है और एकदम प्रकाश होता है और गरमी शुरू हो जाती है। सूर्यास्त होता है और अन्धकार छा जाता है। यदि कभी व्यतिरेक विधि का असावधानी से प्रयोग किया जाय तो 'इसके बाद ऐसा, अतः ऐसा हुआ' (Post hoc ergo propter hoc) अर्थात् काकतालीय दोष उत्पन्न हो जायगा। आकाश में पुच्छलतारे के उदित होने से किसी देश के राजा की मृत्यु हो सकती है किन्तु इससे हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि पुच्छल तारे का प्रकट होना राजा की मृत्यु का अवश्य कारण होगा। उसी प्रकार यदि एक मनुष्य किसी गाँव में से चला गया है और वहाँ चोरी होना बद हो गया है, इससे हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि अमुक व्यक्ति का गाँव से चला जाना चोरी के बद होने का कारण है मनुष्य का वहा रहना चोरी का कारण था। व्यावहारिक जीवन में ऐसे उदाहरणों को प्राप्त करने के लिये हमें प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर रहना पड़ता है किन्तु इस प्रकार की अवस्थाओं में हम व्यतिरेक-विधि से निश्चित निष्कर्षों को प्राप्त नहीं कर सकते। इस विधि की मुख्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमें प्रयोग द्वारा उदाहरणों की पूर्ति करनी होगी। इसमें कोई सशय नहीं कि व्यतिरेक-विधि प्रयोग विधि है क्योंकि इस विधि की आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमें प्रयोग द्वारा ही उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं। इस विधि की प्रधान आवश्यकता यह है कि दो उदाहरण, ठीक एक प्रकार के होने चाहिये सिवाय इसके कि एक उदाहरण में अनुसंधानगत पदार्थ या घटना विद्यमान रहती है और दूसरे उदाहरण में वह अविद्यमान रहती है। इस प्रकार प्राप्त किये हुए उदाहरण कठोर और निश्चित होते हैं। केवल एक

हम निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण लेते हैं :—

(१) क ख ग	क' ख' ग'	(२) ख ग	ख' ग'
ख ग	ख' ग'	क ख ग	क' ख' ग'

प्रथम उदाहरण में पूर्ववर्ती अवस्थाओं में से 'क' अलग कर दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क'' निष्कर्ष में से गायब हो गया है। द्वितीय उदाहरण में 'क' पूर्ववर्ती अवस्थाओं में जोड़ दिया गया है और उसका परिणाम यह है कि 'क'' उसमें से गायब नहीं हुआ है। इस प्रकार 'क' ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो पूर्ववर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। उसी प्रकार 'क'' ही केवल एक अवस्था है जिसमें दो उत्तरवर्ती अवस्थाओं के समूह भेद रखते हैं। दूसरी अवस्थायें सर्वथा समान हैं अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' 'क'' का कारण है।

इसके यथार्थ उदाहरण अधोलिखित हैं :—

(क) यदि हम एक हवा से भरे हुए घड़े में घंटी बजाते हैं तो घंटी की आवाज सुनाई देती है। यदि वही घंटी उस घड़े के अन्दर बजाई जाय जिसकी हवा निकाल दी गई है तो उसका शब्द सुनाई नहीं देता। अन्य अवस्थायें उसी प्रकार रहती हैं; इसलिये हवा का होना शब्द की उत्पत्ति का मुख्य कारण है।

(ख) जब किसी मनुष्य के हृदय में गोली मारी गई तब हम इस विधि के द्वारा यह जानते हैं कि उसकी मृत्यु गोली के लगने से हुई है क्योंकि गोली के लगने से पहले वह अच्छा स्वस्थ जीवन बिता रहा था केवल गोली लगने की चोट को छोड़कर अन्य सब अवस्थायें समान थीं। अब गोली का लगना उसकी मृत्यु का मुख्य कारण है।

पैसे और पंख का प्रयोग—जब किसी वायुयन्त्र के ग्राहक (Receiver) में हमने एक साथ पैसा और पंख छोड़ा। चूँकि वायु उसमें उपस्थित है इसलिये पंख पैसे की अपेक्षा देर में पहुँचता है। बाद में हम यन्त्र में से वायु निकाल देते हैं और पैसा और पंख एक साथ ही छोड़ते हैं तो हम देखते हैं कि दोनों चीजें एक साथ ही तल पर

है। नमक केवल एक अवस्था है, लेकिन अन्य भी अवस्थाएँ हैं जिनका भी हमें विचार करना चाहिये जिससे कि हम कारण के पूर्ण रूप का निश्चय कर सकें। इसी प्रकार जब हम एक जलती हुई दियासलाई किसी वस्तु में लगाते हैं तो उसमें आग लग जाती है। उसमें आग लगने पर मुख्य कारण केवल जलती हुई दिया सलाई ही नहीं है। मिल इस बात को स्वीकार करता है जब वह कहता है कि 'एक अवस्था जिसमें ही केवल दो उदाहरण भेद रखते हैं, कारण का एक आवश्यक भाग हो सकता है।

(६) व्यतिरेकान्वय की सम्मिलितविधि

मेलोन और कॉफी ने एक नयी विधि का प्रयोग किया है और उन्होंने इसका नाम व्यतिरेकान्वय-सम्मिलितविधि (Joint method of Difference and Agreement) रखा है। मेलोन ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार कहा है :—

'दो हुई हालतों के अन्दर जब एक पदार्थ या घटना दूसरों का, एकाकी भेद की विधि द्वारा कारण बतलाई जाती है और जब हम किसी उदाहरण को जानने और बनाने में असफल हो जाते है जहाँ एक पदार्थ या घटना पैदा हो जाती है और दूसरी नही होती, तब इस प्रकार की सम्भावना हो जाती है कि प्रथम, दूसरी की उपाधि-रहित अपरिवर्तनीय पूर्वावस्था है, अर्थात् दूसरी, बिना पहली के, पैदा ही नहीं हो सकती, तथा यह सम्भावना, निषेधात्मक उदाहरणों की सख्या और भिन्नता के कारण, जो कार्य और सशयित कारण दोनों की अविद्यमानता में समानता रखते हैं, बढ़ती ही जाती है।

यह विधि, एकाकी-व्यतिरेकविधि की पूर्व कल्पना करती है तथा इसको पूरा भी करती है। जब हम इसमें सफल होते हैं कि:—

(१) यदि क है तो क' है और।

(२) यदि क नहीं है तो क' नहीं है।

तो निश्चय पूर्वक हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि 'क' और 'क'' में कारणता का सम्बन्ध है। एकाकी-व्यतिरेक की विधि यह सिद्ध करती है

है क्योंकि अवस्थाएँ भी एक क्रम से विद्यमान रहती हैं वे सम्भव है, केवल आकस्मिक अवस्थायें ही हों। इसके अतिरिक्त यथार्थ कारण भिन्न भिन्न उदाहरणों में भिन्न हो सकता है। जहाँ तक व्यतिरेकविधि का सम्बन्ध है यह कारणबहुत्व के सिद्धान्त के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि प्रयोग द्वारा ज्ञात अवस्थाओं में कुछ नवीन वस्तु जोड़ दी जाय और उससे कुछ उत्पन्न भी हो जाय तो अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर, पहली अवस्था उत्तर अवस्था का अवश्य ही कारण गिनी जायगी। जहाँ तक इस उदाहरण का सम्बन्ध है उत्तर अवस्था का और कोई कारण नहीं हो सकता। लेकिन इससे यह कभी सिद्ध नहीं होता कि उत्तरवर्ती अवस्था का दूसरे उदाहरणों में अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। अतः व्यतिरेकविधि केवल यही सिद्ध कर सकती है कि एक खास पूर्ववर्ती अवस्था दिये हुए उदाहरण में कारण है लेकिन यह, यह सिद्ध नहीं कर सकती कि केवल यही कारण है या दूसरे उदाहरणों में अन्य कारण हो ही नहीं सकते। यह, यह तो सिद्ध करती है कि 'क' कारण है लेकिन यह, यह नहीं सिद्ध करती कि यही केवल कारण है इससे यही प्रतीत होता है कि व्यतिरेकविधि भी कारणबहुत्व के सिद्धान्त से पैदा होने वाले दोषों को पूर्ण रूप से दूर नहीं कर सकती।

(ग) व्यतिरेकविधि द्वारा हम कारण को अवस्था से भिन्न नहीं कर सकते।

व्यतिरेकविधि अन्य प्रकार से भी दोष पूर्ण है। माना कि ख ग घ' ग' को पैदा करता है 'क'को मिलाने से हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि यह 'क' का कारण है? यह हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते। यह हो सकता है 'क' का कारण ख और 'ग' के साथ मिलकर बन गया हो। अब हम नहीं कह सकते कि एक नयी वस्तु के मिलाने से अवश्य ही कोई नया परिवर्तन पैदा होगा। हो सकता है कि वह केवल एक अवस्था ही हो। उदाहरणार्थ, यदि एक तरकारी ज़ायकेदार न हो—उसमें ज़रा नमक डालने से वह ज़ायकेदार बन जाय। लेकिन इससे यह निश्चय नहीं निकलता कि सुन्दर ज़ायके का कारण केवल नमक

है। नमक केवल एक अवस्था है, लेकिन अन्य भी अवस्थाएँ हैं जिनका भी हमें विचार करना चाहिये जिससे कि हम कारण के पूर्ण रूप का निश्चय कर सकें। इसी प्रकार जब हम एक जलती हुई दियासलाई किसी वस्तु में लगाते हैं तो उसमें आग लग जाती है। उसमें आग लगने पर मुख्य कारण केवल जलती हुई दिया सलाई ही नहीं है। मिल इस बात को स्वीकार करता है जब वह कहता है कि 'एक अवस्था जिसमें ही केवल दो उदाहरण भेद रखते हैं, कारण का एक आवश्यक भाग हो सकता है।

(६) व्यतिरेकान्वय की सम्मिलितविधि

मेलोन और कॉपी ने एक नयी विधि का प्रयोग किया है और उन्होंने इसका नाम व्यतिरेकान्वय-सम्मिलितविधि (Joint method of Difference and Agreement) रखा है। मेलोन ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार कहा है :–

'दो हुई हालतों के अन्दर जब एक पदार्थ या घटना दूसरी का, एकाकी भेद की विधि द्वारा कारण बतलाई जाती है और जब हम किसी उदाहरण को जानने और बनाने में असफल हो जाते है जहाँ एक पदार्थ या घटना पैदा हो जाती है और दूसरी नहीं होती, तब इस प्रकार की सम्भावना हो जाती है कि प्रथम, दूसरी की उपाधि-रहित अपरिवर्तनीय पूर्वावस्था है, अर्थात् दूसरी, बिना पहली के, पैदा ही नहीं हो सकती, तथा यह सम्भावना, निषेधात्मक उदाहरणों की संख्या और भिन्नता के कारण, जो कार्य और सशयित कारण दोनों की अविद्यमानता में समानता रखते हैं, बढ़ती ही जाती है।

यह विधि, एकाकी-व्यतिरेकविधि की पूर्व कल्पना करती है तथा इसको पूरा भी करती है। जब हम इसमें सफल होते हैं कि.—

(१) यदि क है तो क' है और।

(२) यदि क नहीं है तो क' नहीं है।

तो निश्चय पूर्वक हम यह सिद्ध कर सकते है कि 'क' और 'क'' में कारणता का सम्बन्ध है। एकाकी-व्यतिरेक की विधि यह सिद्ध करती है

कि पहले मामले में 'क' 'ख' का कारण है। इसीलिए सिद्ध करने के लिये कि 'क' का 'ख' ही सम्भव कारण है यह आवश्यक है कि हम विभिन्न दिशाओं निषेधात्मक उदाहरणों में अनुसंधान किया जाय। विभिन्न-दिशा निषेधात्मक उदाहरण वे हैं जो अनुसंधान के उसी विभाग से संबंध रखते हैं। उदाहरण के लिये, यदि अनुसंधान क्षेत्र[1] रसायन शास्त्र है तो हमें निषेधात्मक और विध्यात्मक उदाहरणों की खोज रसायन-शास्त्र के विषय में ही करनी चाहिये। इस तरह यदि 'क' अविद्यमान है तो 'ख' भी अविद्यमान है—यह सिद्ध करके हमें चाहिये कि इस नियम के क्षेत्र को व्यापक सिद्ध कर दें। यह सम्मिलित व्यतिरेकान्वयविधि, एकाकी व्यतिरेक विधि की स्वतन्त्र रूप से निषेधात्मक उदाहरणों की खोज करके पूर्ति करती है। व्यतिरेक या भेद का सम्बन्ध कारणता-सम्बन्ध से है जिसको विध्यात्मक उदाहरण में प्रयोग द्वारा निश्चित किया जाता है तथा अन्वय का सम्बन्ध, परीक्षा किये हुए उन निषेधात्मक उदाहरणों में, अनुपस्थित कारण के साथ साथ कार्य की अविद्यमानता से जाना जाता है।

जैसे द्विगुणित अन्वयविधि एकाकी अन्वय-विधि की पूर्ति करती है उसी प्रकार यह सम्मिलित व्यतिरेकान्वय विधि भी एकाकी व्यतिरेक विधि की पूर्ति करती है। द्विगुणितविधि और सम्मिलित विधि के बीच में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम विधि में विध्यात्मक और निषेधात्मक उदाहरण प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त किये जाते हैं तथा द्वितीय विधि में वे प्रयोग द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। सम्मिलित व्यतिरेकान्वय विधि में निषेधात्मक उदाहरणों को बनाना पड़ता है अर्थात् उनको प्रयोग के द्वारा इस प्रकार प्राप्त किया जाता है कि कार्य, उनमें से किसी में उत्पन्न नहीं हो सकता।

(१) सहगामि-विचरण-विधि—

इस विधि का उपयोग उन उदाहरणों में किया जाता है जिनमें कारण का पृथक् करना सम्भव नहीं है। जैसे, कारणों के नित्य नियम में

(1) Field of investigation.

अथवा ध्रुव प्राकृतिक कर्ताओं में यह सम्भव नहीं है कि हम उनमें से कारणों को प्रथक् कर सकें। ताप, आकर्षण-शक्ति, रगड़ आदि को हम एक शरीर से अलग नहीं कर सकते किन्तु परिणाम मे हम उनको घटा, बढा सकते हैं और इस प्रकार घटाने और बढ़ाने से उत्पन्न होने वाले कार्यों को हम देख सकते हैं। यह विधि इस विश्वास पर अवलम्बित है कि कारण की शक्ति कार्य की शक्ति के बराबर होती है। अर्थात् एक में घटाव या बढाव से उसी के अनुसार दूसरे में घटाव या बढाव होता है। इस विधि के द्वारा हम कारण और कार्य के मध्य परिमाण-सम्बन्ध कायम कर सकते है। मिल महोदय इस विधि का वर्णन इस प्रकार करते हैं.—

"जब कोई पदार्थ या घटना किसी प्रकार से परिवर्तन को प्राप्त होती है और दूसरा पदार्थ या घटना किसी खास रूप में परिवर्तित होती है, तब वह या तो कारण हैं या उस पदार्थ या घटना का कार्य है या किसी कारणता सम्बन्ध से उसके साथ अनुविद्ध है।"

यह विधि इस सिद्धान्त की प्रतिपादिका है कि कारण और कार्य शक्ति की अपेक्षा से परिमाण में एक होते हैं और जब एक में घटाव या बढाव होता है तब उसी के अनुरूप अन्य में भी घटाव या बढाव होता है। इस प्रकार जब दो पदार्थ या घटनाएँ हमेशा सदृश परिवर्तन दिखलाती हैं तब हमको कहना पड़ता है कि वे आपस में कार्यकारणभाव से सम्बन्धित हैं। इन दो घटनाओं या पदार्थों मे एक पूर्ववर्ती अवस्था है और दूसरी उत्तर-वर्ती अवस्था है। यदि वे दोनों परिवर्तित होती हैं तब पूर्ववर्ती अवस्था उत्तर वर्ती अवस्था का कारण होती हैं। सहगामि-विचरण-विधि को साक्षात्-परिवतन भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें पूर्ववर्ती अवस्था और उत्तरवर्ती-अवस्था उसी दिशा मे परिवर्तित होती हैं, अर्थात् वे एक साथ उठती हैं और एक साथ गिरती है। अथवा वे विपरीत-सम्बन्ध में परिवर्तित होती हैं जिसमें पूर्ववर्ती अवस्था और उत्तरवर्ती अवस्था विरुद्ध दिशाओं में परिवर्तित होती हैं अर्थात् एक में वृद्धि होने से अन्य में हानि होती है, और एक में हानि होने से अन्य में वृद्धि होती है।

इसका बीजात्मक उदाहरण निम्नलिखित है —

$क_१$ ख ग	क' ख' ग'
$क_१$ ख घ	क' ख' ग'
$क_१$ ख ग	क' ख' ग'

क कारण "क" का है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि दो पदार्थ या अवस्थाएँ एक साथ परिवर्तन या विचरण कर रही हैं। जब पूर्ववर्ती अवस्था में 'क' परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है तब उत्तरवर्ती अवस्था में भी 'क' परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है। अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' 'क' का कारण है या दोनों आपस में कारणता संबंध से सम्बन्धित हैं। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि सहभावी अवस्थाएँ ख, ग वही हैं। अतः यह उदाहरण यह बतलाता है कि सहगामि-विचरण-विधि व्यतिरेक विधि का एक खास रूप है। उदाहरण, 'क' के सहगामि-परिवर्तन को पूर्ववर्ती अवस्थाओं में छोड़कर और 'क' के सहगामि-परिवर्तन को उत्तरवर्ती अवस्थाओं में छोड़कर अन्य अवस्थाएं में परिवर्तित नहीं होते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट और निश्चित है कि जब उदाहरण केवल प्रयोग द्वारा प्राप्त होते हैं तब अन्य अवस्थाएँ इसी प्रकार की होती हैं।

कारवेथ रीड ने सहगामि-विचारण-विधि का एक और रूप बतलाया है जिसमें साथ रहनेवाली अवस्थाएँ वही नहीं होतीं; किन्तु भिन्न होती हैं। निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण द्वारा हम इस रूप को स्पष्ट करते हैं —

$क_१$ ख ग	$क_१$ ख' ग'
$क_१$ प क'	$क_१$ ख' ग'
$क_१$ प ह	$क_१$ ख' ग'

क कारण क' का है।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि साथ रहनेवाली अवस्थाएँ एक उदाहरण से दूसरे उदाहरण तक बदलती जा रही हैं। केवल एक अवस्था है जिसमें यह दिखलाया गया है कि 'क' में भी वृद्धि रूप परिवर्तन होने से 'क' में भी वृद्धि रूप परिवर्तन हो रहा है। इस प्रकार की समानता है

हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' कारण 'फ'' का है। यह ठीक है कि इस उदाहरण में सहगामि-विचरण-विधि अन्वयविधि का विशेष रूप है और जो अपूर्णताएँ अन्वयविधि में विद्यमान हैं वे इसमें भी विद्यमान हैं। इस प्रकार सहगामि-विचरण-विधि या तो व्यतिरेक-विधि का या अन्वय-विधि का विशेष रूप है, जब हम देखते हैं कि साथ रहनेवाली अवस्थाएँ वहीं हैं या भिन्न हैं। पहली हालत में तो यह प्रयोग-विधि है और दूसरी अवस्था में यह प्रत्यक्षीकरण की विधि है।

इस विधि के निम्नलिखित यथार्थ उदाहरण हैं :—

(क) हम एक थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र) को लेते हैं। उसमें हम देखते हैं कि गर्मी के बढ़ने से पारा भी बढ़ जाता है। इससे हम अन्दाज़ा लगाते हैं कि पारे के बढ़ने का कारण ताप है।

(ख) पेसकाल (Pascal) ने यह सिद्ध किया कि सहगामि-विचरण-विधि से हम जानते हैं कि किसी बेरोमीटर में पारे की ऊँचाई वायु-मण्डल के भार पर निर्भर रहती है। वह एक पहाड़ पर चढ़ गया और ज्योंही वह अधिक ऊँचा चढ़ता चला गया वायुमंडल का भार भी कम होता गया। ज्योंही उसने देखा कि वायुमंडल का भार कम होता चला जा रहा है पारे की ऊँचाई भी बेरोमीटर में उसी अनुपात से कम होती चली जा रही है। इसलिये उसने यह निष्कर्ष निकाला कि वायुमंडल का भार ही पारे के बढ़ाव का कारण था।

(ग) ऑलबर्ट महान ने इस विधि के द्वारा चन्द्रमा और ज्वारभाटे के मध्य कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया था। उसने देखा कि चन्द्रमा की आकृति के परिवर्तन ज्वारभाटा के परिवर्तन के साथ-साथ होते हैं और निष्कर्ष निकाला कि इन दोनों में कारणता का सम्बन्ध है।

(घ) यह देखा जाता है कि गेहूँ के उत्पादन में कमी होने के कारण गेहूँ की कीमत बढ़ जाती है और जब गेहूँ का उत्पादन अधिक होता है तो गेहूँ की कीमत घट जाती है। इस प्रकार के मूल्यों के आँकड़े, लेने पर हम यह अनुमान लगा लेते हैं कि इन दोनों में आपस में कारणता का सम्बन्ध है। क्योंकि ज्योंही आमद बढ़ती है त्योंही माँग घटती जाती

है और विपरीत रूप में भी ऐसा ही होता है। इस सम्बन्ध को, जो प्रमन्द और माँग में पाया जाता है, व्यस्तानुपात (Inverse ratio) कहते हैं।

(११) सहगामि-विचरण-विधि की विशेषताएँ।

सहगामि-विचरण-विधि की मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ पूर्ण प्रथक्-करण सम्भव नहीं है वहाँ भी इसका उपयोग किया जा सकता है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनको पूर्ण रूप में अलग नहीं किया जा सकता। ये अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनको मिल के शब्दों में नित्य कारण (Permanent cause) कहा जा सकता है, जैसे ताप आकर्षण-शक्ति, वायु मंडल का दबाव, प्रकाश, विद्युत् का असर, चुम्बक का असर, इत्यादि। हम किसी पदार्थ में से ताप को सर्वथा अलग नहीं कर सकते—कारण का स्वरूप ही ऐसा है कि इस प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिल सकता जिसमें आकर्षण-शक्ति या वायुमंडल का दबाव सर्वथा अविद्यमान हो। यद्यपि इन नित्य कारणों को सर्वथा अलग करना असम्भव है तथापि वे मात्राओं में परिवर्तित होते रहते हैं और इसलिए हम उनको आंशिक रूप से अलग कर सकते हैं। हम पदार्थों से सर्वथा तो दूर नहा पा सकते किन्तु वे अधिक या कम परिमाण में प्रतीत होते हैं। सहगामि विचरण-विधि इन नित्य कारणों के उदाहरणों में कारणता सम्बन्ध को निश्चित करने के लिये विशेष रूप से प्रयोग की जाती है। इन नित्यकारणों को सर्वथा प्रथक् नहीं किया जा सकता किन्तु आंशिक रूप से अलग किया जा सकता है क्योंकि ये परिवर्तित मात्राओं में प्रकट होते हुए प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ हम ऐसे उदाहरण लेते हैं जिनमें अनुसंधान-गत पदार्थ मात्राओं में परिवर्तित प्रतीत होते हैं और जब हम देखते हैं कि अन्य पदार्थों में भी समान रूप से परिवर्तन दिखाई देता है तब हम निष्कर्ष निकालते हैं कि इनमें आपस में कारणता का सम्बन्ध है। व्यतिरेक विधि का तो केवल वहाँ प्रयोग होता है जहाँ पूर्ण रूप से प्रथक्-करण सम्भव हो अर्थात् अनुसंधानगत पदार्थ एक उदाहरण में विद्यमान हो और दूसरे उदाहरणों में सर्वथा अविद्यमान हो। अतः सहगामि-विचरण-विधि का केवल

उन्हीं उदाहरणों में प्रयोग किया जाता है जहाँ व्यतिरेक विधि का प्रयोग नहीं हो सकता।

उक्त विधि का सुचित्रित रूप निम्नलिखित है —

हम एक ग्राफ लेते हैं जिसमें एक पदार्थ या घटना को हम तिर्यक् रेखा (Horizontal line) से दिखलाते हैं जो कई स्थानों पर कटी हुई है तथा अन्य घटनाओं का स्पष्टीकरण उर्ध्व रेखाओं से बतलाया गया है जो भिन्न भिन्न लम्बाई रखती है। ये उर्ध्व रेखाएँ तिर्यक् रेखा पर भिन्न-भिन्न विन्दुओं से खींची गई हैं और उनको क्रम से बढ़ते हुए दिखलाया गया है। जैसे,

ताप की मात्राएँ

इस चित्र में तिर्यक् रेखा ताप की मात्राओं को बतलाती है तथा कई विन्दु, जिन पर इसको विभाजित किया जाता है, ताप की मात्रा में वृद्धि को जाहिर करते हैं। तथा उर्ध्व रेखाएँ (Perpendicular lines) पारे के आयतन को स्पष्ट करती हैं। ज्यों ही ताप की मात्रा बढ़ती है त्यों ही बेरोमीटर में पारे का आयतन भी बढ़ता जाता है।

(१२) सहगामि-विचरण-विधि की सीमाएँ

सहगामि-विचरण विधि की निम्नलिखित सीमाएँ हैं :—

(१) सहगामि-विचरण-विधि का, प्रत्यक्षीकरण द्वारा देखे हुए पदार्थों के परे प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस विधि के अनुसार हम इस प्रकार तर्क करते हैं कि जब दो पदार्थ या घटनाएँ एक साथ परिवर्तन

है और विपरीत रूप में भी ऐसा ही होता है। इस सम्बन्ध को, जो प्रामद और माँग में पाया जाता है व्यस्तानुपात (Inverse ratio) कहते हैं।

(११) सहगामि-विचरण-विधि की विशेषताएँ।

सहगामि-विचरण विधि की मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ पूर्ण प्रथक्-करण सम्भव नहीं है वहाँ भी इसका उपयोग किया जा सकता है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनको पूर्ण रूप में अलग नहीं किया जा सकता। ये अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनको मिल के शब्दों में नित्य कारण (Permanent cause) कहा जा सकता है जैसे, ताप आकर्षण-शक्ति, वायु मंडल का दबाव, प्रकाश, विद्युत् का असर, चुम्बक का असर, इत्यादि। हम किसी पदार्थ में से ताप को सर्वथा अलग नहीं कर सकते—कारण का स्वरूप ही ऐसा है कि इस प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिल सकता जिसमें आकर्षण-शक्ति या वायुमंडल का दबाव सर्वथा अविद्यमान हो। यद्यपि इन नित्य कारणों को सर्वथा अलग करना असंभव है तथापि वे मात्राओं में परिवर्तित होते रहते हैं और इसलिए हम उनको आंशिक रूप से अलग कर सकते हैं। हम पदार्थों से सर्वथा ही छुटकारा नहीं पा सकते किन्तु वे अधिक या कम परिमाण में प्रतीत होते हैं। सहगामि-विचरण-विधि इन नित्य कारणों के उदाहरणों में, कारणता सम्बन्ध को निश्चित करने के लिए, विशेष रूप से प्रयोग की जाती है। इन नित्यकारणों को सर्वथा प्रथक् नहीं किया जा सकता किन्तु आंशिक रूप से अलग किया जा सकता है क्योंकि वे परिवर्तित मात्राओं में प्रकट होते हुए प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ हम ऐसे उदाहरण लेते हैं जिनमें अनुसन्धान-गत पदार्थ मात्राओं में परिवर्तित प्रतीत होते हैं और जब हम देखते हैं कि अन्य पदार्थों में भी समान रूप से परिवर्तन दिखाई देता है तब हम निष्कर्ष निकालते हैं कि इनमें आपस में कारणता का सम्बन्ध है। व्यतिरेक विधि का तो केवल वहाँ प्रयोग होता है जहाँ पूर्ण रूप से प्रथक्-करण सम्भव हो अर्थात् अनुसन्धानगत पदार्थ एक उदाहरण में विद्यमान हो और दूसरे उदाहरणों में सर्वथा अविद्यमान हो। अतः सहगामि-विचरण-विधि का केवल

विशेषानुमानीयविधि का प्रयोग कर सकते हैं जिसका स्वरूप इस प्रकार का है।

"किसी दिये हुए पदार्थ या घटना में से उस भाग को निकाल दो जो पहले सामान्यानुमान के आधार पर कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाओं का निष्कर्ष या परिणाम समझा गया है, तो पदार्थों या घटनाओं का अवशेष भाग, अवश्य ही अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्थाओं का कार्य होगा"

इसका हम बीजात्मक उदाहरण देते हैं.—

क ख ग	क' ख' ग'
ख ग	ख' ग' (क्योंकि हमें मालूम है कि ख, ख' का कारण है और ग, ग' का कारण है)

∴ 'क' कारण 'क'' का है।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि मिश्र घटना क' ख' ग', क ख ग से उत्पन्न हुई है। हम पहले सामान्यानुमानों से यह भली भाँति जानते हैं कि ख, ख' का कारण है और ग, ग' का कारण है। हिसाब करके हम यह निश्चित करते हैं कि ख ग, ख' ग' का कारण है। दिये हुए पदार्थ या घटना का अवशेष भाग 'क' है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अवशिष्ट 'क'' अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्था 'क' का कार्य है।

इसके यथार्थ उदाहरण निम्नलिखित है :—

(क) हम एक बोझे से लदी हुई गाड़ी को लेकर तौलते हैं। हम गाड़ी के वज़न को पहले ही से जानते हैं। गाड़ी के भार को समग्र भार से निकाल कर अर्थात् गाड़ी और बोझ दोनों के भार से गाड़ी के भार को अलग कर हम निष्कर्ष निकालते हैं कि वज़न के भेद का कारण बोझ का भार है।

(ख) जेवेन्स महोदय ने यह उदाहरण दिया है। रासायनिक विश्लेषण प्रक्रिया में जब पदार्थ मिश्रित रहते हैं तब आनुपातिक भार को निश्चित करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जल के बनाने को निश्चित करने के लिये हम एक ताँबे के द्रव्य (Oxide of

की प्राप्त होती हैं तब हम उन्हें कारणता के सम्बन्ध से अनुबिद्ध मानते हैं। किन्तु इससे हम यह कभी अनुमान नहीं करते कि यह परिवर्तन हमारे प्रत्यक्षीकरण की सीमा से बाहर भी चला जायगा। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि ताप के प्रभाव के कारण कुछ उदाहरणों में पानी फैलता है और शीत के प्रभाव के कारण घटता है। ज्यों ही ताप गहरा होता जाता है, पानी भी आयतन में बढ़ता जाता है और ज्यों ही ताप कम होता जाता है, पानी भी सिकुड़ता जाता है। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि ये परिवर्तन सब मात्राओं में ठीक ही बैठते हैं। बल्कि प्रयोग के आधार पर यह निश्चित किया गया है कि पानी सिकुड़ने की अपेक्षा बढ़ता जाता है जब यह एक खास तापमान अर्थात् ३९.४ F, से नीचे गिर जाता है। इस लिये सहगामि-विपरण-विधि, एक खास प्रत्यक्षीकरण द्वारा ज्ञात सीमा से परे कारणता का ज्ञान नहीं दे सकती।

(२) सहगामि-विपरण-विधि उन उदाहरणों में भी कामकारी सिद्ध नहीं होती जिनमें गुणों का परिवर्तन होता है। इस विधि का उपयोग वहीं किया जाता है जहाँ परिमाणात्मक परिवर्तन देखे जाते हैं अर्थात् जब दो पदार्थ या घटनाएँ मात्राओं में परिवर्तित होती हैं। यदि इसमें गुण का परिवर्तन देखने में आता है तो इसका अर्थ यह है इसमें एक नई अवस्था का प्रवेश कर दिया गया है और यह विधि उसको सिद्ध नहीं कर सकती।

(१३) अवशेष-विधि

पाँचवीं विधि अवशेष-विधि (Method of Residues) कही जाती है। जब एक भिन्न अनुक्रम की उत्तरवर्ती अवस्थाओं में किसी के साथ कारणता का सम्बन्ध निश्चित हो चुका है तब हम इस विधि का प्रयोग करके सिद्ध कर सकते हैं कि अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्थाएँ अवशिष्ट उत्तरवर्ती अवस्थाओं के कारण हैं। यदि पहले का, निकाला हुआ निष्कर्ष विश्वसनीय है तो यह विधि अच्छी सिद्धि प्राप्त करा सकती है। कुछ मामलों में जहाँ हम न तो व्यतिरेक विधि का प्रयोग कर सकते हैं और न वहाँ सहगामि-विपरण-विधि का प्रयोग कर सकते हैं वहाँ हम इस

मान लो एक मिश्र पदार्थ या घटना है जिसके एक भाग की व्याख्या हो चुकी है किन्तु इसके अन्य भाग की व्याख्या अभी तक नहीं हुई है। हमें इस अव्याख्यात भाग या अवशिष्ट भाग का कारण नहीं मालूम है। इसको जानने के लिये हम अधिक अन्वेषण करते है और कारण को जानने में सफल होते हैं। इस प्रकार यह विधि मेलोन के शब्दों मे अव्याख्यात पदार्थ या घटनाओं के लिये मार्गदर्शक स्थम्भ (Finger-post) का कार्य करती है। इस सिद्धान्त के इस प्रकार प्रयोग करने से अवशेष-विधि, सिद्धि की अपेक्षा खोज की विधि ठहरती है। यह प्राक् कल्पनाओं का स्रोत है, उनकी परीक्षा और समर्थन का कारण नहीं है। निम्नलिखित यथार्थ उदाहरण अवशेष विधि पर अधिक प्रकाश डालते है :—

आर्गन का आविष्कार—लार्ड रैले (Rayleigh) और प्रो सर डवल्यू रेमजे (W. Ramsay) ने इस विधि से एक गैस की खोज की जिसका नाम आर्गन है। उन्होंने यह देखा कि नाइट्रोजन जिसको वायु से पैदा किया जाता है वह अन्य कारणों से उत्पन्न हुए नाइट्रोजन की अपेक्षा अधिक भारी होता है। इस अन्तर के कारण को खोजने के लिये उन्होंने पता लगाया कि वायु से उत्पन्न होनेवाले नाइट्रोजन में कोई अन्य गैस मिला हुआ है जिसके कारण भार में अन्तर होता है। उस गैस का उनको सर्वथा ज्ञान नहीं था। अत. इस बात की खोज की गई कि यह नवीन गैस आर्गन है जिसके कारण भार में अन्तर हुआ था।

नेपच्यून ग्रह की खोज :— महाशय आदम्स (Adams) और लेवेरिअर (Le Verrier) ने नेपच्यून ग्रह की इसी विधि से खोज की थी। यह देखा गया कि यूरेनस ग्रह अपनी गति में कुछ विचित्रताएँ दिखला रहा है—अर्थात् वह अपनी कक्षा से कुछ हटा हुआ प्रतीत हुआ, जो गणित की विधि से नहीं होना चाहिये था। सूर्य तथा अन्य ग्रहों के प्रभाव को अच्छी तरह परिगणित कर लेने पर यह पता लगा कि यूरेनस परिगणित कक्षा पर गमन नहीं कर रहा है। इससे उसकी गति के अन्तर की खोज की गई और पता लगाया गया कि इसका निश्चित कक्षा से बाहर गमन करना किसी अन्य ग्रह की चाल के कारण

copper) के मार को लेते हैं और एक गरम नली में, इसके ऊपर से हॉइड्रोजन निकाल देते हैं और एक गन्धक के तेज़ाब से भरी हुई नली में बने हुए पानी को जमाकर देखते हैं। यदि हम भरी हुई नली में से शुरू के भार को आखिर भार में से निकाल दें तो हम जान सकते हैं कि कितना पानी पैदा किया गया है। इसके अन्दर ऑक्सिजन के परिमाण का तांबे के द्रव्य के भार को मूल भार में से निकाल कर पता लगाया गया है। यदि हम ऑक्सिजन के भार को पानी के भार में से अलग कर दें तो हमें हॉइड्रोजन जिसको हमने ऑक्सिजन के साथ मिला दिया है, भार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। तथा जब प्रयोग अच्छी तरह किया जाता है तब हम देखते हैं कि शत प्रतिशत जल बनाने के लिये ४४.४१ भाग, ऑक्सीजन को ११.११ भाग हॉइड्रोजन के साथ मिलना आवश्यक होता है।

यह विधि इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि जो एक वस्तु का कारण है वह दूसरी वस्तु का कारण नहीं हो सकता।

जब हम किसी पदार्थों के मिश्र समूह से व्यवहार कर रहे हैं और हम उनमें से कुछ के कारण जानते हैं तब हम निष्कर्ष निकालते हैं कि अवशेष या अवशिष्ट पदार्थ का कारण अवश्य ही अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्थाओं में मिलना चाहिये। कारवेथ रीड महोदय बतलाते हैं कि इस सिद्धान्त में यदि पदार्थ या घटना को कार्य माना गया है तो अवशिष्ट कारणों के लिये उसी प्रकार का सिद्धान्त बनाना चाहिये कभी-कभी इस विधि को कुछ भिन्न रूप में उपस्थित किया जाता है। बजाय इसके कि अवशिष्ट उत्तर वर्ती अवस्थाओं की पूर्ववर्ती अवस्थाओं का परिणाम बतलाया जाय हम पदार्थ में अभावात्मक तत्त्व के विद्यमान होने से इसके अज्ञात कारण को खोजते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये मिलीन महोदय ने निम्न लिखित नियम बतलाया है :—

"जब किसी मिश्र पदार्थ या घटना के एक भाग की व्याख्या निश्चित कारणों द्वारा नहीं हुई है, तब उस अवशिष्ट भाग के लिये कोई अन्य कारण अवश्य खोजना चाहिये।"

उदाहरणों के समूह भेद रखते हैं। दोनों विधियों में अन्तर यह है कि व्यतिरेक विधि में, वह उदाहरण जिसमें अवस्था नहीं उत्पन्न होती है उसे अनुभव देता है, तथा अवशेष विधि में उदाहरण, पूर्व समान्यानुमान से उपलब्ध विशेषानुमान से लिया जाता है। व्यतिरेक विधि, इसमें कोई संशय नहीं, सर्वोत्कृष्ट सामान्यानुमानीय विधि है। तथा अवशेष-विधि में विशेषानुमान का कुछ तत्व दिखाई देता है।

(१५) उपर्युक्त पाँच विधिओं का परस्पर सम्बन्ध

कारणता-सम्बन्ध के परिणाम के लिये मिल महोदय ने ५ विधियाँ स्थापित कीं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) अन्वय-विधि।

(२) व्यतिरेक-विधि।

(३) सम्मिलित-अन्वय-विधि।

(४) सहगामि-विचरण विधि।

(५) अवशेष-विधि।

इन पाँचों विधियों मे से अन्वय और व्यतिरेक इन दो विधियों को मिल ने मौलिक विधियाँ माना है तथा अन्य विधियाँ इन्हीं दो विधियों के विशेष रूप हैं।

जैसे, सम्मिलित-विधि कोई स्वतन्त्र-विधि नहीं है किन्तु अन्वय-विधि का ही एक विशेष रूप है। यह हम देख चुके हैं कि अन्वय विधि कारण बहुत्व के सिद्धान्त से खण्डित होती है और इस दिक्कत को दूर करने के लिये हम सम्मिलित-विधि का प्रयोग करते हैं। यह सम्मिलित-विधि अन्वय-विधि का द्विगुणित प्रयोग है क्योंकि इसके अन्दर हम उदाहरणों के दो समूह लेते हैं—एक में हम विद्यमानता में समानता दिखलाते हैं तथा दूसरे में अविद्यमानता में समानता दिखलाते हैं। इसी कारण से सम्मिलित विधि को ठीक प्रकार से द्विगुणित अन्वय-विधि कहा गया है। इस सम्मिलित-विधि को हमें व्यतिरेक-विधि के साथ गड़बड़ में नहीं डालना चाहिये।

जहाँ तक सहगामि-विचरण-विधि का सम्बन्ध है हम उसको अवस्थाओं के अनुसार अन्वय विधि का एक खास विशिष्ट रूप मान सकते हैं या

है जो इस पर अपना प्रभाव डाल रहा है और जिसको हम तब तक नहीं जानते थे। इस अपरिचित ग्रह का नाम नेपच्यून था जिसकी इस विधि से खोज हुई।

(१४) अवशेष-विधि की विशेषताएँ

इस विधि की विशेषता यह है कि इसका प्रयोग हम तभी कर सकते जब हमारा कारणता-विषयक ज्ञान कुछ अधिक हो जाय। अर्थात् जब हमने सामान्यानुमानीय प्रक्रिया में कुछ विशेष उन्नति कर ली हो और कारणता के कुछ उदाहरणों को सिद्ध कर लिया हो। तथा जब हमने किसी पदार्थ या घटना के कारणों को बहुत अंशों में जान लिया हो और उनके ज्ञान में कुछ कमी या अधिकता या व्यतिक्रम अनुभव में आता हो तब भी हम इस विधि को प्रयोग में ला सकते हैं।

अवशेष-विधि में हमें कुछ विशेषानुमान का तत्त्व छुपा हुआ प्रतीत होता है। इसके अन्दर प्रत्यक्षीकरण भी कुछ कर सकता है वह यह है कि कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाओं के पश्चात् उत्तरवर्ती अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। इसके पश्चात गणना या विशेषानुमान की प्रक्रिया आरम्भ होती है। हम परिज्ञात कारणों के कार्यों की गणना कर डालते हैं और पूरे कार्य में से इस परिगणित कार्य को निकाल देते हैं। इस प्रकार अवशिष्ट उत्तरवर्ती अवस्था अवशिष्ट पूर्ववर्ती अवस्था का कार्य प्रतीत होती है। इस विधि में साक्षात् अनुभव इतना कार्य-कारी नहीं होता जितनी गणना या विशेषा नुमान कार्यकारी होता है। यही हेतु है कि तार्किक लोग अवशेष-विधि को विशेषरूप से विशेषानुमान की ही विधि मानते हैं।

कुछ तार्किकों का कहना है कि अवशेष-विधि को व्यतिरेक-विधि का ही एक विशेष रूप मानना चाहिये। क्योंकि, यदि विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि दोनों के अन्दर सिद्धान्त वही प्रहण किया गया है; अर्थात् यदि वे उदाहरण लिये जाँय जो केवल एक अवस्था में भेद रखते हैं जो एक उदाहरण में विद्यमान हैं और दूसरे उदाहरण में अविद्यमान हैं तब, वह अवस्था जिसमें केवल दो उदाहरणों के समूह भेद रखते हैं दूसरी अवस्था का कारण हैं जिसमें ही केवल वो

एक वस्तु के ही दो रूप हैं। यदि दो वस्तुएँ एक बात में समान हैं तो इसका अर्थ यह है कि वे अन्य बातों में भेद रखती है। अन्वय और व्यतिरेक दोनों साथ साथ रहते हैं और दोनों एक समान मौलिक हैं। एक को दूसरे में अन्तर्भूत करना सर्वथा निरर्थक है। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अन्वय-विधि और व्यतिरेक-विधि दोनों ही मौलिक हैं तथा अन्य तीन विधियाँ इनके ही विशिष्ट रूप हैं।

(१६) प्रत्यक्षीकरण की विधियाँ तथा प्रयोग की विधियाँ

क्या हमारे लिये यह सम्भव है कि हम इन विधियों का इस प्रकार विभाजन करें कि अमुक विधियाँ प्रत्यक्षीकरण की है और अमुक विधियाँ प्रयोग की हैं?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन विधियों को हम इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण की विधियो और प्रयोग की विधियों में विभाजित नहीं कर सकते। क्योंकि इस प्रकार का विभाग इस बात का द्योतक होगा कि वास्तव में प्रत्यक्षीकरण और प्रयोग में मौलिक भेद है—लेकिन यह दिखलाया जा चुका है कि दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। प्रयोग केवल प्रत्यक्षीकरण का ही विशिष्ट रूप है।

अन्वयविधि आवश्यक रूप से प्रत्यक्षीकरण की ही विधि है क्योंकि जिस प्रकार के उदाहरणों की इसमें आवश्यकता होती है वे प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही प्राप्त किये जाते हैं। यदि प्रत्यक्षीकरण इस विधि के उदाहरणों को दे सकता है तो प्रयोग को तो इस प्रकार के उदाहरण देने में कोई दिक्कत पैदा हो ही नहीं सकती। जब हम यह कहते हैं कि यह मुख्य रूप से प्रत्यक्षीकरण की विधि है तब हमारा मतलब यह नहीं है कि यह प्रयोग से अपने विषय को प्राप्त नहीं कर सकती किन्तु हमारा अभिप्राय यह है कि यदि हम प्रयोग को काम में ला सकते हैं तो हमे विधियों की भी सहायता लेनी चाहिये (जैसे कि व्यतिरेक विधि,) जिससे हम अत्यधिक बलवान निष्कर्ष निकाल सकें।

व्यतिरेक-विधि वास्तव में प्रायोगिक विधि है। इस विधि को हम

व्यतिरेक-विधि का एक खास विशिष्ट रूप मान सकते हैं। यदि अन्य सब दशाएँ सही हों तो हमें इसको व्यतिरेक-विधि का विशेष रूप मानना पड़ेगा और यदि अन्य अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हों तो हमें इसको अन्तर विधि का विस्तार रूप मानना पड़ेगा।

मिल महोदय के अनुसार अपरोक्ष-विधि, वास्तव में, व्यतिरेक-विधि का एक विशिष्ट रूप है। सिद्धान्त दोनों में एक ही है केवल भेद निषेधात्मक उदाहरण के प्राप्त करने के तरीके में है। व्यतिरेक-विधि में निषेधात्मक उदाहरण जिनमें परीक्षागत पदार्थ या घटना नहीं उत्पन्न हुई है प्रयोग से प्राप्त किये जाते हैं तथा अपरोक्ष विधि में निषेधात्मक उदाहरण एक सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त विशेषानुमान द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।

अन्वय-विधि और व्यतिरेक-विधि इन दोनों में मिल महोदय के अनुसार व्यतिरेक-विधि अधिक मौलिक है क्योंकि अन्वयविधि तो कारणता सम्बन्ध की केवल सूचना देती है तथा व्यतिरेक-विधि केवल कारणता सम्बन्ध को सिद्ध करती है।

कारवेथ रीड का विचार यह है कि अन्वयविधि को व्यतिरेक-विधि में सम्मिलित किया जाता है क्योंकि अन्वय विधि की प्रामाणिकता, एक उदाहरण के बाद दूसरे उदाहरण में अन्य सब अवस्थाओं के त्याग पर निर्भर है जो त्याग, व्यतिरेक का मुख्य चिह्न है। अन्वय विधि में उदाहरण केवल एक बात में समान दिखाई देते हैं तथा अन्य बातों में उनमें भेद दिखलाई देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि हम अन्वयविधि को व्यतिरेक-विधि में परिवर्तित कर सकते हैं क्योंकि व्यतिरेक-विधि उन विधियों में अत्यधिक मौलिक है।

कुछ तार्किकों के विचारानुसार किसी अर्थ में व्यतिरेक-विधि को भी अन्वयविधि में अन्तर्भूत किया जा सकता है। व्यतिरेक-विधि के लिए केवल यही आवश्यकता है कि दो उदाहरण एक बात में भेद रखते हों और अन्य बातों में समानता रखते हों। अतः व्यतिरेक-विधि के पहले अन्वयविधि का होना आवश्यक सा प्रतीत होता है।

यथार्थ में देखा जाय तो यही मालूम पड़ता है कि अन्वय और व्यतिरेक

की सर्वोत्कृष्ट विधि है। सम्मिलित-विधि को हम अनुसधान की विधि की अपेक्षा सिद्धि की विधि ही कह सकते हैं। इसका प्रयोग, हम विशेष रूप से कारण बहुत्व से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिये जिससे अन्वय विधि निरर्थक सिद्ध होती है, करते हैं। अत. इसके द्वारा हम निषेधात्मक उदाहरणों के समूह को लेकर अन्यव-विधि के द्वारा अनुमानित कारण की परीक्षा कर सकते हैं।

सहगामि-विचारण-विधि अनुसंधान के लिये अत्यन्त उपयोगी है। जब दो पदार्थ एक साथ परिवर्तन को प्राप्त होते हैं तब यह एक हमारे मस्तिष्क के लिये सूचना देती है कि उन दोनों में परस्पर कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है। जब यह व्यक्तिरेक विधि का ही विशेष रूप मानी जाती है तब यह सूचना सत्य सिद्ध होती है और जब यह अन्वय-विधि का विशेष रूप मानी जाती है तब निष्कर्ष केवल सम्भाव्य प्रतीत होते हैं।

अवशेष-विधि, व्यतिरेक-विधि का ही विशेष रूप है किन्तु यह केवल सिद्धि की ही विधि नहीं है अपितु अनुसधान की भी विधि है। इस विधि के प्रयोग से वैज्ञानिक क्षेत्र में कितने ही महत्वशाली आविष्कार किये गये हैं। जब हम देखते हैं कि पदार्थ में कुछ भाग अव्याख्यात रहता है जिसको हम दूसरी प्रकार जान सकते हैं तब हम इसके अव्याख्यात भाग के कारण की खोज करने की कोशिश करते हैं। इसलिये अवशेष-विधि अव्याख्यात भाग के लिये सूचक स्तम्भ (Finger-post) का कार्य करती है।

(१८) विधियों की समालोचना

मिल महोयय का कहना है कि प्रायोगिक विधियों का सामान्यानुमान के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। उनके अनुसार खोज के लिये इससे अच्छी विधियाँ हो ही नहीं सकतीं। यथार्थ में सामान्यानुमान की प्रतिष्ठा इन्हीं के द्वारा हो सकती है। उनका यह भी कहना है कि सामान्यानुमान हमें नियम और विधान देता है। यदि नियम और विधान क अनुसार हमारे तर्क ठीक बैठते हैं तो उनसे निकाले हुए निष्कर्ष निश्चयात्मक होंगे। इस निश्चयात्मकता को दिखलाने और सिद्ध करने के लिये ही प्रायोगिक विधियाँ काम मे लाई जाती हैं।

साधारण प्रत्यक्षीकरण के प्रयोग में ला सकते हैं—जैसे, हम अपने दैनिक अनुमानों में इसको लगाते हैं। जब हम अपने विषय को साधारण प्रत्यक्षीकरण से ग्रहण करते हैं तब हमारे निष्कर्ष निश्चयात्मक नहीं होते। यह प्रयोग ही है जो निश्चयात्मक और सही उदाहरण दे सकता है और जो व्यतिरेक-विधि की आवश्यकता को पूर्ण रूप से पूरी कर सकता है।

सम्मिलित-विधि अन्वय-विधि का द्विगुणित रूप होने के कारण कोई स्वतन्त्र विधि न होती हुई, अन्वयविधि के ही समान विधि है।

सहगामि-विचरण-विधि को या तो हम अन्वय-विधि का विशेष परिवर्तन मान सकते हैं या व्यतिरेक-विधि का परिवर्तन मान सकते हैं। जब यह अन्वय विधि का रूप माना जाता है तब यह प्रत्यक्षीकरण का ही विशेष रूप है किन्तु जब यह व्यतिरेक-विधि का रूप माना जाता है तब यह वास्तव में व्यतिरेक-विधि का ही विशेष रूप है।

अवशेष-विधि व्यतिरेक-विधि का खास रूप है और इसलिये इसको व्यतिरेक का रूप मानना अधिक उपयुक्त है। इस विधि का प्रयोग प्रत्यक्षीकरण में भी किया जाता है; किन्तु उस अवस्था में निकाले हुए इसके निष्कर्ष तभी निश्चयात्मक गिने जा सकते हैं जब हम प्रयोग को काम में लावें।

(१७) अनुसंधान की विधियाँ और सिद्धि की विधियाँ

मिल महोदय का कहना है कि जितनी प्रायोगिक विधियाँ हैं वे सब सिद्धि की विधियाँ हैं अनुसंधान की नहीं। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि मिल अपने विचारों में सामंजस्य नहीं रखता अर्थात् इस विषय में उसके विचार अनुरूप नहीं हैं। जहाँ तक अन्वय-विधि का सम्बन्ध है उनका कहना है कि यह कारणता के सम्बन्ध की सूचना देती है; यह इसको सिद्ध नहीं कर सकती। अन्वय-विधि कारण की सूचना देती है तथा व्यतिरेक-विधि यह निश्चित करती है कि अनुमानित कारण सत्य कारण है; अतः इस दृष्टिबिन्दु के अनुसार यह कहा जा सकता है कि अन्वय-विधि अनुसंधान की विधि है इसके बजाय कि इसे सिद्धि की विधि कहा जाय। जहाँ तक व्यतिरेक विधि का सम्बन्ध है मिल का कहना है कि यह सिद्धि

मिल महोदय इस आपत्ति को इस प्रकार सुलझाते हैं और वे स्वीकार करते हैं कि सामान्यानुमानीय वाक्य कठिनता से प्राप्त होते हैं और उनको सामान्य रूपों में रखना और भी कठिन है। किन्तु इस प्रकार के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को सरल करने के पहिले 'यह जानना आवश्यक हो जाता है कि हम उन रूपों को जानें जिनमें हमें उन पदार्थों या घटनाओं को प्रकट करना है। जैसे विशेषानुमान में सिलाजिजम एक अनुमान का रूप है जिसके अन्दर समग्र विशेषानुमानीय तर्क को दिखलाना है, वैसे ही सामान्यानुमान में भी हम विधियों को उपस्थित करते हैं जिनके अन्दर तमाम सामान्यानुमानीय तर्क प्रकट करना चाहिये जिससे हम इनकी प्रमाणिकता सिद्ध कर सकें।

(२) कारण-बहुत्व का सिद्धान्त और कार्य-सम्मिश्रण का सिद्धान्त विधिओं की प्रमाणिता के लिये अत्यन्त घातक है।

सामान्यानुमानीय विधियाँ केवल दो बातों की कल्पना करती हैं :—

(१) एक कार्य का केवल एक कारण होता है अर्थात् कार्य की कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएँ होती हैं (२) भिन्न-भिन्न कार्य अलग अलग रक्खे जाते हैं और हम उनमें भेद कर सकते हैं। किन्तु इन दोनों कल्पनाओं के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

कारण बहुत्व का सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि भिन्न भिन्न अवसरों पर वही कार्य भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकता है। इससे अन्वय-विधि निरर्थक सिद्ध हो जाती है। यह हो सकता है कि अनेक उदाहरणों के इकट्ठे करने से और सम्मिलित-विधि के प्रयोग करने से अन्वय-विधि की असफलता के अवसरों को कुछ रोका जा सके किन्तु गलती की सम्भावना को सर्वथा नहीं हटाया जा सकता। व्यतिरेक-विधि भी केवल यही सिद्ध कर सकती है कि दिये हुए उदाहरण में एक खास अवस्था कारण कही जा सकती है क्योंकि दूसरी विधियाँ या तो अन्यव-विधि के या व्यतिरेक-विधि के रूप हैं, इसलिये उनको भी कारण-बहुत्व का सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध कर सकता है।

कार्य-समिश्रण के सिद्धान्त के अनुसार हमारे लिये यह सम्भव न हो

मिल महोदय का यह राय अन्य तार्किकों को मान्य नहीं है और वे निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाते हैं:—

(१) प्रथम विधियों के आधार पर हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि प्रकृति के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को हम साधारण सूत्रों में अनूदित कर सकते हैं।

(२) द्वितीय, कारणबहुत्व का सिद्धान्त और कार्यसंमिश्रण का सिद्धान्त, विधियों की मान्यता के लिये अत्यन्त घातक हैं।

(३) तृतीय, विधियाँ स्वरूपतः सामान्यानुमानीय नहीं हैं, वे निगमनानुमानीय हैं।

अब हम इन आपत्तियों पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

(१) विधियों के आधार पर हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि प्रकृति के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को हम साधारण सूत्रों में अनूदित कर सकते हैं।

विधियों के आधार पर हम यह सोचने लग जाते हैं कि प्रकृति के पदार्थ और घटनाएँ इतनी सरल हैं कि हम उनको अत्यन्त सरल सूत्रों में अनूदित कर रख सकते हैं। विधियों के अन्दर हमारे सामने कुछ निश्चित पूर्ववर्ती अवस्थाएँ होती हैं और उन्हीं के अनुसार उत्तरवर्ती अवस्थाएँ भी होती हैं—हम इन्हीं के आधार पर कार्य-कारण-भाव सिद्ध करने लगते हैं। यथार्थ में प्राकृतिक पदार्थों और घटनाओं का स्वरूप इतना पेचीदा होता है कि उनमें से कुछ अवस्थाओं को क ख ग के पूर्व रूप में मानकर उन्हीं के अनुरूप क' ख' ग' को उत्तर रूप में प्रकट करना धोखे से खाली नहीं होता है। वस्तुओं को शुद्ध रूप में और विभिन्न रूप में प्रकट करने से हम एकदम यह जान जाते हैं कि अमुक अवस्थाएँ पूर्ववर्ती हैं और अमुक उत्तरवर्ती। किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता। इसी हेतु से हेवल (Whewell) साहब यह आपत्ति उठाते हैं कि विधियों के अन्दर हम किसी वस्तु को मानकर बैठ जाते हैं जिसकी खोज करना अत्यन्त दुर्लभ है—अर्थात् पेचीदे पदार्थों और घटनाओं को साधारण समझ बैठते हैं। यह विधियों की प्रथम कमजोरी है।

मिल महोदय इस आपत्ति को इस प्रकार सुलझाते हैं और वे स्वीकार करते हैं कि सामान्यानुमानीय वाक्य कठिनता से प्राप्त होते हैं और उनको सामान्य रूपों में रखना और भी कठिन है। किन्तु इस प्रकार के पेचीदे पदार्थों या घटनाओं को सरल करने के पहिले 'यह जानना आवश्यक हो जाता है कि हम उन रूपों को जानें जिनमें हमें उन पदार्थों या घटनाओं को प्रकट करना है। जैसे विशेषानुमान में सिलाजिज्म एक अनुमान का रूप है जिसके अन्दर समग्र विशेषानुमानीय तर्क को दिखलाना है, वैसे ही सामान्यानुमान में भी हम विधियों को उपस्थित करते हैं जिनके अन्दर तमाम सामान्यानुमानीय तर्क प्रकट करना चाहिये जिससे हम उनकी प्रमाणिकता सिद्ध कर सकें।

(२) कारण-बहुत्व का सिद्धान्त और कार्य-सम्मिश्रण का सिद्धान्त विधिओं की प्रमाणिता के लिये अत्यन्त घातक हैं।

सामान्यानुमानीय विधियाँ केवल दो बातों की कल्पना करती हैं :—

(१) एक कार्य का केवल एक कारण होता है अर्थात् कार्य की कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएँ होती हैं (२) भिन्न-भिन्न कार्य अलग अलग रक्खे जाते हैं और हम उनमें भेद कर सकते हैं। किन्तु इन दोनों कल्पनाओं के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

कारण बहुत्व का सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि भिन्न भिन्न अवसरों पर वही कार्य भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकता है। इससे अन्वय-विधि निरर्थक सिद्ध हो जाती है। यह हो सकता है कि अनेक उदाहरणों के इकट्ठे करने से और सम्मिलित-विधि के प्रयोग करने से अन्वय-विधि की असफलता के अवसरों को कुछ रोका जा सके किन्तु ग़लती की सम्भावना को सर्वथा नहीं हटाया जा सकता। व्यतिरेक विधि भी केवल यही सिद्ध कर सकती है कि दिये हुए उदाहरण में एक खास अवस्था कारण कही जा सकती है क्योंकि दूसरी विधियाँ या तो अन्वय-विधि के या व्यतिरेक-विधि के रूप हैं, इसलिये उनको भी कारण-बहुत्व का सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध कर सकता है।

कार्य-संमिश्रण के सिद्धान्त के अनुसार हमारे लिये यह सम्भव न हो

कि भिन्न-भिन्न कारणों को अलग-अलग कर सकें और एक पदार्थ में कहना सम्मिलित कारणों का फल हो। उदाहरणार्थ, अच्छी फसल एक उदाहरण है जो अनेक कारणों का सम्मिलित कार्य है अर्थात् उसमें जमीन का भी हिस्सा है अच्छी वर्षा भी उसमें काम कर रही है, किसान के परिश्रम का भी योग है, इत्यादि। प्रायोगिक विधियाँ यह चाहती हैं कि भिन्न-भिन्न कार्य, क ख ग 'क' 'ख' ग' के रूप में अलग-अलग प्रतीत होने चाहिये। यदि भिन्न-भिन्न कार्य एक साथ मिला दिये जाते हैं तो यह *निर्णय* करना असम्भव हो जायगा कि सम्मिलित कार्य में से कौन सा भाग किस कारण से उत्पन्न हुआ है। अतः इस प्रकार के मामलों में य विधियाँ निरर्थक सिद्ध होती हैं।

सम्मिलित कार्यों के मामलों में सहगामि-विचरण-विधि और अवशेष-विधि कुछ सहायता कर सकती हैं। यदि दो पदार्थ या घटनायें एक साथ परिवर्तन को प्राप्त होती हैं तो वहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वे दोनों कारणता के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं या नहीं और हमारी यह प्रारम्भ सफल परिणामों का आरम्भ बिन्दु बन सकती है। इसी प्रकार अवशेष विधि भी हमारी बड़ी सहायता कर सकती है क्योंकि जब हम कुछ अन्य स्पष्ट अवशेष पाते हैं तो हम उस अवशेष के लिये कारणान्तर की कल्पना करते हैं और उस दिशा में पुनः खोज करना आरम्भ कर देते हैं।

यहाँ पर ध्यान देना आवश्यक है कि ये प्रायोगिक विधियाँ कारण बहुत्व या कार्य-सम्मिश्रण से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों को दूर नहीं कर सकती। यदि हम इन कठिनाइयों को पार करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम विशेषानुमानीय विधि का प्रयोग करें जो कि सामान्य-नुमान और विशेषानुमान का सुन्दर मिश्रण है।

(३) उक्त विधियाँ स्वरूपतः सामान्यानुमानीय नहीं हैं; वे विशेषा-नुमानीय हैं।

सबसे बड़ी आपत्ति जो प्रायोगिक-विधियों के विरुद्ध उठाई जा सकती है वह यह है कि प्रायोगिक-विधियाँ स्वरूपतः सामान्यानुमानीय नहीं हैं किन्तु विशेषानुमानीय हैं अर्थात् इनसे हम विशेष से सामान्य की ओर

गमन नहीं करते अपितु सामान्य से विशेष की ओर गमन करते हैं। वेन (Bain) कहते हैं इन विधियों को हम अनुग्रह से सामान्यनुमानीय कह सकते हैं, अधिक उपयुक्त तो यही होगा कि इनको विशेषानुमानीय विधियाँ कहा जाय क्योंकि हम इन्हें विशेष रूप से सामान्यानुमानीय अनुसधानों में प्रयुक्त पाते हैं। इस आलोचना की सत्यता तब अधिक स्पष्ट होगी जब हम इन विधियों में होनेवाली तर्क-प्रणाली को भली भाँति समझ लें।

अन्वय-विधि इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है.—**"कार्य के भाव को न विगाड़ते हुए हम जो कुछ अलग कर सकते हैं वह कारण का भाग नहीं बनाया जा सकता"**। यह सिद्धान्त कारणता के सिद्धान्त से निकाला गया है। इस सिद्धान्त को हम मुख्य वाक्य मानकर निम्नलिखित सिलाजिज्म बनाते हैं :—

"जो कुछ अलग किया जा सकता है वह कारण नहीं हो सकता।
ख ग, घ ङ अलग किये जा सकते हैं।
∴ ख, ग, घ ङ आदि कोई कारण नही हो सकते।"

किन्तु कारणता का सिद्धान्त बतलाता है कि प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होता है, इसलिये अन्वय-विधि यह बतलाती है कि अपरिवर्तितनीय पूर्वावस्था 'क' अपरिवर्तनीय उत्तर अवस्था 'क" का कारण है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि अन्वय-विधि कारणता के सिद्धान्त से निकाला हुआ सिद्धान्त है अर्थात् विशेषानुमान है और प्रथक्करण का सिद्धान्त भी कारणता के सिद्धन्त से निकाला हुआ सिद्धान्त है। अत. दोनों विशेषानुमान रूप हैं।

इसी प्रकार व्यतिरेक-विधि भी विशेषानुमान का रूप है। व्यतिरेक विधि इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है—**"बिना कार्य के विगाड़े हुए हम जिस किसी अवस्था को अलग नहीं कर सकते वह उसका कारण है"**। इसको हम मुख्य वाक्य बनाकर निम्नलिखित सिलाजिज्म बनाते हैं —

जो कुछ अलग नही किया जा सकता है वह कारण है।
'क अलग नहीं किया जा सकता।
∴ 'क' कारण है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यतिरेक-विधि उपयुक्त सिद्धान्त का *निष्कर्ष* है जो पुनः कारणता के *नियम से निकाला गया* है। ठीक इसी प्रकार यह भी *दिखलाया* जा सकता है कि सहगामि-विचरण-विधि इस सिद्धान्त से निकली हुई है "यदि एक पूर्ववर्ती अवस्था और उत्तरवर्ती अवस्था सहगामि-अवस्था में एक साथ बढ़ती हैं और घटती हैं तो उनमें अवश्य ही कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध होगा।

यहाँ एक सम्मिलित-विधि का सम्बन्ध है यह अन्वय-विधि का विशेष रूप है। इसलिए अन्वय-विधि के समान यह भी *विशेषानुमानीय* ही विधि है।

अवशेष-विधि के बारे में तो मिल का स्वयं कहना है कि इसमें *विशेषानुमान* का कुछ तत्त्व अवश्य है क्योंकि *निषेधात्मक* उदाहरण जो परीक्षागत पदार्थ या घटना की अविद्यमानता को प्रकट करते हैं, उनको हम न तो प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त कर सकते हैं और न प्रयोग से प्राप्त कर सकते हैं *किन्तु पूर्वज्ञान से उत्पन्न निष्कर्ष या विशेषानुमान से प्राप्त करते हैं।* यह स्पष्ट है क्योंकि यह व्यतिरेक-विधि का विशेष रूप है इसलिये इसके अन्दर वही व्याप्तियाँ उपस्थित हो सकती हैं जो व्यतिरेक विधि में पाई जाती हैं।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये सामान्यानुमानीय विधियाँ सामान्यानुमानरूप कदापि नहीं हैं किन्तु केवल विशेषानुमान रूप हैं। ये सब कारणता के सिद्धान्त से निकली हुई विधियाँ हैं। जैसा कि कारवेथ रीड ने कहा है "हम सामान्यानुमानीय तर्क को केवल रूप-स्वभाव[1] का रूप मान सकते हैं क्योंकि यह (१) कार्य-कारणभाव के सम्बन्ध में पाया जाता है (२) इस सिद्धान्त से कुछ अनन्तरानुमानों को निकाला जाता है जिनका विस्तार नियमों में किया जा सकता है तथा (३) यह सिद्धान्त के रूप में नियमों के प्रयोगों को प्रकट करता है जिनको उपयुक्त वाक्य के रूप में रखकर कारणता के विषय के स्वरूप में रखा जा सकता है जिससे

---

(1) Formal Character

यह दिखाया जा सके कि कुछ उदाहरण नियमों का पूर्णरूप से परिपालन करते हैं।"

अभ्यास प्रश्न

(१) तर्कशास्त्र में प्रायोगिक-विधियों की आवश्यकता क्यों बतलाई गई है ? सबके लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(२) प्रायोगिक-विधियों के दो मूल सिद्धान्त कौन से हैं जिनके आधार पर उनको परिवर्धित किया गया है ? अच्छी तरह विवेचन करो।

(३) वे कौन से दो प्रकार हैं जिनमें अवशेष-विधि का प्रयोग किया जा सकता है ? उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट बनाओ।

(४) प्रायोगिक-विधियों से आपका क्या अभिप्राय है ? इनको प्रायोगिक विधियाँ क्यों कहा गया है ?

(५) प्रथक्करण के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त क्या हैं ? इनका प्रायोगिक-विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है ?

(६) अन्वयविधि का उदाहरण पूर्वक लक्षण लिखो। इस विधि में कौन-कौन कमियाँ हैं ? वे किस प्रकार दूर की जा सकती हैं ?

(७) कारण-बहुत्व और कार्य-समिश्रण के सिद्धान्त किस प्रकार अन्वय विधि में बाधा उपस्थित करते हैं ? इसका हल दो।

(८) व्यतिरेक-विधि पर पूर्ण प्रकाश डालकर यह सिद्ध करो कि यह अन्वय-विधि से अधिक उपयोगी है।

(९) अन्वय-विधि का यथार्थ उदाहरण दो तथा यह बतलाओ कि सम्मिलितान्वय-व्यतिरेक विधि का कब प्रयोग आवश्यक है ?

(१०) "अन्वय-विधि और व्यतिरेक-विधि ये दोनों प्रत्यक्षीकरण और प्रयोग की विधियाँ हैं" इस वक्तव्य का क्या अभिप्राय है ?

(११) "अन्वयविधि खोज की विधि है और व्यतिरेक-विधि सबूत की विधि है" इस कथन पर प्रकाश डालो।

(१२) अन्वय-विधि के द्विगुणित प्रयोग का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इस विधि का विशेष उपयोग क्या है ?

(१३) व्यतिरेक विधि का लक्षण लिखकर यथार्थ और बीजात्मक उदाहरण

दो तथा यह सिद्ध करो कि व्यावहारिक जीवन में इस विधि का अत्यन्त उपयोग है।

(१४) सहगामि विचरण-विधि का मिल के अनुसार लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसको स्वतन्त्र विधि क्यों माना गया है? इसकी सार्थकता प्रकट करो।

(१५) सहगामि-विचरण-विधि का विशेष उपयोग कब किया जाता है? इसके प्रयोग की सीमाएँ बतलाओ।

(१६) सहगामि विचरण-विधि का लक्षण लिखकर इसका व्यतिरेक-विधि से सम्बन्ध स्थापित करो।

(१७) अवशेष-विधि का लक्षण लिखकर यथार्थ और बीजात्मक दोनों प्रकार के उदाहरण दो। यह विधि विशेषानुमान रूप क्यों मानी गई है?

(१८) सिद्ध करो कि सब सामान्यानुमानीय विधियाँ स्वभाव से विशेषानुमानीय हैं?

(१९) निषेधात्मक उदाहरण किसे कहते हैं? इनका किस विधि में विशेष उपयोग होता है? उदाहरण देकर समझाओ।

(२०) सामान्यानुमानीय विधियों की आलोचना-पूर्वक व्याख्या करो। अन्य लोगों ने इनकी महत्ता को क्यों नहीं स्वीकार किया?

(२१) क्या अवशेष-विधि को सामान्यानुमानीय माना जा सकता है? यदि हाँ तो क्यों?

(२२) 'गर्मी से वस्तु पिघलती है' यह निष्कर्ष किस विधि से निकाला गया है? उदाहरण-पूर्वक विधि का उल्लेख करो।

(२३) पाँचों विधियों का आपस में सम्बन्ध स्थापित कर यह सिद्ध करो कि ये सब सामान्यानुमान में अत्यधिक उपयोगी विधियाँ हैं।

(२४) प्रकृति के नियमों के आविष्कार में प्रायोगिक विधियों ने कहाँ तक सहायता की है — इस पर प्रकाश डालो।

अध्याय ७

(१) प्रायोगिक विधियों की कठिनाइयाँ और उनको दूर करने के उपाय

यह हम पहले वतला चुके हैं कि प्रायोगिक विधियों की मुख्य कठिनाइयाँ दो हैं (१) **कारण वहुत्व और** (२) **कार्य-संमिश्रण**। आगे चलकर हम यह वतलावेंगे कि हम किस प्रकार इन कठिनायों को **सम्भावना के सिद्धान्त** (Theory of probability) **अथवा अवसर-गणना** (Calculation of chances) के द्वारा दूर कर सकते हैं। इस अध्याय में तो हम केवल यही विचार करेंगे कि कार्य-समिश्रण के द्वारा उत्पन्न हुई कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

(२) कार्य-संमिश्रण और प्रायोगिक विधियाँ

पहले यह वतलाया गया है कि कार्य-समिश्रण के दो रूप होते हैं (१) **समानजातीय कार्य-समिश्रण और** (२) **भिन्नजातीय कार्य-समिश्रण**। समानजातीय कार्य-समिश्रण में प्रत्येक कारण का अलग-अलग कार्य पैदा होता चला जाता है और ये अलग-अलग कार्य एक समुदाय में एकत्रित होते जाते हैं जिसको हम मिश्र-कार्य (Complex effect) कहते हैं। भिन्न जातीय कार्य-समिश्रण में प्रत्येक कारण का अलग-अलग कार्य समाप्त होता चला जाता है और सर्वथा एक नवीन मिश्र-कार्य उत्पन्न होता है। कभी-कभी भिन्न जातीय कार्य-समिश्रण एक नवीन रूप को धारण करता है जिसे हम परिवर्तनों के नाम से पुकारते हैं, इनमें कारण और कार्य का परस्पर परिवर्तन किया जाता है। उदाहरणार्थ हाइड्रोजन और ऑक्सिजन पानी पैदा करते हैं और पुन पानी हाइड्रोजन और ऑक्सिजन पैदा कर देता है। इस प्रकार के भिन्नजातीय कार्य-समिश्रण के

हम प्रयोग से अच्छी तरह समझ सकते हैं और इसीलिये इस प्रकार के कार्यों में प्रायोगिक विधियाँ काम में लाई जाती हैं। किन्तु अन्य प्रकार के मिश्र-कार्यों में विशेष रूप से जो समानजातीय कार्य-संमिश्रण से उत्पन्न होते हैं प्रायोगिक विधियाँ काम में नहीं लाई जा सकती। समानजातीय कार्य संमिश्रण में अनेक कारण होते हैं और कार्य उत्पन्न करने में प्रत्येक कारण का कुछ न कुछ हिस्सा होता है। अतः इस प्रकार कार्य के संमिश्रण में जितने अधिक कारण होंगे और प्रत्येक का जितना कम भाग होगा प्रायोगिक विधियों का प्रयोग उतना ही कठिन होगा। मिल महोदय का मतलब है कि मिश्रकार्य के अनुसन्धान में प्रत्यक्षीकरण की विधि और प्रयोग की विधि दोनों समानरूप से काम में लाई जा सकती हैं।

हम तपेदिक के रोग से मुक्त होने का उदाहरण लेते हैं। यहाँ प्रश्न यह है—क्या कॉड मछली के यकृत[1] का तेल खा जाना इस रोग के दूर होने का कारण है? साधारण प्रत्यक्षी-करण का प्रयोग इसमें कार्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि कई भिन्न कारणों को मिलकर काम उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि यहाँ कई कारण मिलकर कार्य कर रहे हैं इसलिये प्रत्येक कारण का भाग कार्य में अत्यन्त अल्प है और इसीलिये भाग किसी कारण विशेष का उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति या परिवर्तन में अनुसरण नहीं कर रहा है। इसी हेतु से अन्वयविधि व्यतिरेकविधि और सहगामि विचारणविधि का जब प्रत्यक्षीकरण की विधि के रूप में प्रयोग किया जाता है तब वे विशेष कार्यकारी सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार प्रायोगिक विधि भी उपयोग में नहीं लाई जा सकती क्योंकि प्रयोग को काम में लाने के लिये हमें कुछ सावधान होने की आवश्यकता है जिसको करने के लिये हम असमर्थ हैं। उदाहरणार्थ प्रयोग में किसी पश्चात् अवस्था को समारम्भ करना नहीं है। जब हम किसी बीमार मनुष्य को कॉड मछली का तेल औषधी के रूप में देते हैं उस समय हमें बीमार की हालत का कुछ भी ज्ञान नहीं होता जिसका तपेदिक के रोग पर प्रभाव हो सकता है। अतः व्यतिरेक विधि हमारा विशेष कार्य नहीं कर सकती।

---

(1) Liver

अतः मिश्र कार्यों के विषय में प्रायोगिक विधियों का इतना ही प्रयोजन है कि ये हमें यह बतला सकती हैं कि प्रायः करके अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न हो सकता है। इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि इनके द्वारा हम कार्य-कारण-भावको निश्चित कर सकते हैं। मिल महोदय का इन में यह सुझाव है कि ऐसी अवस्थाओं में हमें विशेषानुमानीय विधि से काम लेना चाहिये। अतः हमें विशेषानुमानीय विधि का वहाँ प्रयोग करना चाहिये जहाँ हम प्रत्यक्षी-करण और प्रयोग का साक्षात् प्रयोग करने में असमर्थ हों।

(३) विशेषानुमानीय विधि

विशेषानुमानीय विधि (Deductive method) के तीन रूप हैं।
(१) साक्षात् विशेषानुमानीय विधि (२) व्यत्ययात्मक विशेषानुमानीय विधि (३) भावात्मक विशेषानुमानीय विधि।

(१) साक्षात् विशेषानुमानीयविधि

साक्षात् विशेषानुमानीय विधि (Direct Deductive method) को **भौतिक विधि** भी कहा जाता है। इसके ३ क्रम हैं (१) साक्षात् सामान्यानुमान द्वारा भिन्न-भिन्न कारणों के नियम निश्चित करना (२) युक्तितर्क (Ratiocination) और (३) समर्थन (Varification)।

प्रथम क्रम में हम कुछ समय के लिये पूर्व सामान्यानुमान द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों को स्वीकार कर लेते हैं। सामान्यानुमान हमें प्रायोगिक विधियों की सहायता से कारण और उनके नियमों का ज्ञान कराता है। यह हमारा ज्ञान निर्णयात्मक नहीं होता, इसी हेतु से हमें इसको परीक्षा के लिये विशेषानुमानीय विधि का प्रयोग करना पड़ता है। आरम्भ के लिये हम सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त किये हुए निर्णयों को स्वीकार कर लेते हैं। जब हमारे सामने एक मिश्र कार्य आता है तब हम प्रथम सामान्यानुमान द्वारा निश्चित कर लेते हैं कि उसके प्रथक्-प्रथक् कारण और नियम क्या हो सकते हैं? जब हमें सामान्यानुमान द्वारा इस प्रकार की व्याख्या नहीं मिलती तब हम उसके विषय में प्राक् कल्पनाओं (Hypotheses) का सहारा लेते हैं। द्वितीय क्रम में संयुक्त निष्कर्ष का गणना के द्वारा निर्णय करते हैं।

हम प्रयोग से अच्छी तरह समझ सकते हैं और इसीलिये इस प्रकार के कार्यों में प्रायोगिक विधियाँ काम में लाई जाती हैं। किन्तु अन्य प्रकार के मिश्र-कार्यों में विशेष रूप से जो असमानजातीय कार्य-संमिश्रण से उत्पन्न होते हैं प्रायोगिक विधियाँ काम में नहीं लाई जा सकती। असमानजातीय कार्य संमिश्रण में अनेक कारण होते हैं और कार्य उत्पन्न करने में प्रत्येक कारण का कुछ न कुछ हिस्सा होता है। अत इस प्रकार कार्य के संमिश्रण में जितने अधिक कारण होंगे और प्रत्येक का जितना कम भाग होगा प्रायोगिक विधियों का प्रयोग उतना ही कठिन होगा। मिल महोदय का मन्तव्य है कि मिश्रकार्य के अनुसन्धान में प्रत्यक्षीकरण की विधि और प्रयोग की विधि दोनों समानरूप से काम में लाई जा सकती हैं।

हम तपेदिक के रोग से मुक्त होने का उदाहरण लेते हैं। यहाँ प्रश्न यह है—क्या कॉड मछली के यकृत[1] का तैल का खाना इस रोग के दूर होने का कारण है? साधारण प्रत्यक्षी-करण का प्रयोग इसमें कार्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि कई मिश्र कारणों को मिलकर फल उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि यहाँ कई कारण मिलकर कार्य कर रहे हैं इसलिये प्रत्येक कारण का भाग कार्य में अत्यन्त अल्प है और इसीलिये कार्य किसी कारण विशेष का उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति या परिवर्तन में अनुसरण नहीं कर रहा है। इसी हेतु से अन्वयविधि व्यतिरेकविधि और सहगामि-विचरणविधि का जब प्रत्यक्षीकरण की विधि के रूप में प्रयोग किया जाता है तब ये विशेष कार्यकारी सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार प्रायोगिक विधि भी उपयोग में नहीं लाई जा सकती क्योंकि प्रयोग को काम में लाने के लिये हमें कुछ सावधान होने की आवश्यकता है जिसके करने के लिये हम असमर्थ हैं। उदाहरणार्थ प्रयोग में किसी अज्ञात अवस्था की आवश्यकता नहीं है। जब हम किसी बीमार मनुष्य को कॉड मछली का तैल [illegible] रूप में देते हैं उस समय हमें बीमार की हालत का कुछ भी ज्ञान होता जिसका तपेदिक के रोग पर प्रभाव हो सकता है। अतः व्यतिरेक-विधि हमारा विशेष कार्य नहीं कर सकती।

---

(1) Liver

अत मिश्र कार्यों के विषय में प्रायोगिक विधियों का इतना ही प्रयोजन है कि ये हमें यह बतला सकती हैं कि प्राय करके अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न हो सकता है। इससे यह तो सिद्ध नही होता कि इनके द्वारा हम कार्य-कारण-भावको निश्चित कर सकते हैं। मिल महोदय का इस में यह सुझाव है कि ऐसी अवस्थाओं में हमें विशेषानुमानीय विधि से काम लेना चाहिये। अत हमें विशेषानुमानीय विधि का वहाँ प्रयोग करना चाहिये जहाँ हम प्रत्यक्षी-करण और प्रयोग का साक्षात् प्रयोग करने में असमर्थ हों।

(३) विशेषानुमानीय विधि

विशेषानुमानीय विधि (Deductive method) के तीन रूप हैं। **(१) साक्षात् विशेषानुमानीय विधि (२) व्यत्ययात्मक विशेषानुमानीय विधि (३) भावात्मक विशेषानुमानीय विधि।**

(१) साक्षात् विशेषानुमानीयविधि

साक्षात् विशेषानुमानीय विधि (Direct Deductive method) को **भौतिक विधि** भी कहा जाता है। इसके ३ क्रम हैं (१) साक्षात् सामान्यानुमान द्वारा भिन्न-भिन्न कारणों के नियम निश्चित करना (२) युक्तितर्क (Ratiocination) और (३) समर्थन (Varification)।

प्रथम क्रम में हम कुछ समय के लिये पूर्व सामान्यानुमान द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों को स्वीकार कर लेते हैं। सामान्यानुमान हमें प्रायोगिक विधियों की सहायता से कारण और उनके नियमों का ज्ञान कराता है। यह हमारा ज्ञान निर्णयात्मक नही होता, इसी हेतु से हमें इसको परीक्षा के लिये विशेषानुमानीय विधि का प्रयोग करना पडता है। आरम्भ के लिये हम सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त किये हुए निर्णयों को स्वीकार कर लेते हैं। जब हमारे सामने एक मिश्र कार्य आता है तब हम प्रथम सामान्यानुमान द्वारा निश्चित कर लेते हैं कि उसके प्रथक्-प्रथक् कारण और नियम क्या हो सकते हैं? जब हमें सामान्यानुमान द्वारा इस प्रकार की व्याख्या नही मिलती तब हम उसके विषय में प्राक् कल्पनाओं (Hypotheses) का सहारा लेते हैं। द्वितीय क्रम में सयुक्त निष्कर्ष का गणना के द्वारा निर्णय करते हैं।

इसको हम युक्ति-तर्क (Ratiocination) कहते हैं। इसके द्वारा हम यह जान लेते हैं कि भिन्न-भिन्न कारणों के नियमों द्वारा गणना करके उनके सम्मिलित प्रयत्न से कैसे निष्कर्ष उत्पन्न हो सकते हैं। प्रथम क्रम में हम सम्भावना सा लेते हैं कि उनके संयुक्त निष्कर्ष क्या होने चाहिये। इस क्रम को विशेषानुमानीय विधि में विशेषानुमान कहा जाता है।

तृतीय क्रम में समर्थन (Varification) से काम लेना पड़ता है। अर्थात् परिगणित निष्कर्षों का समर्थन करने के लिये हम अनुभव से प्राप्त वस्तुओं की ओर दृष्टि डालते हैं और देखते हैं कि वे ठीक उतरती हैं या नहीं। यदि हम द्वितीय क्रम पर ही ठहर जाते हैं तो हम देखेंगे कि विशेषानुमानीय गणना कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। हमारे परिगणित निष्कर्ष का पदार्थों के साथ सामञ्जस्य अवश्य होना चाहिये। यदि इनकी संगति नहीं बैठती है तो हमें समझना चाहिये कि प्रथम क्रम में कुछ न कुछ दोष अवश्य है—अर्थात् हमने सब कारणों पर विचार नहीं किया है और नियमों को ही कार्य में लिया है या हमने उनके सम्मिलित कार्य की परिगणना करने में गलती की है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस विधि में समर्थन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह विशेषानुमानीय विधि में सामान्यानुमान का क्रम है।

यहाँ कारवेथ रीड के मन्तव्य का उल्लेख करना अनुचित न होगा—किसी भिन्न मानसिक वस्तु के देने पर एक परीक्षक विचार करता है—(१) सामान्यानुमान से निश्चित किये हुए कौन से नियमों का इसमें प्रयोग किया गया है। (यदि परिज्ञात नियम कार्यकारी सिद्ध नहीं होते तो उनकी जगह प्राक-कल्पनाएँ काम में लाई जा सकती हैं) (२) पश्चात् वह कार्य की गणना करता है जो पहले कार्य की तरह इन अवस्थाओं में इन नियमों से फलित होता है। (३) अनन्तर वास्तविक पदार्थ के साथ इसकी तुलना कर अपने निष्कर्ष की जाँच करता है।

साक्षात् विशेषानुमानीय विधि का उदाहरण निम्नलिखित है—मान लो हम आकाश में फेंकी हुई किसी वस्तु के मार्ग के नियम का निश्चय करना चाहते हैं। प्रथम हम कारणों का पता लगाते हैं। सामान्यानुमान

व्यत्यय-विशेषानुमानीय-विधि को ऐतिहासिक विधि कह कर पुकारते हैं क्योंकि इसका विशेष उपयोग इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र आदि में होता है। यह हम जान चुके हैं कि साक्षात् विशेषानुमानीय-विधि को भौतिक विधि बतलाया गया है क्योंकि इसका विशेष उपयोग भौतिक विज्ञानों में होता है। यह विचार करना गलत होगा कि साक्षात्-विधि और व्यत्यय-विधि क्रमश भौतिक विज्ञानों और ऐतिहासिक विज्ञानों में ही प्रयोग की जाती हैं। यथार्थता यह है कि कारण जो मिश्र कार्य के स्वरूप को निश्चित करते हैं वे इतना अधिक सख्या में होते हैं या इतने अनिश्चित होते हैं कि उनके सम्मिलित कार्य की परिगणना पहले से कदापि नही हो सकती जिससे ऐतिहासिक-विधि कुछ लाभदायक सिद्ध हो सके।

(३) भावात्मक विशेषानुमानीय विधि

भावात्मक विशेषानुमानीय विधि (The Abstract Deductive method) शुद्ध रूप से विशेषानुमानीय विधि है। इसको रेखागणितीय विधि भी कहते हैं। यह हम देख चुके हैं कि साक्षात्-विशेषानुमानीय विधि और व्यत्यय-विशेषानुमानीय विधि दोनों विशेषानुमान और सामान्यानुमान का प्रयोग करती हैं यद्यपि भिन्न क्रम में। इसी कारण से जेवन्स महोदय ने इनका नाम **सयुक्त विधियों या मिश्र विधियों** रक्खा है। कोई कोई इनको **भावात्मक विशेषानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि** से प्रथक् बोध कराने के लिये **द्रव्यात्मक विशेषानुमानीय विधियाँ** कहते है। भावात्मक विशेषानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि सामान्यानुमान का सर्वथा उपयोग नही करती अपितु विशेषानुमान का उपयोग करती है। इसमें न तो प्रत्यक्षीकरण का और न अनुभव के आधार पर समर्थन का प्रश्न उठता है क्योंकि यह प्रधान रूप से भाव से सम्बन्ध रखती है न कि द्रव्यात्मक पदार्थों से। रेखागणित, भावात्मक विशेषानुमानीय विधि को प्रयोग में लाता है। रेखागणित ऐसे भावों से सम्बन्ध रखता है जैसे, बिन्दु, रेखा, इत्यादि जो भौतिक अणुओं से और भौतिक रेखाओं से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि यह भावात्मक विचारों को ही प्रयोग में लाती है, इसलिये इसके विरोधी अश नही होते और यदि शुद्ध रीति से विशेषानुमान निकाला

हैं कि उनके पूर्व कई प्रकार की मान्यताएँ विद्यमान थीं—जैसे लोग इंगलैण्ड के सरकार विरोधी थी और अन्याय करती थी इत्यादि। फिर हम यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि यहाँ ऐसे कारण विद्यमान होते हैं वहाँ यह स्वाभाविक है कि क्रान्ति हो। इस प्रकार जो कुछ देखा गया है उसको हम विशेषानुमान से उच्चतर नियमों के आधार पर सिद्ध करते हैं। अतः उच्चतर नियमों के आधार पर विशेषानुमान द्वारा हम पहले देखे हुए उदाहरणों के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

यहाँ व्यत्यय-विशेषानुमानीय विधि का साक्षात् विशेषानुमान विधि के साथ तुलना करना अधिक उपयुक्त होगा। दोनों विधियाँ मिश्र-कार्यों के कारण को निश्चित करने के लिये प्रयोग में लाई जाती हैं और दोनों में सामान्यानुमान तथा विशेषानुमान का प्रयोग किया जाता है। साक्षात् विशेषानुमानीय विधि में हम पहले कुछ कारणों को मान लेते हैं पश्चात् उनके सम्मिलित कार्यों की परिगणना करते हैं और अन्त में अनुभव को प्रमाण मानकर उसका समर्थन करते हैं। प्रथम दो क्रम कारणों की कल्पना से तथा विशेषानुमान द्वारा उनके निष्कर्षों की परिगणना से सम्बन्ध रखते हैं। अन्तिम क्रम सामान्यानुमान का है जिसमें प्रत्यक्षीकरण या प्रयोग पहले विशेषानुमान का समर्थन करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि विशेषानुमान पहले आता है और सामान्यानुमान बाद में आता है। इसी हेतु से इसको साक्षात् विशेषानुमानीय विधि कहा जाता है। व्यत्यय-विधि में सामान्यानुमान का पहले प्रयोग किया जाता है क्योंकि हम प्रथम पदार्थों के आकारों का अवलोकन करते हैं और तब उच्चतर सिद्धान्तों से विशेषानुमान द्वारा निष्कर्ष निकालकर सिद्ध करना चाहते हैं कि पदार्थ उनसे निकलता है। साक्षात् विशेषानुमान-विधि में सामान्यानुमान पहले के विशेषानुमान का समर्थन करता है किन्तु व्यत्यय-विशेषानुमानीय-विधि में उच्चतर सिद्धान्तों से निकाले हुए सामान्यानुमान का समर्थन किया जाता है। साक्षात् विधि में विशेषानुमान प्रधानरूप से कार्य करता है और सामान्यानुमान गौणरूप से। इसके विपरीत व्यत्यय-विधि में सामान्यानुमान प्रधानता से काम करता है और विशेषानुमान गौण रूप से। तार्किक लोग

व्यत्यय-विशेपानुमानीय-विधि को ऐतिहासिक विधि कह कर पुकारते है क्योंकि इसका विशेष उपयोग इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र आदि में होता है। यह हम जान चुके हैं कि साक्षात् विशेपानुमानीय-विधि को भौतिक विधि वतलाया गया है क्योंकि इसका विशेप उपयोग भौतिक विज्ञानों में होता है। यह विचार करना ग़लत होगा कि साक्षात्-विधि और व्यत्यय-विधि क्रमश भौतिक विज्ञानों और ऐतिहासिक विज्ञानों में ही प्रयोग की जाती हैं। यथार्थता यह है कि कारण जो मिश्र कार्य के स्वरूप को निश्चित करते हैं वे इतनी अधिक सख्या में होते हैं या इतने अनिश्चित होते हैं कि उनके सम्मिलित कार्य की परिगणना पहले से कदापि नही हो सकती जिससे ऐतिहासिक-विधि कुछ लाभदायक सिद्ध हो सके।

(३) भावात्मक विशेपानुमानीय विधि

भावात्मक विशेपानुमानीय विधि (The Abstract Deductive method) शुद्ध रूप से विशेपानुमानीय विधि है। इसको रेखागणितीय विधि भी कहते हैं। यह हम देख चुके हैं कि साक्षात्-विशेपानुमानीय विधि और व्यत्यय-विशेपानुमानीय विधि दोनों विशेपानुमान और सामान्यानुमान का प्रयोग करती हैं यद्यपि भिन्न क्रम में। इसी कारण से जेवन्स महोदय ने इनका नाम **सयुक्त विधियाँ या मिश्र विधियाँ** रक्खा है। कोई कोई इनको **भावात्मक विशेपानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि** से प्रथक् बोध कराने के लिये **द्रव्यात्मक विशेपानुमानीय विधियाँ** कहते हैं। भावात्मक विशेपानुमानीय विधि या रेखागणितीय विधि सामान्यानुमान का सर्वथा उपयोग नही करती अपितु विशेषानुमान का उपयोग करती है। इसमें न तो प्रत्यक्षीकरण का और न अनुभव के आधार पर समर्थन का प्रश्न उठता है क्योंकि यह प्रधान रूप से भाव से सम्बन्ध रखती है न कि द्रव्यात्मक पदार्थों से। रेखागणित, भावात्मक विशेपानुमानीय विधि को प्रयोग में लाता है। रेखागणित ऐसे भावों से सम्वन्ध रखता है जैसे, बिन्दु, रेखा, इत्यादि जो भौतिक अणुओं से और भौतिक रेखाओं से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि यह भावात्मक विचारों को ही प्रयोग में लाती है, इसलिये इसके विरोधी अश नही होते और यदि शुद्ध रीति से विशेपानुमान निकाला

जाय तो इसमें शक्ति के लिये कोई स्थान नहीं होता जैसे त्रिभुज के गुणों से निष्कर्ष निकाला जाता है कि किसी त्रिभुज के अन्तस्थ्नी तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं।

(४) विशेपानुमानीय विधि का औचित्य

उपर्युक्त विवेचन से यह बिलकुल स्पष्ट है कि सामान्यानुमान के तर्क शास्त्र में इस विधि के विवेचन के लिये कहाँ तक औचित्य है। यह विधि सचना विशेपानुमानीय विधि है। इसके औचित्य के लिये केवल एक ही आधार है कि कभी-कभी विचारक रेखागणितीय विधि का भी इसके क्षेत्र के बाहर प्रयोग कर डालते हैं जैसे वे इसका राजनीति अर्थशास्त्र और धर्म-शास्त्र में प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ एक सामान्यीकरण—"सब मनुष्य विवेकशील हैं" से यह निष्कर्ष विशेपानुमान द्वारा निकाला जाता है कि वह अपनी इच्छानुसार चिन्तन करने के लिये स्वतन्त्र है उसे अन्य बातों की ओर जो उसकी इसमें या अन्य बातों में स्वतंत्रता को रोकती हैं सर्वथा ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

अभ्यास प्रश्न

(१) प्रयोगिक विधियों की क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं ? वे कैसे दूर हो सकती हैं ?

(२) कार्य-संमिश्रण के सिद्धान्त में प्रयोगिक-विधियों का क्या उपयोग है ? उदाहरण देकर स्पष्ट व्याख्या करो।

(३) विशेपानुमानीय विधि का स्वरूप लिखकर यह बतलाओ कि इसका कहाँ-कहाँ उपयोग होता है ?

(४) साक्षात् विशेपानुमानीय विधि का किस प्रकार उपयोग किया जाता है, स्पष्ट लिखो।

(५) व्यत्यय-विशेपानुमानीय विधि का स्वरूप लिखकर उदाहरण दो।

(६) भावात्मक विशेपानुमानीय विधि का प्रयोग विशेष रूप से किस शास्त्र में होता है ? उदाहरण से उत्तर को स्पष्ट करो।

(७) सामान्यानुमान के प्रकरण में विशेपानुमानीय विधि का प्रयोग कहाँ तक उचित है ? इस पर प्रकाश डालो।

अध्याय ८

(१) संयोग[1] और इसका प्रथक्-करण

गत अध्याय में हम यह देख आए हैं कि कार्य-समिश्रण से उत्पन्न हुई कठिनाइयों को किस प्रकार विशेषानुमानीय-विधि के प्रयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। इस अध्याय में इस वात का विवेचन करेंगे कि कारण-बहुत्व के सिद्धान्त से उत्पन्न हुई कठिनाइयों को किस प्रकार सयोग और प्रथक्-करण के सिद्धान्तों के द्वारा कुछ हद तक दूर किया जा सकता है। कारण-बहुत्व के सिद्धान्त के अनुसार कार्य 'स' क, ख, ग इनमें से किसी एक कारण से उत्पन्न हो सकता है। जहाँ तक अन्वय-विधि का सम्बन्ध है वह इसमें सर्वथा कार्यकारी सिद्ध नही होती। कुछ मामलों में जहाँ हम निर्णयात्मक निष्कर्षों को प्राप्त नही कर सकते वहाँ हमें सम्भावनात्मक निकर्षो से ही सतोष करना पडता है। सयोग का सिद्धान्त कुछ नियम वनाता है जिनका प्रयोग कर के हम निर्णय करते हैं कि 'क' की स के कारण होने की सम्भावना, ख और ग के कारण होने से, अधिक या कम है। यदि हमें यह पता लगता है कि क और स प्राय एक साथ रहते हैं तो हम निर्णय करते हैं कि यह मामला आकस्मिक या सम्भावनात्मक नही है किन्तु इन दोनों में कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। अथवा दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि उनमें शायद कुछ कारणता का सम्बन्ध है और यह कारणता सम्बन्ध की सम्भावना मात्र नही है। अव हम जहाँ सयोग और सम्भावना के सिद्धान्त तथा उनके कारणों का विचार करेंगे।

(२) संयोग

जव हम कहते हैं कि यह कार्य सयोग वश हुआ है तव हमें उसमें

(1) Chance

कोई कार्य कारण सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि यदि कोई कार्य संयोगवश हुआ है तो उसका कोई कारण है ही नहीं। विश्व में जो कुछ होता है वह सकारण होता है किन्तु कुछ काम ऐसे हैं जो एक खास समय या क्षेत्र में पैदा होते हैं जिनके अन्दर आपस में प्रत्यक्षरूप से कोई कारण सम्बन्ध दृष्टि में नहीं आता। उनका पैदा होना या एक साथ होना संयोग से पैदा होना कहलाता है। जैसे एक आदमी कहीं जाने के लिये मोटर के अड्डे पर प्रतीक्षा कर रहा है इतने में वहीं एक सड़क के किनारे पर पांच हुए शाम को चार बजे एक पुराने मित्र से भेंट हो गई। इस प्रकार की भेंट को हम संयोग से मिलना कहते हैं। यह संयोग वश मिलना है क्योंकि इस प्रकार की भेंट के लिये पहले से कोई प्रबन्ध नहीं था। इसी प्रकार दो घटनाएँ जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है एक साथ पैदा होती हुई सी प्रतीत होती हैं तो हम उन्हें संयोग से पैदा हुई कहते हैं क्योंकि हम उनके बीच किसी प्रकार का क्रम-कारण-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते चाहे हम कितना ही प्रयत्न क्यों न करें। इसी प्रकार कुछ ऐसी भी घटनाएँ हैं जिनका पैदा होना इतना अनियमित या अनिश्चित है कि हम उनके नियमों का पता ही नहीं लगा सकते जिनके अनुसार उनके कारक इकट्ठे हो कर उनको पैदा करते हैं। मान लो चौपड़ के खेल में हम २ बार गोटियाँ फेंकते हैं और हम देखते हैं कि तीन और पाँच चेहरे वाली गोटियों में से प्रत्येक बार बार ऊपर को गिरी है और दो और चार चेहरेवाली गोटियों में से प्रत्येक तीन बार गिरी है और एक और छः चेहरे वाली गोटियों में से प्रत्येक तीन बार गिरी है। यदि ९ बार फिर गोटियाँ फेंकी जाँय तो परिणाम वही नहीं होगा। इस प्रकार के पदार्थों या घटनाओं को हम संयोग से उत्पन्न मानते हैं। इसी प्रकार यदि हम एक रुपये को फेंकते हैं और देखते हैं कि सिर उसका ऊपर को आता है और पूँछ नहीं आती तो हम कहते हैं कि ऐसा संयोगवश हुआ है।

जब हम यह कहते हैं कि दो घटनाएँ संयोगवश हुई हैं जैसे एक पुराने मित्र का मोटर के अड्डे पर मिलना या एक रुपये के फेंकने पर सांचा गिरना तो हम यह कभी नहीं कहते कि इनमें जो परिणाम उत्पन्न हुआ

है वह कारणों से मिलकर हुआ है। हमारा केवल इतना ही कहना होता है कि यह कैसे हुआ, हम कह नही सकते। हम कुछ नही कह सकते, मित्र की मोटर के अड्डे पर क्यों मुलाकात हुई, न हम कह सकते हैं रुपये के फेंकने पर वह सिर की ओर ही क्यों गिरा ? इसके विपरीत हम सोचते हैं कि यदि हम सब बातों को समझ लेते और सब कारणों को जान जाते तो हम भलीभाँति व्याख्यान कर देते कि अमुक खास घटना क्यों हुई अथवा क्यों दो-घटनायें जिनको हम कार्यकारण भाव से सम्बन्धित नही पाते, एक साथ पैदा होती हैं ? इस निष्कर्ष पर हम इसलिये पहुँचते हैं कि ससार में कोई कार्य विना कारण के उत्पन्न नही होता और दिये हुए उदाहरण मे हम कार्यकारणभाव को निश्चित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसका मुख्य कारण हमारी बुद्धि की निर्बलता है। यदि कोई सर्वज्ञ होता तो वह सब कुछ जान लेता और उसके लिये वस्तु सयोगवश पैदा होती हुई नही दीख पडती। हम समझते हैं कि ऐसे पूर्ण ज्ञान का होना सम्भव नही है क्योंकि हमारी शक्तियाँ सीमित हैं और विश्व के पदार्थ अत्यन्त जटिल हैं। अत यही कहा जा सकता है कि हमें 'सयोग', या नियम का अज्ञान है।

यद्यपि एक सर्वज्ञ के लिये सयोग नाम की वस्तु नही है, किन्तु जब हम समझते है कि एक घटना या पदार्थों का एक साथ होना सयोगवश होता है तब उस समय हम स्वीकार करते हैं कि हमारी बुद्धि का क्षेत्र सीमित है। लेकिन फिर भी हम यह स्वीकार नही कर सकते कि सयोग केवल आत्मीय कल्पना ही है। यह सत्य है कि हम कारणों को नही जानते किन्तु यह अज्ञान वैषयिक पदार्थ-जन्य है और इसका कारण विश्व-तत्व का विशाल और जटिल होना है। इसी हेतु से मिल महोदय ने सयोग का लक्षण लिखते हुए यह कहा है कि यह एक घटनाओं का ऐसा मेल है जिसकी अनुरूपता के वारे में हम कोई अनुमान नही लगा सकते। हम किसी घटना को सयोगजन्य तब कहते हैं जब हम प्राकृतिक पदार्थों की जटिलता के कारण उसके साथ किसी का कारणता-सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ हो जाते हैं।

(३) संयोग का प्रथक्करण

संयोग का प्रथक्करण[1] एक प्रकार की विधि है जिसके द्वारा हम सिद्ध करते हैं कि दो घटनाओं के मध्य जो संयोग है वह आकस्मिक नहीं है किन्तु सकारण है। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि यदि दो घटनाएँ केवल संयोग से सम्बन्धित हैं तो उनका सम्बन्ध बारम्बार नहीं होता। यदि वे दोनों बारम्बार एक साथ पैदा होती हैं तो सम्भव है उसमें कारणता-सम्बन्ध विद्यमान हो। यदि वे बारम्बार एक साथ पैदा नहीं होती हैं तो सम्भव है उनमें कोई कारणता का सम्बन्ध नहीं हो।

इसका प्रतिपादन वेन ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है :—

'घटनाओं के विविक्त से बार बार होने पर विचार करो और यह देखो कि इससे दोनों का बार-बार होना कितनी बार होता है यह विचार करते हुए कि उन दोनों में न तो सम्बन्ध है और न विरोध है। यदि दोनों अधिक बार एक साथ पैदा होती हैं तो उनमें सम्बन्ध है यदि कम बार पैदा होती हैं तो विरोध है।'

विविक्त से बार-बार होने से वेन का अर्थ यह है कि दोनों परस्पर सम्बन्धित घटनाएँ, कितनी बार स्वाभाविक रूप से पैदा होती हैं। इस प्रकार, मानलो हम सोच रहे हैं कि लाल आकाश और वर्षा में कोई सम्बन्ध है या नहीं तो सर्व प्रथम हमें दोनों घटनाओं के बार-बार होने को निर्धारित करना चाहिये। मान लो तीन दिन में रक्ताम्बर एक बार होता है और वर्षा सात दिन में एक बार ही होती है तो इसका फल यह हुआ कि दोनों एक साथ एक बार पैदा होते हैं। यदि दोनों घटनाओं को संयोग मात्र माना जाय तो दोनों का मिलना हमारी आशा के अनुसार एक बार होता है। यदि हम देखते हैं कि वास्तव में वे कई बार एक साथ पैदा होती हैं तब हम अनुमान लगाते हैं कि उन दोनों में अवश्य सम्बन्ध है। यदि इसके विपरीत हम देखते हैं कि वे कई बार एक साथ नहीं पैदा होती हैं तो हमें मानना पड़ता है कि उनमें आपस में विरोध है। इसी प्रकार मान लो एक चौपड़ के खेल में छह संख्या वाली गोटी कई बार गिरती

(1) Elimination

है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है—क्या छह सख्या वाली गोटी का बार-बार गिरना किसी कारणता के सम्बन्ध से होता है ? हम जानते हैं कि यदि गोटी साधारण है तो इसको छह बार में एक बार सीधा गिरना चाहिये; यदि दिए हुए मामले में यह पाँच बार सीधी गिरती है तो हम निष्कर्ष निकालते हैं कि इसके फेंकने में कहीं न कही कुछ गडबड है।

यहाँ अब एक और कठिनाई उपस्थित होती है। यह तब होती है जब फेंकने की सख्या अनिश्चित हो और हम प्रत्येक गोटी के चेहरों को छह दफा में एक बार ऊपर पडता हुआ देखें। एक सामान्य गोटी के गेरने में पहले छह फेंकावों में चार दफा उपर को चेहरे का आना कोई असम्भव कार्य नही है। यद्यपि यह अच्छी तरह औसत से अधिक मालूम होता है किन्तु इस अवस्था से हम यह अनुमान नही कर सकते कि हमारी फेंकने की डब्बी गोटियों से भरी हुई है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि सम्भव है यह गोटियों से भरी हुई हो। मान लो हम १००० बार फैंकें और उसी प्रकार की अधिकता देखने में आवे तो इस बात की सम्भावना कि यह गोटियों से भरी हुई है, बढ जाती है। सख्या कितनी ही औसत से अधिक क्यों न हो, यह हमेशा अधिक या कम का प्रश्न है। यदि सख्या केवल अनिश्चित हो तो क्या हम निश्चय की आशा कर सकते हैं ? क्योंकि अनन्त सख्या असम्भव है, अतः यह कहना पड़ेगा कि सयोग के प्रथक् करण का प्रश्न सम्भावना के प्रश्न से बँधा हुआ रहता है।

(४) सम्भावना

सम्भावना[1] शब्द का अर्थ स्पष्ट नही हैं। इस शब्द के साधारण अर्थ से वैज्ञानिक अर्थ सर्वथा भिन्न है। साधारण रीति से जब हम यह कहते हैं कि अमुक कार्य या घटना की अधिक सम्भावना है तो इसका अर्थ यह होता है कि अमुक कार्य या घटना की न होने की अपेक्षा होने की अधिक सम्भावना है। एक कार्य या घटना जो कदाचित् उत्पन्न

(1) Probability

होती है उसे साधारण बोलचाल में सम्भावनात्मक नहीं कहते हैं किन्तु शक्य[1] कहते हैं। अतः साधारण जीवन में हम सम्भावना और शक्यता में भेद दिखलाते हैं। किसी वस्तु को हम शक्य तब कहते हैं जब उसमें हम कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं पाते। इस अर्थ में एक सुवर्ण-गिरि शक्य है किन्तु साधारण बोलचाल की भाषा में यह सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक रूप से हम एक कार्य को सम्भावनात्मक कहते हैं यदि वह एक ओर असम्भव न हो और दूसरी ओर निश्चित न हो। यदि वस्तु आत्यन्तिक विरोध से परिपूर्ण हो तो हम उसे सर्वथा असम्भव कहते हैं, तथा कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें हम निश्चित कहते हैं। जैसे जब दो घटनाओं में कारणता सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है तब हम उनको निश्चित कहते हैं। अतः यह कहना उपयुक्त है कि सम्भावना एक मात्राओं या अंशों (Degrees) का मामला है जो असम्भवता से कुछ अच्छी है किन्तु निश्चयता से कुछ खराब है। अतः साधारण भाषा में हम जिसे शक्य कहते हैं वैज्ञानिक भाषा में सम्भव भी कहलाती है।

कुछ विद्वानों ने सम्भावना को भिन्न (Fraction) के रूप में भी प्रकट किया है। मान लो १ निश्चय के लिए रक्खा गया है और असम्भव के लिये ० रक्खा गया है तो सम्भावना एक भिन्न होगी और यह [illegible] या [illegible] हो सकती है। इसमें हर[2] एक घटना के होने के बारों को बतलाता है और अंश[3] उसके दूसरी घटना के साथ होने के बारों को बतलाता है। चौसर के खेल में छह को ऊपर गिरने की सम्भावना हर के लिये फेंकने की संख्या रखकर प्रकट किया गया है और बारों की संख्या के अनुसार अंश के लिये छह बार फेंका गया है। यह हम देख चुके हैं कि यदि कई बार फेंकने का प्रयत्न किया जाय तो छह की ऊपर गिरने की सम्भावना १/६ होगी अर्थात् इसके गिरने की सम्भावना छह में एक बार है।

कुछ गणितज्ञ तार्किक लोग सम्भावना के सिद्धान्त को अनुपात द्वारा प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि यदि छह के ऊपर गिरने

---

(1) Possible, (2) Denominator, (3) Numerator

की भिन्न की सम्भावना ⅙ है तो जिन मामलों में यह होता है उनका अनुपात १ : ५ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि इसके होने के संयोग १ : ५ हैं अथवा न होने के संयोग ५ : १ हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम यह स्पष्ट समझ गये होंगे कि किन प्रकार के उदाहरणों में सम्भावना का प्रश्न उठता है। ऐसे उदाहरणों में जिनके होने की संख्या सीमित है उनमें घटना कई बार होती है, तथापि हम निश्चय पूर्वक नहीं जान सकते कि अमुक उदाहरण में यह घटना होगी या नहीं। पश्चात् हम इसकी सम्भावना की परिगणना करना आरम्भ करते हैं। हम विश्वास करते हैं कि कुछ नियम ऐसे हैं जो घटनाओं पर शासन करते हैं इसलिये उनको अवश्य होना चाहिये, किन्तु उनके कारण और नियमों का हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है। यदि हमारा ज्ञान पूर्ण होता तो हम घटना के निश्चय पूर्वक होने की सम्भावना कर सकते थे। चूंकि हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है, अत हम इसकी सम्भावना की कूत लगाते हैं।

(५) सम्भावना के आधार

सम्भावना के आधार के विषय में तार्किक लोग हमेशा से विचार-विभेद रखते आये हैं। इनमें जेवन्स (Jevons) आदि महानुभावों का यह विचार है कि सम्भावना के आधार आत्मीय (Subjective) होते हैं। सम्भावना बहुत कुछ हमारे इस विश्वास पर अवलम्बित है कि अमुक घटना उत्पन्न होती है या इस प्रकार होती है। अन्य तार्किकों के अनुसार यह केवल वैषयिक (Objective) है और यह अनुभव पर आधारित है। इस विषय में कारवेथ रीड ने अपने समालोचनात्मक विचार, कि सम्भावना केवल आत्मीय है, इस प्रकार निबद्ध किये हैं —

(क) प्रथम, विश्वास का हम संतोष पूर्वक माप नहीं कर सकते। यह कोई नहीं कह सकता कि विश्वास, आत्मा की एक अवस्था या वृत्ति की भाँति, एक भिन्न के रूप में प्रकट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि एक पोस्ट आफिस के थैले में बहुत से पत्र भर दिये जाँय और हमें केवल यह ज्ञान हो कि इसमें एक पत्र रामू के नाम का है। हम पत्रों को एक-एक करके निकालते हैं और हर बार अपने विश्वास का मूल्याङ्कन

करते जाते हैं कि अब की राम का पत्र निकलेगा। अब सोचिये—क्या हमारा विश्वास राम के पत्र को दूसरी बार निकालने में बढ़ता जाता है ज्योंही कि पत्रों की संख्या घटती जाती है? हमारे लिये ऐसा निश्चित रूप से कह देना सम्भव नहीं है।

(ख) द्वितीय, हम देखते हैं कि विश्वास की वास्तविक वस्तुओं के साथ अनुरूपता दृष्टि गोचर नहीं होती। मनोविज्ञान की दृष्टि से विश्वास एक चित्त-वृत्ति है जिसमें आशा भय स्नेह, लोभ आग्रह आदि बातें भरी रहती हैं और वह केवल अनुभव पर अवलम्बित नहीं रहता। दो मनुष्यों का अनुभव एक समान होने पर भी उनमें से एक कह सकता है कि मैंने शाम के समय भूत देखा है और इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति जो अन्ध विश्वासी नहीं है कह सकता है कि उसने केवल चन्द्र की ज्योति के अन्दर अस्प प्रकाशित एक वस्तु मात्र को ही देखा है। इससे यह सिद्ध है कि यदि यह केवल विश्वास का ही कार्य है तो हम इसकी सम्भावना का कोई अन्दाजा नहीं लगा सकते।

(ग) तृतीय यदि सम्भावना का संबन्ध सामान्यानुमान से बतलाया जाय तो वह अवश्य ही अनुभव पर आधारित समझी जायगी। क्योंकि सामान्यानुमान की तमाम सामग्री अनुभव से ही ली जाती है। सामान्यानुमान का आधार विश्वास नहीं है किन्तु इसका आधार वह विश्वास हो सकता है जो वस्तुओं से सामञ्जस्यता रखता हो। अतः यह विचार कि सम्भावना केवल आत्मीय विषय है गलत है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस विचार पर पहुँचते हैं कि सम्भावना का सिद्धान्त जिसका हमने सामान्यानुमान में विचार किया है उसका केवल आत्मीय[1] पक्ष नहीं है किन्तु विषय पक्ष[2] भी है। आत्मीय दृष्टि से तो यह कहना पड़ेगा कि यह आत्मीय या मानसिक परिणति है किन्तु विषय की दृष्टि से तो यह अनुभव पर अवलम्बित है। यथार्थ में यही कहना उचित है कि सम्भावना आत्मीय और वैषयिक दोनों है। इसलिये जब

---

(1) Subjective. (2) Objective. (3) Side.

कभी हम कहते हैं कि यह घटना सम्भव है तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि इसके होने में कुछ न कुछ साक्षी अवश्य है और कुछ न कुछ नही भी है। और जब हम यह देखते हैं कि इसके होने के सयोग, न होने की अपेक्षा, अधिक है तब हम कहते हैं कि हमारा विश्वास है कि ऐसा होगा। इस प्रकार हमने देखा कि इसमें आत्मीय और वैषयिक दोनों तत्व विद्यमान हैं।

(६) सम्भावना और सामान्यानुमान

साधारण रूप से तार्किकों का यह विचार है कि सम्भावना का सिद्धान्त सामान्यानुमान पर अवलम्बित है किन्तु इसके विपरीत जेवन्स महोदय का मत है कि सामान्यानुमान सम्भावना पर अवलवित है क्योंकि सामान्यानुमान द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं, सर्वथा निश्चयात्मक नही होते।

जेवन्स का कहना है कि प्रकृति इतनी विशाल है और प्राकृतिक पदार्थों का रूप इतना जटिल है कि हम यह निश्चय रूप से कभी नही कह सकते कि हमने जो कारणता का सम्बन्ध स्थापित किया है वह अवश्य ही सत्य होगा। किन्तु यह पहले बतलाया गया है कि सामान्यानुमान प्रकृति की एकरूपता पर अवलम्बित है। अत इससे निकाले हुए निष्कर्ष सत्य हो सकते हैं यदि प्रकृति वास्तव में एक रूप हो और सर्वदा के लिए उसी प्रकार रहे। जैसा कि उनका कहना है "सामान्यानुमान् निश्चयात्मक हो सकता है यदि हमारा ज्ञान, उन शक्तियों का, पूर्ण हो जो कि विश्व में कार्य कर रही हैं और हमें उसी समय यह भी निश्चय हो जाय कि जिस शक्ति ने विश्व को पैदा किया है वही शक्ति इसको इसी प्रकार चलाती रहेगी और उसमें किसी प्रकार का मनमानी परिवर्तन न होने देगा।' किन्तु हमें ऐसे कारणों की सत्ता की भी सम्भावना है जिनका हमें ज्ञान नही है और ऐसा समय कभी भी आ सकता है कि कोई आशातीत घटना घट जावे, इसलिये कहना होगा कि सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त किये हुए निष्कर्ष केवल सम्भावनात्मक होते हैं और सामान्यानुमान का आधार सम्भावना है।

किन्तु इस पर यदि समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किया तो प्रतीत

होगा कि यह वेबमहोदय का विचार केवल निश्चय (Certainty) के सम्पूर्ण न होने के कारण प्रतीत होता है। यह बहुत हद तक ठीक है कि प्राकृतिक पदार्थों की जटिलता के कारण हम कारणता के सम्बन्ध को ठीक रूप से नहीं समझ सकते। किन्तु यह कहना कि हम उसे किसी प्रकार समझ ही नहीं सकते अतिशयोक्ति पूर्ण है। सैद्धान्तिक रूप से हम यह कह सकते हैं कि विश्व में सर्वथा कोई वस्तु निश्चित नहीं है किन्तु वैज्ञानिक क्षेत्र में हम इस प्रकार की निश्चिति नहीं चाहते। फाउलर महोदय ने इसी के अनुरूप बहुत ठीक कहा है जहाँ तक मनुष्य के ज्ञान की सीमा है सब सामान्यानुमान द्वारा निकाले गये निष्कर्ष निश्चयात्मक होते हैं।" सामान्यानुमान के द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों के बारे में कोई खास प्रकार की अनिश्चिति नहीं बतलाई जा सकती। अपेक्षा-वाद के आधार पर यह कहना होगा कि सामान्यानुमान द्वारा निर्धारित सत्य अन्य सत्यों की तरह खास-खास अवस्थाओं के अन्दर अवश्य निश्चयात्मक होते हैं। यह हमारे ज्ञान की सीमा के बाहर की बात है कि हम उससे परे की चिन्ता करते हैं। मनुष्य के ज्ञान की सापेक्षता इसी में है कि वह अपनी सीमाओं के अन्दर अवस्थाओं के अनुसार सत्य का ज्ञान करता रहता है। इसलिये कहना होगा कि वेबस महोदय का सिद्धान्त अधिक विवादपूर्ण है।

यथार्थ और सम्यक विचार तो यही है कि सम्भावना का आधार सामान्यानुमान है। सामान्यानुमान सम्भावना का वैषयिक आधार है क्योंकि वे पदार्थ जिन पर हम अपने सम्भावनात्मक नियम बनाते हैं अनुभव पर अवलम्बित रहते हैं। जैसा कि मिल महोदय का कहना है कि "हम अपने दीर्घकाल से पुरिनिष्ठित प्रत्यक्षीकरण के आधार पर अवस्थित सामान्यानुमान पर पूरा विश्वास करते हैं और हमारी तमाम आनुमानिक प्रक्रियाएँ इसी प्रकार कार्य करती हैं। यदि कई सालों के बीतने पर हमारे अनुभव में यह आता है कि प्रत्येक वर्ष तीन दिन वर्षा होने के बाद चार दिन सूखा रहता है तो हमें इसमें सामान्यानुमानीय नियामकता प्रतीत होती है और हम इसी आधार पर कहते हैं कि भविष्य में भी ऐसा ही होगा। अतः स्पष्ट है कि सम्भावना सामान्यानुमान पर अवलम्बित रहती है।

(७) सम्भावना का तार्किक आधार

वैज्ञानिकों का कहना है कि विश्व की रचना बुद्धि पूर्ण है और हम विश्व की प्रत्येक वस्तु का कारणता के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यान कर सकते हैं, किन्तु मानवीय ज्ञान की अपूर्णता के कारण बहुत से कार्य सयोग या दैवयोग से उत्पन्न होते हुए से प्रतीत होते हैं। फिर भी हम प्रयत्न करते हैं कि विश्व के पदार्थों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। सम्भावना के सिद्धान्त के द्वारा हम सयोगजन्य पदार्थों या घटनाओं का व्याख्यान करते हैं। अत' हमारी सम्भावना की गणना कुछ ज्ञान और अज्ञान के समिश्रण पर अवलवित रहती है। असभावना, सम्भावना की विरोध सूचक नही है। असम्भावना का 'अर्थ केवल यही है कि यह सम्भावना की लघु मात्रा को प्रदर्शित करती है। जैसे, हम कहते हैं कि आज वर्षा की असम्भावना है—इसका अर्थ यह नही है कि आज वर्षा का होना असभव है किन्तु इसका यही अर्थ है कि ऋतु की अवस्था के अनुसार यही सम्भव है कि आज वर्षा न होगी। सम्भावना का तार्किक आधार वैकल्पिक निर्णय (Disjunctive judgement) है अथवा इस प्रकार के निर्णयों का समूह है जिसमें विशेषानुमानीय निर्णय भी सम्मिलित हैं। वैकल्पिक निर्णय जिनसे हम सम्भावना को निकालते हैं उनमें हमारे सभी विकल्प एक दूसरे के व्यावर्तक, निश्चित, समग्रतासूचक तथा समान मूल्यवाले होने चाहिए।

समान समव विकल्प ही हमारे ज्ञान के विषय होते हैं और जब उनमें से एक को अधिक मानने के लिये कोई आधार नही होता तभी सम्भावना कार्य करती है। जैसे, एक टोकरी में तीन गेंदे रक्खी हुई हैं। उनमें एक काली और दो सफेद हैं। जब हम उसमें से एक गेंद निकालना चाहते हैं तब शक पैदा होती है कि सफेद निकलेगी या काली। किन्तु सम्भावना निश्चयपूर्वक यह बतलाती है और सख्या में निर्धारित करती है कि इसका क्या परिणाम होगा। उपर्युक्त उदाहरण की प्रदर्शित सम्भावना वैकल्पिक वाक्य द्वारा इस प्रकार बतलाई जा सकता है "स या तो क है या ख है

या ग है' । यहाँ 'ख' निकालने के लिये और 'क', काली गेंद के लिये 'ख', सफ़ेद गेंदों में से एक के लिये और 'ग' दूसरी सफ़ेद गेंद के लिये प्रयोग किये गये हैं । इस वैकल्पिक वाक्य में हम देखेंगे कि विकल्प पूर्ण प्रकट और एक दूसरे के व्यावर्तक हैं । क्योंकि इसमें केवल तीन विकल्प हैं अतः काली गेंद के निकलने की सम्भावना $\frac{1}{3}$ या १ : २ है और सफ़ेद गेंद निकलने की सम्भावना $\frac{2}{3}$ या २ : १ है । इससे हमें यह भी मालूम होता है कि यहाँ जो गणना वैकल्पिक वाक्य से सम्बन्धित है वह विशेषतः अनुमानीय है । सम्भावना के सिद्धान्त का प्रयोग, गवाही या साक्षी की सत्यता तथा भविष्य-वाणियों की सत्यता की परख करने के लिये किया जाता है । सम्भावना की परिगणना करने के लिये हमें गणितशास्त्रीय क्रम संचय[1] और संयोग के सिद्धान्त का अवलम्बन करना होगा । इसके लिये निम्नलिखित नियम काम में लाये जाते हैं —

(८) सम्भावना की परिगणना के नियम—

सम्भावना की परिगणना के लिये तार्किक गणितज्ञों ने कई विधियाँ निकाली हैं जिनका हम यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) यदि हमें केवल विकल्पों के एक समूह को लेकर ही विचार करना है जिसमें प्रत्येक विकल्प समान मूल्य वाला हो तो हम उस दी हुई वस्तु को एक वैकल्पिक-वाक्य द्वारा प्रकट कर सकते हैं । जैसे $क_1$ $क_2$, $क_3$ ... $क_न$ $\frac{न}{क}$ है । तब हम प्रत्येक विकल्प की सम्भावना को $\frac{1}{न}$ भिन्न से प्रकट कर सकते हैं । इसका अंकगणित द्वारा भी व्याख्यान हो सकता है । मान लो क या तो $क_1$ $क_2$ $क_3$ क हैं और ये सब सम्भाव्य विकल्प हैं । ये सब एक दूसरे के व्यावर्तक और समान मूल्य के भी हैं । इसमें केवल चार विकल्प हैं (अर्थात् न ४ है) । तब प्रत्येक विकल्प की सम्भावना $(\frac{1}{न})$ $\frac{1}{4}$ है । यदि विकल्पों की संख्या न हो तब एक साथ विकल्प के

(1) Permutation.

सयोग, पता न लगने के कारण $\left(\frac{न - १}{न}\right)$ होंगे। यदि ४ विकल्प हों तो एक खास विकल्प के सयोग, पता न लगने के कारण $\frac{४-१}{४}$ होंगे। मान लो एक कलश में ३ गोलियाँ हैं उनमें एक काली है और २ सफेद हैं। तब एक काली गोली निकलने की सम्भावना $\frac{१}{३}$ होगी और सफेद गोलियाँ निकलने की $\frac{२}{३}$ होगी। काली गोली की न निकलने की सम्भावना ($\frac{३-१}{३}$) अर्थात् $\frac{२}{३}$ होगी और सफेद गोलियों की न निकलने की सम्भावना ($\frac{३-२}{३}$) अर्थात् $\frac{१}{३}$ होगी।

(२) यदि दो घटनाएँ स्वतंत्र हों और उनमें से एक की सम्भावना $\frac{१}{म}$ है और दूसरी की सम्भावना $\frac{१}{न}$ है, तब दोनों की एक साथ होने की सम्भावना $\frac{१}{म न}$ होगी। यदि एक मनुष्य को 'क' पाँच वार में एक वार मिलता है और 'ख' दो वार तो 'क' और 'ख' दोनों की एक साथ मिलने की सम्भावना $\frac{१}{५} \times \frac{२}{५} = \frac{२}{२५}$ होगी। इसका इस प्रकार नियम वनता है—यदि दो घटनाएँ स्वतंत्र हैं अर्थात् उनका आपस में न तो सम्वन्ध है और न विच्छेद है तो उनके एक साथ होने की सम्भावना उनकी अलग अलग सम्भावनाओं को गुणा करके निश्चित की जा सकती है। यदि 'क' और 'ख' पचीस वार में दो से अधिक वार मिलते रहते हैं तो हो सकता है, उनमें सम्वन्ध हो, तथा यदि उससे कमवार मिलते हैं तो दोनों के वीच में विच्छेद मालूम होता है।

(३) निर्भर[1] घटनाओं के मामले में सम्भावना को निश्चित करने के लिये वही नियम है जो स्वतंत्र घटनाओं के मामले में प्रयोग किया जाता है। एक सिक्के की ऊपर गिरने की सँम्भावना जव उसको पहली वार फेंका जाय तव $\frac{१}{२}$ है, जव दूसरी वार फेंका जाय तव $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$ अर्थात् $\frac{१}{४}$ है और जव तीसरी वार फेंका जाय तव $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$ अर्थात् $\frac{१}{८}$ है। यदि हम इसको

---

(1) Dependent

बीमापत्रों में प्रभावित करें तो, यदि 'क' की सम्भावना $\frac{१}{म}$ है और 'ख' की सम्भावना $\frac{१}{न}$ है तो 'क' और 'ख' की सम्भावना $\frac{१}{म न}$ होगी। इस प्रकार की गणना से गवाही वगैरह का मूल्य नियत किया जा सकता है। गवाही खराब तब हो जाती है जब यह एक हाथ से दूसरे हाथ में चली जाती है। मान लो 'क' की गवाही का मूल्य $\frac{1}{2}$ है और वह इसको 'ख' को बतलाता है—जिसकी गवाही का मूल्य भी $\frac{1}{2}$ है और 'ख' इसको 'ग' को बतलाता है—जिसकी गवाही का मूल्य भी $\frac{1}{2}$ है तो 'ग' की गवाही का फलात्मक मूल्य $\frac{1}{2} \times \frac{1}{2} \times \frac{1}{2}$ अर्थात् $\frac{1}{8}$ होगा। इस प्रकार सबकी इकट्ठी गवाही की सम्भावना निकाली गई है जैसे कि पहले के उदाहरण में भिन्न २ घटनाओं की सम्भावनाओं का परिणाम निकाला गया था।

(४) यदि दो घटनाएँ एक साथ नहीं उत्पन्न होतीं तो दोनों के होने की सम्भावना प्रत्येक की सम्भावनाओं का जोड़ होगा। मान लो किसी मनुष्य के बुखार से मरने की सम्भावना $\frac{1}{5}$ है और हैजे से मरने की सम्भावना $\frac{1}{10}$ है तब या तो बुखार से मरने की सम्भावना या हैजे से मरने की सम्भावना $(\frac{1}{5}+\frac{1}{10})$ अर्थात् $\frac{3}{10}$ होगी। हम देख चुके हैं कि फेंकने पर सिक्के के ऊपर गिरने की सम्भावना $\frac{1}{2}$ है और दूसरी फेंकान में ऊपर गिरने की सम्भावना जो पहले फेंकाव पर निर्भर है, $\frac{1}{4}$ है अब हम देख सकते हैं कि इन दोनों में लगातार फेंकने पर ऊपर गिरने की सम्भावना $\frac{1}{2}+\frac{1}{4}=\frac{3}{4}$ होगी।

(५) यदि किसी व्यक्ति ने १० दिन के लिये क्रम पूर्वक वास्तव लिये हैं तो उसकी एक बार और लेने की सम्भावना का अनुपात १ १   १ होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे अपने लगातार सर्वथा अविरोधी अनुभव के साथ साथ किसी घटना के एक बार भी दुहराने की सम्भावना, बहुत अधिक हो जाती है। इस प्रकार की सम्भावना की गणना से साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान का अच्छी तरह से मूल्यांकन हो सकता है।

(६) यदि 'क', 'ख' और 'ग' के साथ उत्पन्न होता है और 'क' और 'ख' दोनों की एक साथ होने की सम्भावना $\frac{४}{५}$ है और 'क' और 'ख' की $\frac{४}{५}$ है तो 'ख' और 'ग' की एक की सम्भावना जो 'क' का चिह्न है, उनकी असम्भावनाओं को मिलाकर अर्थात् $(\frac{१}{५} \times \frac{१}{५}) = \frac{१}{२५}$ होगी। और इसको १ में से घटाने पर परिणाम $(१ - \frac{१}{२५}) = \frac{२४}{२५}$ होगा। इसकी गणना करने का नियम यह है—यदि एक घटना, दो या अधिक स्वतन्त्र घटनाओं के साथ घटती है, तो यह सम्भावना, कि ये सब मिलकर इनका संकेत बनेंगी, सब भिन्नों का गुणा करके जो असम्भावना को बतलाती हैं, और जो प्रत्येक, इसका संकेत है उनके योग को १ में से घटा देने से, प्राप्त होती है। इस नियम के द्वारा हम कोर्ट में सम्मिलित गवाही के मूल्य का माप कर सकते हैं। मान लो कचहरी में एक गवाह की गवाही का मूल्य $\frac{३}{४}$ है और दूसरे की गवाही का मूल्य भी $\frac{३}{४}$ है और अन्य का भी मूल्य $\frac{३}{४}$ है तो उनकी गवाहियों का सम्मिलित मूल्य $१ - (\frac{१}{४} \times \frac{१}{४}) = (१ - \frac{१}{१६}) = \frac{१५}{१६}$ होगा। यहाँ पहली गवाही की असम्भावना $\frac{१}{४}$ है और दूसरी की भी $\frac{१}{४}$ है। उनका योग हुआ $\frac{१}{१६}$। यदि $\frac{१}{१६}$ को १ में से घटा दें तो हमें $\frac{१५}{१६}$ मिलेंगे।

(६) सम्भावनात्मक तर्क और संनिकृष्ट-सामान्यीकरण

सम्भावनात्मक तर्क, उसे कहते हैं जिसके वाक्य, हमें निश्चित निष्कर्ष न देकर सम्भावनात्मक निष्कर्ष देते हैं। इनके अनेक श्रोत हो सकते हैं। कुछ को तो हम अभी जान चुके हैं। जैसे, साधारण-गणनाजन्य-सामान्यानुमान उपमा-जन्य-सामान्यानुमान, असमर्थित प्राक्कल्पना आदि इनसे प्राप्त निष्कर्ष, केवल सम्भवनात्मक होते हैं, निश्चित नहीं। साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम कोई कारणता का सम्बन्ध नहीं देखते, अतः इससे निकाला हुआ निष्कर्ष सम्भावनात्मक ही होता है—सम्भावना भी प्रत्यक्षीकरण किये हुए उदाहरणों की संख्या तथा अनुभव के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

---

(1) Probable argument

उपमा-अथवा-सामान्यानुमान में भी हम देखते हैं कि अनुमान अपूर्ण समानता या सादृश्य पर निर्भर रहता है और तर्क की सम्भावना भी सादृश्य या समानता की बातों की संख्या पर अवलंबित रहती है। इसी प्रकार एक असमर्थित किन्तु योग्य प्राक्कल्पना से प्राप्त किया हुआ निष्कर्ष भी सम्भावनात्मक होता है। यह निश्चिति को तभी प्राप्त कर सकता है जब यह सिद्ध हो जाता है। पश्चात् यह नियम कहलाता है। इसका विवेचन हम पांचवें अध्याय में कर चुके हैं।

सम्भावनात्मक तर्क का दूसरा स्रोत सन्निकट—सामान्यीकरण द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष है। सन्निकट-सामान्यीकरण (Approximate Generalisation) का रूप इस प्रकार है:-प्राय 'क' 'ख' होते हैं। यहाँ प्राय शब्द के पर्यायवाची शब्द बहुत प्राय करके अमूमन अक्सर आदि लिये जा सकते हैं। विशेषानुमान में ये सब विवेचनात्मक शब्द 'कुछ' के बराबर हैं। किन्तु सामान्यानुमानीय वाक्य विषय की ओर ध्यान आकर्षित करता है अतः जहाँ निश्चिति प्राप्त नहीं की जा सकती वहाँ हम वाक्य की सम्भावना के रूप का विचार करते हैं। सन्निकट-सामान्यी-करण की सम्भावना की मात्रा उदाहरणों की संख्या जो सन्निकट सामान्यीकरण के साथ मेल रखती है और दूसरे उदाहरणों की संख्या जो सन्निकट-सामान्यीकरण के साथ मेल नहीं रखती है के मध्य अनुपात पर अवलंबित रहती है। कार्यात्मक जीवन में सन्निकट-सामान्यीकरणों का बड़ा महत्व है क्योंकि यद्यपि किसी खास मामले में हमें निश्चय न भी हो कि यह सत्य है तथापि हमारी दैनिक आवश्यकतायें चाहती हैं कि हमें किसी न किसी रूप में कार्य करना ही चाहिये। इसलिये ही यह कहा जाता है कि सम्भावना जीवन की पथप्रदर्शक होती है। इसी हेतु से कहावतों का अपना निज का मूल्य होता है। यह हो सकता है कि वैज्ञानिक रूप से उनमें अर्धसत्य ही क्यों न हो और इसलिये वे गलत भी हों। जैसे एक व्यापारी 'ईमानदारी सब से उत्तम नीति है' (Honesty is the best policy) इस विचार पर अपने व्यापार की नीति का निर्माण करता है। इसी प्रकार अन्य काम

भी ससार के चलते हैं। किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में सन्निकट-सामान्यीकरण का मूल्य बहुत कम है।

सन्निकट-सामान्यीकरण दो प्रकार के होते हैं—(१) वे जिनके **बारे में हम जानते हैं कि वे निश्चित रूप से सम्भावनात्मक हैं और (२) वे जो ज्ञान की वर्तमान अवस्था के अन्दर सम्भावनात्मक गिने जाते हैं किन्तु ज्ञान के पुनः विकास के साथ निश्चित भी सिद्ध किये जा सकते हैं।** हम देख चुके हैं कि साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान, वैज्ञानिक-सामान्यानुमान का आरम्भ बिन्दु बन सकता है। उसी प्रकार उपमा-जन्य सामान्यानुमान (Analogy) के द्वारा कारणता-सम्बन्ध की खोज मिल सकती है और तब हमारा वाक्यात्मक अनुमान अपवादों का निर्देश करके सत्य सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिये, यह वाक्य—'बहुत सी धातुएँ ठोस हैं' सन्निकट सामान्यीकरण है। किन्तु रासायनिकों ने यह निश्चित रूप से बतला दिया है कि केवल एक ही धातु है—पारा—जो ठोस नही हैं। जब यह पता लग गया तब सन्निकट सामान्यीकरण, अपवाद को प्रकट करके, सत्य सिद्ध हो सकता है। जैसे, 'सब धातुएँ, केवल पारे को छोड कर ठोस हैं।'

इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सन्निकट-सामान्यीकरण द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं। निश्चयात्मक अनुमान केवल सामान्य वाक्यों से निकाला जा सकता है, जैसे, 'सब मनुष्य मरणशील हैं' 'कोई मनुष्य पूर्ण नही है'। अब एक सन्निकट-सामान्यीकरण का भी उदाहरण लीजिये, 'अधिकतर जुआरी बेईमान होते हैं'। यदि कोई खास व्यक्ति जुआरी है तो हम इससे यही अनुमान निकाल सकते हैं कि वह शायद बेईमान होगा। हमारा यह तर्क सम्भावनात्मक है क्योंकि इसका वाक्य सामान्य निष्कर्ष को सिद्ध नही कर सकता। सामान्य निष्कर्ष तो केवल सामान्यानुमान से ही प्राप्त हो सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न

(१) सयोग का क्या अर्थ है? उदाहरण दो। इसका पृथक्-करण कैसे किया जा सकता है?

उपमा-अन्य-सामान्यानुमान में भी हम देखते हैं कि अनुमान अपूर्ण समानता या सादृश्य पर निर्भर रहता है और तर्क की सम्भावना भी साम्य या समानता की बातों की संख्या पर अवलंबित रहती है। इसी प्रकार एक असमर्थित किन्तु योग्य प्राक्कल्पना से प्राप्त किया हुआ निष्कर्ष भी सम्भावनात्मक होता है। यह निश्चिति को तभी प्राप्त कर सकता है जब यह सिद्ध हो जाता है। पश्चात् यह नियम कहलाता है। इसका विवेचन हम पांचवें अध्याय में कर चुके हैं।

सम्भावनात्मक तर्क का दूसरा स्रोत सन्निकट—सामान्यीकरण द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष हैं। सन्निकट-सामान्यीकरण (Approximate Generalisation) का रूप इस प्रकार है:-प्राय: क 'ख' होते हैं। यहाँ प्राय शब्द के पर्यायवाची शब्द बहुत प्रायः करके अनुमान अक्सर आदि लिये जा सकते हैं। विशेषानुमान में ये सब विशेषणात्मक शब्द 'कुछ' के बराबर हैं। किन्तु सामान्यानुमानीय वाक्य विषय की ओर ध्यान आकर्षित करता है अत: यहाँ निश्चिति प्राप्त नहीं की जा सकती यहाँ हम वाक्य की सम्भावना के रूप का विचार करते हैं। सन्निकट-सामान्यी-करण की सम्भावना की मात्रा उदाहरणों की संख्या जो सन्निकट सामान्यीकरण के साथ मेल रखती है और दूसरे उदाहरण की संख्या जो सन्निकट-सामान्यीकरण के साथ मेल नहीं रखती है के मध्य अनुपात पर अवलंबित रहती है। कार्यात्मक जीवन में सन्निकट-सामान्यीकरणों का बड़ा महत्व है क्योंकि यद्यपि किसी खास मामले में हमें निश्चय न भी हो कि यह सत्य है तथापि हमारी दैनिक आवश्यकताएं चाहती हैं कि हमें किसी न किसी रूप में कार्य करना ही चाहिये। इसलिये ही यह कहा जाता है कि सम्भावना जीवन की पथप्रदर्शक होती है। इसी हेतु से कहावतों का अपना निज का मूल्य होता है। यह हो सकता है कि वैज्ञानिक रूप से उनमें अर्धसत्य ही क्यों न हो और इसलिये वे गलत भी हों। जैसे एक व्यापारी 'ईमानदारी सब से उत्तम नीति है' (Honesty is the best policy) इस विश्वास पर अपने व्यापार की नीति का निर्माण करता है। इसी प्रकार अन्य कार्य

(११) "एक या दो घटनाएँ जो नही हो सकती—उनके होने की सम्भावना—अलग अलग होनेवाली सम्भावनाओं का जोड है।" उक्त नियम की व्याख्या करो और इसका यथार्थ उदाहरण भी दो।

(१२) सयोग और सम्भावना में अन्तर प्रकट करो और सामान्यानुमान के क्षेत्र में सम्भावना का स्थान बतलाओ। तथा यह भी बतलाओ कि सम्भावना के द्वारा किस प्रकार निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(२) क्या संसार में संयोग भी कोई वस्तु है ? संयोगवश और कारणवश इनका अभिप्राय स्पष्ट करो ।

(३) सम्भावना और सामान्यानुमान में क्या सम्बन्ध है ? सम्भावना द्वारा किसी वस्तु का हमें किस प्रकार का ज्ञान होता है ?

(४) सम्भावनात्मक तर्क का सप्रमाण लिखकर उदाहरण दो । सम्भावना की गणना के नियम बतलाओ और उनके उदाहरण भी दो ।

(५) सम्भावना और सामान्यानुमान में क्या अन्तर है ? सम्भावना के दो नियमों का उल्लेख करो जिनके द्वारा निश्चित परिणाम निकाले जा सकें ।

(६) सम्भावना की गणना के लिये जितने नियम बतलाए गये हैं उन सबका उल्लेख करो । साथ साथ उदाहरण भी दो ।

(७) सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त कोई भी निष्कर्ष निश्चित नहीं होता' इस कथन पर प्रकाश डालो ।

(८) दो वाक्य दिये हुए हैं —

(१) अधिकतर 'क' 'ग' हैं ।

(२) अधिकतर 'क' 'ख' हैं ।

क्या इनसे कोई निष्कर्ष निकल सकता है ? यदि निकल सकता है तो किस प्रकार का ? उसका मूल्याङ्कन करो ।

(९) निम्नलिखित की व्याख्या करो ?

(१) यह घटना सम्भावनात्मक है ।

(२) इस घटना की सम्भावना ३ है ।

(३) क और ख घटनाएं संयोग से हुई हैं ।

(४) क और ख घटनाएँ साथ-साथ हुई हैं — यह केवल संयोग है ।

(१०) 'सम्भावना अनुभव पर आधारित विश्वास है' । दो स्वतंत्र रूप से होनेवाली घटनाओं के होने की सम्भावना का किस प्रकार पता लगाओगे ? इसका यथार्थ उदाहरण दो ।

(११) "एक या दो घटनाएँ जो नही हो सकती—उनके होने की सम्भावना—अलग अलग होनेवाली सम्भावनाओं का जोड है।" उक्त नियम की व्याख्या करो और इसका यथार्थ उदाहरण भी दो।

(१२) सयोग और सम्भावना में अन्तर प्रकट करो और सामान्यानुमान के क्षेत्र में सम्भावना का स्थान वतलाओ। तथा यह भी वतलाओ कि सम्भावना के द्वारा किस प्रकार निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

अध्याय ६

(१) उपमानन्य-सामान्यानुमान

सामान्यानुमान के स्वरूप और भेदों का विचार पहले किया जा चुका है। युक्त-सामान्यानुमान (Inductions proper) के तीन भेद किये गये थे (१) वैज्ञानिक-सामान्यानुमान (२) अवैज्ञानिक या गणनाजन्य सामान्यानुमान और (३) उपमाजन्य-सामान्यानुमान। इस अध्याय में विशेष रूप से उपमाजन्य-सामान्यानुमान का वर्णन किया जायगा। इसके साथ यह भी दिखलाया जायगा कि यह अनुमान का निर्बल रूप है।

उपमाजन्य-सामान्यानुमान का अर्थ

उपमाजन्य-सामान्यानुमान (Analogy) शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। सब प्रथम, अरस्तू ने अनालोजिया (Analogia) शब्द का प्रयोग किया था जिसका अर्थ होता है अनुपातों की समानता। इसके अनुरूप शब्द अङ्कगणित में समानुपात (Proportion) है। इसलिये अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार उपमाजन्य-सामान्यानुमान से निम्न लिखित रूप में तर्क किया जायगा :—

१ २ २ ४

अर्थात् जो एक का दो से सम्बन्ध है वही दो का चार से सम्बन्ध है। इस प्रकार संख्याओं के समानुपात से हम अन्य समानपातों पर आते हैं जिनमें उसी प्रकार के पद प्रयुक्त नहीं होते। जैसे

(१) स्वास्थ्य शरीर धर्म आत्मा

(२) कोयला इञ्जन भोजन शरीर

जिस प्रकार स्वास्थ्य शरीर के लिये आवश्यक है उसी प्रकार धर्म आत्मा के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार कोयला इञ्जन के लिये आवश्यक है उसी प्रकार भोजन शरीर के लिये आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि

स्वास्थ्य और शरीर का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा कि धर्म और आत्मा का और कोयला और इञ्जन का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा कि भोजन और शरीर का। इमी अकगणित के समानुपात के सिद्धान्त को विचार में रखते हुए ह्वॉटले महोदय ने उपमाजन्य-सामान्यानुमान का लक्षण यह किया है—"**उपमाजन्य सामान्यानुमान वह है जिसमें सम्बन्धों की समानता या सादृश्यता से हम अनुमान करते हैं।**" उदाहरणार्थ, जब एक देश दूसरी जगह उपनिवेश बनाता है तो उस देश को 'मातृ-भूमि' कह कर पुकारते हैं। यह कथन उपमाजन्य-सामान्यानुमान मूलक है जिसका अर्थ यह है कि एक देश के उपनिवेशों का उसके साथ वही सम्बन्ध होता है जैसा कि बच्चों का माता-पिता के साथ होता है। यदि इस सम्बन्ध की समानता मे हम अनुमान करते हैं "मातृभूमि उपनिवेशों से आज्ञा-वर्तन की आशा करती है" तो यह उपमाजन्य सामान्यानुमान मूलक अनुमान कहलायगा। इस प्रकार के अनुमान को कुछ तार्किक लोग "सम्बन्ध-जन्य-शादृश्यानुमान कहते हैं।" इसका निम्नलिखित उदाहरण है—

क, ख से सम्बन्वित है, जैसे ग, घ से सम्बन्वित है।
क और ख के सम्बन्ध से, ङ उत्पन्न होता है।
∴ ग और घ के सम्बन्ध से भी ङ उत्पन्न होगा।

वास्तविक उदाहरण :—

(१) एक जहाज के कप्तान का जहाज के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि एक गवर्नर का एक स्टेट के साथ होता है।

कप्तान जहाज की गति की देखरेख रखता है।

∴ गवर्नर को भी स्टेट की गतिविधि की देखरेख रखना चाहिये।

(२) पार्लियामेण्ट का देश के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स का किसी जॉइन्ट स्टॉक कम्पनी के साथ सम्बन्ध होता है। एक जॉइन्ट स्टाक कम्पनी का चुने हुए बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स से अच्छा इन्त-जाम होता है, इसलिये एक देश का, निर्वाचित पार्लियामेंट द्वारा अच्छा इन्तजाम होता है। इस प्रकार के तर्क का आधार यह नहीं है कि देश जॉइन्ट स्टॉक कम्पनी के सदृश है या पार्लियामेण्ट कोई डाइरेक्टरों का बोर्ड है किन्तु

पार्लियामेण्ट और देश में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स और जॉइन्ट स्टाक कम्पनी में है।

उपमाजन्य-सामान्यानुमान शब्द का प्रयोग तर्कशास्त्र में सम्बन्धों की सादृश्यता से अधिक अर्थ में किया जाता है। जैसा कि मिल महोदय का कहना है 'सादृश्य-मूलक तर्क की प्रक्रिया के अर्थ को हमें इस प्रकार विचार करना चाहिये जिससे कि हम इसका किसी प्रकार की समानता से, यदि वे पूर्ण सामान्यानुमान के रूप को नहीं पहुँचते हैं तर्क कर सकें और हमें खास तौर से सम्बन्ध की समानता पर भी जोर न देना पड़े।" इस कथन से हम देखते हैं कि मिल के विचार बहुत कुछ बटलर (Butler) और काण्ट (Kant) से मिलते जुलते हैं। वर्तमान काल में भी तार्किक लोग इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि जिसको वर्तमान कालीन तर्कशास्त्री उपमाजन्य-सामान्यानुमान कहते हैं उसको अरस्तू ने उदाहरण से तर्क करने की विधि (Paradeigma) बतलाया था। उदाहरणार्थ अरस्तू यह बतलाता है "क्योंकि पहलवानों का चुनाव सामूहिक रूप से नहीं किया जाता; इसलिये राजनीतिज्ञों का भी चुनाव सामूहिक रूप से नहीं होना चाहिये।" अब हम उपमाजन्य-सामान्यानुमान का अर्थ इस रूप में वर्णन करेंगे।

(२) उपमाजन्य-सामान्यानुमान का स्वरूप

मिल महोदय ने उपमाजन्य-सामान्यानुमान[1] का यह सूत्र लिखा है 'यदि दो वस्तुयें, एक या अधिक बातों में समानता रखती हैं तो यदि एक के बारे में एक वाक्य सत्य सिद्ध होता है तो वह अन्य के बारे में भी सत्य होगा।" बेन भी इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं— 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान अन्य अनुमानों के रूपों से मिलता रखता हुआ कल्पना करता है कि यदि दो वस्तुओं के बीच कुछ बातों में समानता है तो वे अन्य बातों में भी समानता रक्खेंगी; जो अन्य बातें समानता रखनेवाली बातों से भिन्न हैं और न उनके बीच कोई कारणता

(1) Analogy

का सम्बन्ध होता है या सहभूपना होता है"। कारवेथ रीड का लक्षण बहुत सुन्दर है। वे कहते हैं "उपमाजन्य-सामान्यानुमान अपूर्ण समानता के आधार पर एक प्रकार का सम्भावनात्मक सबूत है जो तुलना के विषय और हमारे तर्क के विषय में पाया जाता है" वेल्टन ने भी करीब-करीब यही कहा है कि "उपमाजन्य-सामान्यानुमान अपूर्ण-समानता के तत्व से पूर्ण-समानता के तत्व की स्थापना करता है"। इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान एक प्रकार का अनुमान है जिसमें अपूर्ण समानता के आधार पर विशेष से विशेष का अनुमान किया जाता है और जिसमें निष्कर्ष केवल सम्भावनात्मक होता है। इसका निम्नलिखित बीजात्मक उदाहरण है —

'क' के अन्दर कुछ गुण हैं जैसे 'च', 'छ', 'ज', इत्यादि, वे 'ख' के समान हैं, ख के अन्दर एक गुण 'झ' और है।

∴ 'क' में 'झ' गुण और है यद्यपि 'झ' तथा 'च', 'छ', 'ज' इत्यादि में कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसका वास्तविक उदाहरण निम्नलिखित है —

मगल (Mars) और चन्द्रमा (Moon) दोनों में कुछ बातों को लेकर समानता है। जैसे, दोनों में वैसी ही आबोहवा है, दोनों में एक समान भूमि है, दोनों में समुद्र हैं, तापमान भी दोनों में एक समान है, दोनों सूर्य के चारों तरफ भ्रमण करते हैं और सूर्य से ही प्रकाश ग्रहण करते हैं।

पृथ्वी में मनुष्य के निवास का एक और गुण है।

∴ मगल में भी मनुष्य के निवास का गुण होना चाहिये।

(३) उपमाजन्य-सामान्यानुमान और सामान्यानुमान

उपमाजन्य-सामान्यानुमान में तर्क का आधार समानता या सादृश्य है। हम तर्क करते हैं कि दो वस्तुएँ कुछ बातों में समान हैं तो वे अन्य में भी समान होंगी। जैसे 'क' कुछ बातों में 'ख' के सदृश है, वह अन्य बातों में भी 'ख' के सदृश होगा। किन्तु यह कोई सादृश्यमूलक अनुमान की ही विशेषता नहीं है। हम देखेंगे कि सामान्यानुमान और विशेषा-

नुमान दोनों में हम समानता के आधार पर तर्क करते हैं। सामान्यानुमान में उदाहरणार्थ —

क, ख, ग घ मनुष्य हैं जिनकी परीक्षा की गई है, मरणशील हैं सब मनुष्य (चाहे उनकी परीक्षा की गई हो या नहीं) को उनके मनुष्य होने में समान हैं (जैसे क ख ग घ) वे मरणशील होने में भी समानता रक्खेंगे।

सामान्यानुमान और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में केवल यही अन्तर है कि सामान्यानुमान में कारणता-सम्बन्ध रहता है किन्तु उपमाजन्य सामान्यानुमान में कारणता सम्बन्ध का सर्वथा अभाव रहता है। जब हम समानता के आधार पर यह अनुमान करते हैं कि मंगल में भी मनुष्यों का वास होगा जैसा कि पृथ्वी पर है तब हमें यह बिलकुल पता नहीं होता कि इन दोनों में कोई कारणता का सम्बन्ध है या नहीं। यदि ऐसे सम्बन्ध का पता होता तो हमारा तर्क सादृश्यानुमान या उपमाजन्य-सामान्यानुमान नहीं कहलाता अपितु उसका स्थान वैज्ञानिक सामान्यानुमान का होता। इसी प्रकार विशेषानुमान में भी हमारा तर्क समानता पर अवलम्बित रहता है। जैसे,

'सब मनुष्य मरणशील हैं।

कुन्दकुन्द एक मनुष्य है।

कुन्दकुन्द मरणशील है।

इसका अर्थ है कुन्दकुन्द दूसरे मनुष्यों के साथ कुछ बातों में समानता रखता है अतः यह मरणशीलता में भी अन्य के साथ समानता रक्खेगा। विशेषानुमान और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यदि भेद है तो केवल यही कि प्रत्येक सिलाजिज्म का एक वाक्य हमें सामान्य रखना पड़ता है और इस प्रकार का वाक्य उपमाजन्य-सामान्यानुमान में दिखाई नहीं देता। यदि इस प्रकार का कोई सामान्य नियम कि "सब ग्रहों में मनुष्य रहते हैं" होता तो हम बड़ी सरलता से यह निष्कर्ष कि 'मंगल में भी मनुष्य हैं' निकाल देते। इससे यह स्पष्ट है कि सब प्रकार का तर्क चाहे वह सामान्यानुमान हो या विशेषानुमान या उपमाजन्य-सामा

न्यानुमान—इन सब का आधार समानता (Resemblance) है। केवल उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यह समानता अपूर्ण है। अन्य में तो वह पूर्ण है।

(४) उपमाजन्य-सामान्यानुमान और वैज्ञानिक सामान्यानुमान

हम पहले युक्त सामान्यानुमान के ३ भेद कर आये हैं (१) वैज्ञानिक सामान्यानुमान (२) साधारण-गणनाजन्य-सामान्यानुमान और (३) उपमाजन्य सामान्यानुमान। सामान्यानुमान का सार सामान्यानुमानीय कुदान में है अर्थात् जब हम ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह गुण उपमाजन्य सामान्यानुमान में भी विद्यमान है, अत इसको युक्त सामान्यानुमान का उपभेद मानना चाहिये। उपमाजन्य-सामान्यानुमान यद्यपि सामान्यानुमान का निर्बल रूप है क्योंकि इसका आधार अपूर्ण समानता या सादृश्य है। अब हम दोनों में भेद बतलाकर इसका अध्ययन करेंगे।

(१) वैज्ञानिक सामान्यानुमानों में हम विशेष से सामान्य की ओर उद्गमन करते हैं तथा उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हम विशेष से विशेष की ओर ही गमन करते हैं।

वैज्ञानिक सामान्यानुमानों में हम विशेष उदाहरणों को देखकर सामान्य वाक्य की स्थापना करते हैं किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान में एक उदाहरण विशेष को देखकर हम दूसरे उदाहरण विशेष का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जिसको हमने आज तक देखा नही है। जब अनेक मृत्यु के उदाहरणों का प्रत्यक्षीकरण करके हम सामान्य वाक्य "सब मनुष्य मरण शील हैं" बनाते हैं तब हमें वैज्ञानिक सामान्यानुमान का स्वरूप मिलता है। किन्तु जब हम एक ग्रह के मुख्य लक्षणों को देखकर, जैसे, 'पृथ्वी', किसी अन्य ग्रह के विषय में अनुमान करते हैं, जैसे 'मगल', तब हमें उपमाजन्य-सामान्यानुमान का स्वरूप मिलता है।

मिल महोदय ने जो यह बतलाया है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान विशेष से विशेष के लिये होता है—इसको शब्दश सत्य नही मानना

चाहिये। यदि हम एक विशेष से अन्य विशेष के बारे में अनुमान करें जिसकी पहले विशेष के साथ समानता है, तब हम ऐसा कर सकते हैं क्योंकि हमने अपने मन में गुप्तरूप से, एक सामान्य, जो साधारण गुणों का द्योतक है बना लिये हैं और अचेतन भाव से दोनों उदाहरणों को सामान्य के अधिकार में ले आते हैं। अतः सामान्यानुमान और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यह अन्तर है कि सामान्यानुमान में तो हम जान करके सामान्य वाक्य के रूप में सामान्य को प्रगट करते हैं किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान में ऐसा नहीं करते, यद्यपि दोनों मामलों में हम विशेषों के अन्दर रहे हुए सामान्य तत्त्व पर अवलम्बित रहते हैं जो हमारे तर्क का आधार होता है। इसलिये अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान— जब तक यह उपमाजन्य-सामान्यानुमान है—विशेष उदाहरण में ही कायम रहेगा और उसमें कोई सम्बन्ध द्योतक नियम नहीं प्रतीत होगा।

(२) वैज्ञानिक सामान्यानुमान कारणता-सम्बन्ध पर निर्भर है किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। वैज्ञानिक सामान्यानुमान में हम प्रयोगिक विधियों को प्रयोग में लाकर कारणता का सम्बन्ध स्थापित करते हैं किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमानीय तर्क में इस प्रकार के कारणता-सम्बन्ध की स्थापना की आवश्यकता नहीं होती और न ऐसा प्रतीत ही होता है कि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध इसमें है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हम उदाहरणों की तुलना करके या वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके दो पदार्थों या घटनाओं में सम्बन्धजनक किसी नियम की स्थापना नहीं करते। हम केवल किसी पदार्थ की व्याख्या के लिए उसकी अवस्थाओं में और उस पदार्थ की अवस्थाओं में जिसको हम जानते हैं समानता देखते हैं और एक को आधार मान कर दूसरे के विषय में निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते हैं।

(३) उपमानुमान से हमें केवल सम्भावनात्मक निष्कर्ष मिलते हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक सामान्यानुमान में निश्चित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। यह सत्य है कि सम्भावना का सिद्धान्त मात्राओं से सम्बन्ध रखता है और इसलिये उपमाजन्य-सामान्यानुमान में सम्भावना की भिन्न भिन्न मात्राएँ

शून्य से लेकर करीब करीब निश्चय तक हो सकती है। किन्तु उपमाजन्य-सामान्यानुमान चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो हमें उसके द्वारा निश्चित निष्कर्ष प्राप्त नही हो सकता। निश्चित निष्कर्ष हमें वैज्ञानिक सामान्यानुमान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वैज्ञानिक सामान्यानुमान में कारणता का सम्बन्ध पाया जाता है और निष्कर्ष आवश्यक रूप से निकलता है। किन्तु इसके विपरीत उपमाजन्य-सामान्यानुमान में समानता, अल्प रूप में या अधिक रूप में, अपूर्ण रहती है और इस प्रकार निष्कर्ष के विषय में कुछ न कुछ सशय अवश्य बना रहता है। इसी हेतु से हम कहते हैं कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान में निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं और सामान्यनुमान में निश्चयात्मक निष्कर्ष होते हैं।

(४) इनके अतिरिक्त उपमाजन्य-सामान्यानुमान को वैज्ञानिक सामान्यानुमान की आधार शिला कहा जाता है। यह कहा जा चुका है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान में कारणता-सम्बन्ध नही पाया जाता किन्तु यह कहना सर्वथा सत्य नही है। उपमाजन्य सामान्यानुमान में यद्यपि स्पष्ट रूप से कारणता-सम्बन्ध दिखाई नही देता किन्तु हमारे दिल में एक अस्पष्ट भान सा रहता है कि भविष्य में कोई न कोई कारणता-सम्बन्ध इसमें निकल आवेगा और वह वैज्ञानिक सामान्यानुमान के स्थान को ग्रहण कर लेगा। तब तक इस उद्देश्य की प्राप्ति नही होती तब तक उपमाजन्य-सामान्यानुमान को वैज्ञानिक सामान्यानुमान के राजपथ पर एक स्थान विशेष ही कहा जायगा। अथवा मिल महोदय के शब्दों में इसको एक मार्ग सूचक तखता गिना जायगा जिसके द्वारा हमें वैज्ञानिक अनुसधान करने की प्रेरणा मिलती है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान प्राक्कल्पनाओं का भी स्रोत है जिनको यदि सिद्ध कर लिया जाय तो वे वैज्ञानिक सामान्यानुमान के पद को प्राप्त हो सकती हैं।

(५) उपमाजन्य-सामान्यानुमान और साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान

साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम इस प्रकार तर्क करते हैं

मान लो, कई कौवों को हम काले देखते हैं और उनमें एक कालेपन का गुण पाया जाता है—इस पर से हम सामान्य वाक्य बना डालते हैं कि "सब कौए काले होते हैं"। उपमाजन्य-सामान्यानुमान में दो वस्तुओं को देखकर हम यह ज्ञान करते हैं कि दोनों में बहुतसी बातों की समानता है किन्तु एक वस्तु में एक बात अधिक है तो हम अनुमान करते हैं कि यह अधिक बात अन्य में भी अवश्य पायी जायगी। साधारणगणना-जन्य-सामान्यानुमान पद अर्थ से सम्बन्ध रखता है। इसमें कौआ पद का अर्थ हमारे ज्ञान में अधिक आता है जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट किया गया है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान इसके विपरीत पद के भावार्थ से सम्बन्ध रखता है और वास्तविक उदाहरण में हमारा भावार्थ-विषयक ज्ञान मंगल ग्रह के बारे में बढ़ जाता है। क्योंकि अर्थ और भावार्थ दोनों आपस में सम्बन्धित हैं इसलिये ये दोनों अनुमान के रूप एक दूसरे में मिल जाते हैं। यदि दोनों में अन्तर है तो केवल इतना ही कि साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम विशेष से सामान्य का अनुमान करते हैं और उपमाजन्य-सामान्यानुमान में यह नहीं होता कि हम कोई सामान्य वाक्य का निर्माण कर रहे हैं।

(६) उपमाजन्य-सामान्यानुमान की शक्ति

यह बतलाया जा चुका है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान अपूर्ण समानता पर निर्भर रहता है और इसलिये ही इसके द्वारा प्राप्त किये हुए निष्कर्ष सम्भावनात्मक गिने जाते हैं। सम्भावना का प्रश्न भी मात्राओं से सम्बन्ध रखता है। उपमाजन्य-सामान्यानुमान में तर्क की मात्रा शून्य से लेकर करीब-करीब निश्चय तक होती है। अब हम यहाँ उपमाजन्य-सामान्यानुमान की विशेषताएँ बतलायेंगे जिनपर इसकी शक्ति निर्भर रहती है।

मिल महोदय का कहना है कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य निश्चित समानता के विस्तार पर निर्भर रहता है। इसमें हम भिन्नता की बातों को देखकर यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि ऐसी अन्य कौन सी बातें हैं जिनमें समानता सिद्ध हो सकती है। बेकन का भी करीब-करीब ऐसा ही

कहना है "वे लिखते हैं उपमाजन्य-सामान्यानुमान में सम्भावना का माप, अज्ञात बातों को ज्ञातों के साथ तुलना करते हुये, भेदकता की बातों की सख्या और महत्ता के साथ-साथ समानता की बातों की सख्या और महत्ता से किया जाता है"। अत यह मानना पड़ेगा कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान का सारा वल, भेदक और अज्ञात बातों की सख्या और महत्ता के साथ साथ समानता की बातों की सख्या और महत्ता पर, निर्भर रहता है। इसके लिये निम्नलिखित ३ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है —

(१) ज्ञात बातों की जितनी अधिक सख्या और महत्ता होगी उतना ही अधिक उपमाजन्य सामान्यानुमान का मूल्य होगा। जैसे, मनुष्य और पशुओं में समानता की बातें सख्या में और महत्ता में मनुष्य और पौधों की अपेक्षा अधिक हैं। अत यह उपमाजन्य-सामान्यानुमान, "जैसे मनुष्य सुख और दु ख का अनुभव करते हैं वैसे ही पशु करते हैं", अधिक सम्भावना पूर्ण है अपेक्षा कृत इसके कि "जैसे मनुष्य सुख दुख का अनुभव करते हैं वैसे ही पौदे अनुभव करते हैं"।

(२) ज्ञात बातों की जितनी अधिक भिन्नता और महत्ता होगी उतना ही कम उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य होगा। जैसे, पृथ्वी और चन्द्र में ज्ञात बातों की भिन्नता की सख्या और महत्ता पृथ्वी और मगल की अपेक्षा अधिक है। हम जानते हैं कि चन्द्र में वातावरण नही है और वायु जीवन का मुख्य तत्व हैं। अत चन्द्र में वातावरण का अभाव होना एक खास भिन्नता की बात है। इसकी अपेक्षा पृथ्वी और मगल में ज्ञात भिन्नता की बातों की सख्या और महत्ता कम है। अत यह तर्क कि 'चन्द्र में भी पृथ्वी की भाँति मनुष्यों का आवास हैं', 'मगल में पृथ्वी की तरह मनुष्यों का आवास है' की अपेक्षा बहुत कम सम्भावना-पूर्ण है।

(३) जितनी अधिक अज्ञात बातों की सख्या, ज्ञात बातों के साथ तुलना करने पर होगी, उतना ही उपमाजन्य सामान्यानुमान का मूल्य कम होगा। अमुक प्रकार की बातों की समानता अत्यधिक है और भिन्नता अत्यन्त अल्प है और हमारा ज्ञान दोनों के विषय में विशाल है, तो ऐसी अवस्था में उपमाजन्य-सामान्यानुमान-सामान्यानुमान की बराबरी कर सकता

है किन्तु इतना तो निश्चित है कि यह उतनी निश्चयता को नहीं पहुँच सकता जितना सामान्यानुमान पहुँचता है।

ध्यान से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य केवल समानता की बातों की संख्या पर ही निर्भर नहीं है किन्तु उनकी महत्ता पर भी है। अन्य बातों के समान होने पर भी जितनी समानता की बातें अधिक होंगी, उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य भी उतना ही अधिक होगा। लेकिन इसके कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि निष्कर्ष का मूल्य, समानता की ज्ञात बातों की संख्या के अनुपात के अनुसार होगा। उदाहरणार्थ हम यह तर्क कर सकते हैं "दो मनुष्यों का कद समान है, उनकी उम्र भी एक समान है, उनके नामों के प्रथमाक्षर भी वही हैं दोनों एक ही मकान में रहते हैं एक ही गाँव के रहने वाले हैं। उनमें से एक बहुत अधिक बुद्धिमान है अतः दूसरा भी उतना ही बुद्धिमान होना चाहिये"। इस उदाहरण में उपमाजन्य-सामान्यानुमान निरर्थक है क्योंकि इसमें जितनी समानता की बातें बतलाई गई हैं वे कोई महत्त्व की बात नहीं हैं। इसलिये वेल्टन (Velton) साहब का इस विषय में उल्लेख विचारणीय है 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान के तर्क की शक्ति सारूप्यता के स्वभाव पर निर्भर रहती है न कि समानता के परिमाण पर"। बोसानक्वेट (Bosanquet) का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि हमें समानता **की बातों का सम्यक् सन्तुलन करना चाहिये इसकी अपेक्षा कि हम केवल उन्हें गिन कर जोड़ दें"।**

कुछ तर्क शास्त्रियों ने उपमाजन्य-सामान्यानुमान का स्वरूप संक्षिप्त गणितीय-विधि द्वारा निम्नलिखित भिन्न के रूप में प्रगट किया है ~

$$\frac{\text{समानता}}{\text{विभिन्नता + अज्ञात बातें}}$$

इस गणित सम्बन्धी भाव१ का अभिप्राय यह है कि अंश उन भावों का बनाया गया है जो तर्क की शक्ति का निर्माण करते हैं तथा हर२ उन

(1) Numerator (2) Denominator

ांगों का बनाया गया है जो तर्क की शक्ति को कमजोर बनाते हैं जिससे कि यह भिन्न उपमाजन्य-सामान्यानुमान के एक तर्क के मूल्य का समुचित विवरण दे सके। हमें यह विचार नही करना चाहिये कि गणित शास्त्रीय अनुपात से हम किसी उपमाजन्य-सामान्यानुमान के तर्क का मूल्याङ्कन ठीक ठीक कर सकते हैं। उपर्युक्त भिन्न, साधारण रूप से यह बतलाती है कि समानता की बातों की सख्या और महत्ता एक, अच्छी अनुकूल बातों को बतलाती है और अन्य दो, प्रतिकूल बातों को प्रकट करती हैं। इन दोनों अनुकूल और प्रतिकूल बातों से ही हम उपमाजन्य-सामान्यानुमान के स्वरूप का निर्णय कर सकते हैं।

उपर्युक्त प्रदर्शन से हम यह भी विचार कर सकते हैं कि उपमाजन्य-सामान्यानुमान के तर्क का मूल्याङ्कन करना एक प्रकार की यान्त्रिक प्रक्रिया है जैसी कि हम गणित शास्त्र में देखते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रक्रिया इतनी सरल नही है जैसा कि हमने समझ रक्खा है। इस विषय में हमारे सामने दो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। प्रथम, इसमें दो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों से काम लिया गया है अर्थात् बातों की सख्या और उनकी महत्ता। इसके अतिरिक्त समानता की बातों की सख्या की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नही है जब कि उनकी महत्ता अत्यल्प हो, अत यह निर्णय करना कठिन है कि दिये हुये उदाहरण में हम सख्या को या महत्ता को विशेष स्थान दें और किसको अपना मार्गदर्शक बनावें। द्वितीय अज्ञात बातों के विषय में चर्चा करना निरर्थक है। यदि वे अज्ञात हैं तो हम कैसे जान सकते हैं कि उनकी सख्या क्या है? अज्ञात को हम कदापि तुलना का मापदड नही बना सकते।

(७) सम्यक् उपमाजन्य-सामान्यानुमान और मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमान

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सादृश्यानुमान की शक्ति समानता की बातों की सख्या और महत्ता पर तथा विभिन्नता की बातों की सख्या और महत्ता पर तथा अज्ञात बातों की सख्या पर निर्भर है। अत सम्यक्[1]

(1) Good analogy

उपमाजन्य-सामान्यानुमान का अर्थ है कि यह वह तर्क है जिसमें दो वस्तुओं के अन्दर ज्ञात समानता की विद्यमानता को देखकर निष्कर्ष निकाला जाता है। मिथ्या[1] उपमाजन्य सामान्यानुमान वह है जिसमें केवल बाहरी समानता की बातों को देखकर निष्कर्ष निकाला जाता है। फाउलर (Fowler) महोदय के शब्दों में यह कहा जा सकता है 'मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान पद उन उपमाजन्य-सामान्यानुमानों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जिनमें उपमाजन्य-सामान्यानुमान के लिये कोई आधार न हो। निम्नलिखित उदाहरण मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान के स्वरूप को अच्छी तरह व्यक्त करते हैं :—

(१) पशु मनुष्य के समान पैदा होते हैं खाते पीते हैं, बढ़ते हैं मर जाते हैं। मनुष्य भाषा का व्यवहार करते हैं इस लिये पशु भी भाषा का व्यवहार करते हैं। यह मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान है। इसमें समानता की बातों में और अनुमानित गुण में हम कोई ज्ञात सम्बन्ध नहीं पाते।

(२) पौधे पैदा होते हैं, बढ़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य भी पैदा होते हैं बढ़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यों में बुद्धि होती है; अतः पौधों में भी बुद्धि होती है। यह मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमान है क्योंकि यहाँ भी समानता की बातों में और अनुमानित गुण में कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

(३) कभी-कभी मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान के बड़े आश्चर्य जनक उदाहरण देखने में आते हैं। जैसे रेडियो सेट मनुष्य है क्योंकि वे मनुष्यों की तरह बोलते रोते गाते, और हँसते देखे जाते हैं। या ग्रामोफोन मनुष्य हैं क्योंकि वे मनुष्यों की तरह बोलते चालते और गाते पाए जाते हैं। दो विद्यार्थी एक ही कॉलिज में पढ़ते हैं दोनों की एक ही उम्र है, एक सी पोशाक पहनते हैं एक सी ही भाषा बोलते हैं, इस लिये दोनों एक समान बुद्धिवाले हैं, इत्यादि अनेक उदाहरण मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमान के दिये जा सकते हैं।

---

(1) Bad analogy

अभ्यास प्रश्न

(१) उपमाजन्य-सामान्यानुमान का क्या अर्थ है ? उपमाजन्य-सामान्यानुमानीय तर्क का लक्षण लिखकर उदाहरण दो । तथा यह भी बतलाओ कि इस प्रकार के तर्क का मूल्य किस बात पर निर्भर रहता है ।

(२) उपमाजन्य सामान्यानुमान और वैज्ञानिक-सामान्यानुमान में क्या सम्बन्ध है ? दोनों के लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(३) उपमाजन्य-सामान्यानुमान किस बात पर निर्भर रहता है ? सम्यक् और मिथ्या उपमाजन्य-सामान्यानुमानों के लक्षण लिखकर अलग-अलग उदाहरण दो ।

(४) उपमाजन्य-सामान्यानुमान का लक्षण, मूल्य, और उपयोगिता लिखकर यथार्थ और बीजात्मक उदाहरण दो ।

(५) उपमाजन्य-सामान्यानुमान की शक्ति का माप किस प्रकार किया जाता है ? उदाहरण देकर समझाओ ।

(६) 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हमें समानता की बातों को तोलना चाहिये' इस कथन से क्या अभिप्राय है ? स्पष्टार्थ लिखो ।

(७) सामान्यानुमान के प्रकरण में उपमाजन्य-सामान्यानुमान का क्या स्थान है ? इस पर अपने विचार प्रकट करो ।

(८) 'सब अनुमानों का मूल समानता है' इस पर अपने समालोचनात्मक विचार प्रकट करो ।

(९) उपमाजन्य-सामान्यानुमान को किस अर्थ में अपूर्ण गिना गया है ? अपने विचार प्रकट करो ।

(१०) 'उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मूल्य समानता के प्रकार तथा मात्रा पर अवलम्बित रहता है' इस कथन का स्पष्ट विवेचन करो ।

(११) ''उपमाजन्य-सामान्यानुमान से प्राप्त निष्कर्ष सम्भावनात्मक होते हैं'' यह कथन कहाँ तक ठीक है ? स्पष्ट उत्तर दो ।

(१२) उपमाजन्य-सामान्यानुमान की साधारण गणनाजन्य सामान्यानुमान के साथ तुलना करो ।

अध्याय १०

(१) नियम के भिन्न-भिन्न अर्थ

नियम (Law) शब्द कई अर्थों में प्रयोग किया गया है। मूल में इसका प्रयोग किसी विशिष्ट सत्ता की आज्ञा के अर्थ में किया गया था जिसका पालन करना आवश्यक होता था परन्तु पश्चात् इसका प्रयोग एकरूप वाले सम्बन्धों में किया जाने लगा जो प्राकृतिक पदार्थों में पाये जाते हैं तथा इनके अतिरिक्त इसका प्रयोग एक प्रकार के मापदण्ड के अर्थ में भी किया गया है जिसके अनुसार हमें वर्तना चाहिये यदि हम किसी उद्देश्य की प्राप्ति करना चाहते हैं।

प्रथम नियम का अर्थ है आज्ञा या परमात्मा या किसी महान के मुख से निकलती है और एक समाज पर लादी जाती है जो उसके आधीन होती है। इसके अन्दर एकरूपता का भाव छिपा रहता है जिसको प्रजा या समाज अच्छी तरह जानकर प्रतिपालन करती है और इस प्रकार की एकरूपता का भाव समाज या प्रजा के व्यवहार में सुगमता और एकरूपता को पैदा करता है। इस अर्थ में हम जितने राज्य के नियम (Laws of the State) हैं उन सब को सम्मिलित करते हैं। यह नियम का मौलिक अर्थ है।

द्वितीय नियम का अर्थ 'एकरूपता' भी है। इस अर्थ में हम प्रकृति के नियमों को लेते हैं। प्रकृति के नियम से हमारा अभिप्राय उन एकरूप सम्बन्धों से होता है जो प्राकृतिक पदार्थों में पाए जाते हैं। प्राकृतिक नियम से यह कदापि ध्वनित नहीं होता कि विश्व में कोई सर्वोपरि सत्ता है जिसकी आज्ञा का परिपालन आवश्यक है। इसका केवल यही अर्थ है कि विश्व में कुछ नियम हैं जो अपने आप कार्य करते हैं। जिनकी न आदि है और न अन्त।

यथार्थ में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि प्राकृतिक नियमों को हम

नियम, केवल सादृश्यानुमान की दृष्टि से पुकारते हैं। हमें प्रतीत होता है कि प्राकृतिक पदार्थों में जो क्रम दृष्टिगोचर होता है वह एक नियम-बद्धता का सूचक है और उसकी समानता मनुष्य के व्यवहार के साथ पाई जाती है जो राज्य के नियमों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। एक-रूपता का भाव आज्ञा से अलग करके नियम के अर्थ, एकरूपता में सबद्ध कर दिया गया है। सम्भव है यह अर्थ, मूल में विश्व की नियन्त्रण करने वाली शक्ति को देखकर किया गया हो, किन्तु इस प्रकार का अभिप्राय अब नहीं लिया जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में नियम का अर्थ है केवल एकरूपता। यह वैज्ञानिक अभिप्राय लेपलेस (Laplace) के शब्दों मे अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है जब कि उसने सम्राट नेपो-लियन के प्रश्न के उत्तर के रूप में अपना विचार प्रकट किया था। एक दिन सम्राट नेपोलियन ने लेपलेस से कहा, "महाशय, लोग कहते हैं आपने एक सुन्दर पुस्तक 'मेकेनिक सेलेस्टे' (Ma'canique Ce'leste) लिखी है जो विश्व के सगठन की चर्चा करती है किन्तु उसमें आपने जगत्कर्ता का नाम कहीं नहीं लिया है"। ज्योतिषी लेपलेस ने सावधान होकर उत्तर दिया "महाराज, मुझे इस प्रकार की कल्पना कभी आवश्यक ही नहीं पड़ी"। विज्ञान केवल पदार्थों से सम्बन्ध रखता है। पदार्थों की व्याख्या करना ही इसका उद्देश्य है। यह दर्शनशास्त्र या धर्म-शास्त्र का काम है कि वे ईश्वर या जगत्कर्ता की खोज करें। अतः नियम का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में केवल एकरूपता के लिए ही किया गया है, और इसका यही अर्थ उपयुक्त है।

इस प्रकार हम राज्य के नियम और प्रकृति के नियम के मध्य जो अन्तर है उसे भली भाँति समझ सकते हैं। राज्य के नियम परिवर्तनीय हैं और उन्हें उल्लघित भी किया जा सकता है किन्तु प्रकृति के नियमों को न तो कोई परिवर्तित कर सकता है और न कोई उनका उल्लघन कर सकता है। राज्य के नियम परिवर्तनीय इसलिये हैं क्योंकि वे भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और एक ही देश में भी देश, काल, क्षेत्र की अपेक्षा बदलते रहते हैं, किन्तु प्रकृति के नियमों को नहीं बदला जा-

सकता। यह हो सकता है कि हमारा ज्ञान एक खास नियम के विषय में अपूर्ण हो और जिससे हम एक समय, प्रकृति का नियम समझते हों और वह पश्चात् प्रकृति का नियम न रहे। प्राकृतिक नियम कभी परिवर्तनशील नहीं होते। राज्य के नियमों का उल्लंघन किया जा सकता है किन्तु प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। हम आकर्षण के नियम का कभी उल्लंघन नहीं कर सकते; किन्तु किसी देश के राज्य के नियम का हम सरलता से उल्लंघन कर सकते हैं जैसे अपराध-सम्बन्धी, या उत्तराधिकार-सम्बन्धी या सम्पत्ति-सम्बन्धी नियमों की अवहेलना की जा सकती है।

तृतीय, नियम शब्द का प्रयोग 'मापदंड' के अर्थ में भी किया जाता है। हमें किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कुछ मापदंडों के अनुरूप कार्य करना पड़ता है। इस अर्थ में हम तर्कशास्त्र के नियम, सौन्दर्य-शास्त्र के नियम, और आचरण-शास्त्र के नियमों को लेते हैं। तर्कशास्त्र में सत्य का आदर्श होता है, सौन्दर्य शास्त्र में सौन्दर्य का आदर्श होता है, और आचरण शास्त्र में कल्याण का आदर्श होता है। यदि हम इन आदर्शों को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें कुछ नियमों का अनुसरण करना होगा। अतः नियम का अर्थ मापदण्ड भी है।

प्राकृतिक नियमों और नियामक शास्त्रों के नियमों में निम्नलिखित भेद हैं। नियम एकरूपता के अर्थ में वस्तु-स्थिति-वाचक होता है। यह वस्तुओं की जैसी स्थिति होती है उनको उसी प्रकार वर्णन करता है। तथा इसके अतिरिक्त उस नियम को आदर्शात्मक (Normative) कहा जाता है जो किसी लक्ष्य की ओर संकेत करता है अर्थात् यह वस्तुओं को उस प्रकार प्रतिपादन करता है जैसा उनको होना चाहिये। प्रकृति के नियम वस्तुस्थिति प्रति-पादक होते हैं क्योंकि वे यह बतलाते हैं कि पदार्थ किस प्रकार वर्तते हैं। जैसे, आकर्षण का सिद्धान्त बतलाता है कि भौतिक पदार्थ एक दूसरे को खींचते हैं। किन्तु एक सौन्दय शास्त्र का नियम यह बतलाता है कि सुन्दर पदार्थों को यदि वे सुन्दर हैं तो एक सौन्दर्य के मापदंड के अनुसार किस प्रकार का होना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता किन्तु सौन्दर्य

शास्त्र या तर्कशास्त्र के नियमों का उल्लघन हो सकता है। इस विषय पर मेकेन्जी महोदय (Mackenzie) ने अच्छा प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं 'नियम के ठीक अर्थ न समझने के कारण बहुत गड़बड़ी हो गई है। इसके प्रायः दो अर्थ प्रधानरूप से लिये जाते है। हम देश या राष्ट्र के नियमों की भी चर्चा करते हैं और प्रकृति के नियमों का भी उल्लेख करते हैं, किन्तु हमें यह अवश्य जानना चाहिये कि दोनों प्रकार के नियम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। किसी देश के नियम या राष्ट्र के नियमों का निर्माण या तो वहाँ की जनता द्वारा होता है या वहाँ के शासक उन्हें बनाते हैं। मीडीज़ (Medes) और पर्शियन्स के बारे में तो यह सर्वथा सम्भव है कि वे उनको बदल भी दें। तथा यह भी सम्भव है कि उन देशों के निवासी उनको न भी मानें। आमतौर से जहाँ तक अन्य देशों का सम्बन्ध है उनके नियम अन्य देशवासियों पर बिलकुल लागू नहीं होते हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक नियम स्थिर, अनुल्लघनीय तथा सर्वव्यापी होते हैं' १

हम सब प्रकार के नियमों क ऊपर तीन अपेक्षाओं से विचार कर सकते हैं। कुछ नियम स्थिर होते हैं और दूसरे परिवर्तनीय होते हैं। कुछ अनुल्लघनीय होते है, और दूसरे उल्लघनीय होते हें। कुछ विश्वव्यापी होते हैं और कुछ सीमित क्षेत्र में लागू होते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकार के वर्गीकरणों में से अन्तिम को हम कठिनता से अलग कर सकते हैं क्योंकि जो विश्वव्यापी होता है वह प्राय. करके स्थिर और आवश्यक भी होता है और जो स्थिर और आवश्यक होता है वह विश्वव्यापी भी होता है। अत. भिन्न भिन्न प्रकार के नियमों को अलग-अलग करना आवश्यक है। इसके दो सिद्धान्त हैं (१) परिवर्तनीय या अपरिवर्तनीय (२) उल्लघनीय या अनुल्लघनीय। इन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर हमें ४ प्रकार के भिन्न-भिन्न नियम मिलते हैं (१) वे नियम जो बदल सकते हैं और जिनका उल्लघन भी किया जा सकता है (२) वे नियम जो बदले जा सकते हैं किन्तु जिनका उल्लघन नहीं किया जा सकता (३) वे नियम जिनका उल्लघन किया जा सकता है किन्तु जो बदले नहीं जा सकते। (४) वे नियम जिनको न बदला ही जा सकता है और न जिनका उल्ल-

कल ही हो सकता है। प्रथम और अन्तिम प्रकार के नियमों के उदाहरण दिये जा चुके हैं। द्वितीय प्रकार के नियमों के निम्नलिखित उदाहरण हैं —

सौर जगत् के नियम, रात और दिन के नियम, बीज बोने और काटने के नियम, ऋतुओं के परिवर्तन के नियम ऐसे हैं जिनको कोई नहीं बदल सकता जब तक कि उस प्रकार की अवस्थायें विद्यमान रहती हैं, यदि वे अवस्थायें बदल जाती हैं—मानलो सूर्य ठंडा हो जाय, या पृथ्वी की गति में परिवर्तन हो जाय, या इसकी टक्कर किसी अन्य ग्रह से हो जाय या उल्का-पात हो जाय तो नियम भी बदल जायेंगे। राजनीतिक अर्थशास्त्र के बहुत कुछ नियम इसी प्रकार के हैं। वे एक प्रकार के विशेष सामाजिक वातावरण में तथा उन मनुष्यों में जिनके कुछ विशेष स्वभाव होते हैं काम करते हैं और इस अर्थ में इन्हें अपरिवर्तनीय कहा जाता है। किन्तु यदि वातावरण को बदल दिया जाय या मनुष्यों के स्वभाव बदल जाँय तो हम देखेंगे कि बहुत अंशों में नियम स्थिर नहीं रहेंगे। इस प्रकार के नियमों को सापेक्ष नियम (Conditional rules) भी कहा जाता है। इनकी सत्यता तभी तक मानी जाती है जब तक उस प्रकार का वातावरण रहता है और वह नहीं बदलता। कुछ तार्किकों का यह भी विचार है कि गणित-शास्त्र-सम्बन्धी नियम भी लगभग इसी प्रकार के हैं—हम ऐसी दुनियाँ की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमें दो और दो पाँच माने जाते हों और यदि पृथ्वी के वर्तुलाकार को आधार मानकर एक त्रिभुज बनाया जाय और किसी तारे को उसका शीर्ष-बिन्दु मान लिया जाय तो हम देखेंगे कि इस प्रकार के त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर नहीं होंगे। किन्तु इस प्रकार का चिन्तन महत्व प्रतीत होता है क्योंकि गणित-शास्त्र-सम्बन्धी नियम यथार्थ में उपर्युक्त चार वर्गों में से अन्तिम वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं।

जहाँ तक नैतिक शास्त्र (Ethics) सम्बन्धी नियमों का विचार है वे अवश्य ही तृतीय वर्ग के नियमों से सम्बन्ध रखते हैं। उनको कोई परिवर्तित नहीं कर सकता किन्तु उनका उल्लंघन अवश्य किया जा सकता है। कुछ हद तक यह बात मानी जा सकती है कि आचरण-शास्त्र

सम्बन्धी कुछ नियम मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण बदल सकते हैं, किन्तु जहाँ तक विशाल सिद्धान्तों का विचार है वे कदापि नहीं बदलते। उनका प्रयोग सब मनुष्यों के लिये साधारण होता है और सब बुद्धिमान उन्हें सार्वभौम ही समझते हैं। मानलो किसी अन्य संसार से कोई मनुष्य हमारे संसार में आ जाय तो यह सम्भव है कि हम उसके स्वभाव या शारीरिक संगठन का ज्ञान प्राप्त कर सकें, किन्तु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि उनके लिये भी 'अहिंसा परम धर्म होगा' वह 'झूठ बोलना पसंद न करेगा'। वह यह अवश्य समझेगा कि 'जीवन प्रक्रिया एक दूसरे पर निर्भर है', संसार में जो कुछ होता है उसका कोई न कोई कारण अवश्य है,' इत्यादि। इसी हेतु से नैतिक या आचरण-शास्त्र-सम्बन्धी नियम अपरिवर्तनीय समझे जाते हैं किन्तु वे तोड़े जा सकते हैं।

नियमों का वर्गीकरण

सामान्यता की मात्रा के विचार से नियमों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जाता है—(१) स्वयं-सिद्ध[1] (२) प्राथमिक[2] या अन्तिम नियम और (३) सहायक या अमुख्य नियम[3]।

(१) स्वयं सिद्ध

स्वयं सिद्ध नियम वे कहलाते हैं जो यथार्थ हों, सार्वभौम हों, तथा अपनी सिद्धि के लिये किसी अन्य नियम की अपेक्षा न रखते हों। इस लक्षण से यह प्रतीत होता है कि स्वयं सिद्ध—

(१) यथार्थ (Real) वाक्य हैं, शाब्दिक या लक्षण-रूप नहीं।

(२) सामान्य (Universal) वाक्य हैं। इनका उपयोग सार्वभौम होता है। प्रत्येक स्वयंसिद्ध अपने अपने क्षेत्र में सत्य होता है। क्योंकि ये सर्व साधारण और चरम सामान्यता को लिये हुए होते हैं, इसलिये इनसे अधिक सामान्यधर्म वाले नियम नहीं होते। कुछ स्वयं-सिद्ध अन्य

---

(1) Axioms (2) Primary or ultimate laws (3) Secondary laws

स्वयं सिद्धों से अधिक सामान्यधर्म वाले होते हैं जैसे—विचारों के नियम (तादात्म्य, आत्यन्तिक विरोध मध्यमयोग-परिहार) गणित शास्त्र-सम्बन्धी नियमों से अधिक सामान्यधर्म को धारण करते हैं, क्योंकि गणित-शास्त्र-सम्बन्धी नियम केवल परिमाण से ही सम्बन्ध रखते हैं। हालाँकि गणित-शास्त्रीय नियम अपने क्षेत्र में अत्यधिक सामान्य धर्म वाले होते हैं।

(३) अपने आप सिद्धि को लिये हुए वाक्य हैं अर्थात् प्रत्येक की सिद्धि अपने पर निर्भर है। स्वयं-सिद्धों को सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण या सिद्धि की आवश्यकता नहीं। इनकी प्रामाणिकता के लिये किसी तर्क की जरूरत नहीं प्रतीत होती। ये इतने सरल होते हैं। कि इनकी प्रामाणिकता को अपने आप स्वीकार करना पड़ता है। इनके द्वारा कितने ही अन्य-सिद्धान्त सिद्ध किये जाते हैं। अतः प्रत्येक ज्ञान विज्ञान में कुछ न कुछ इस प्रकार के स्वयं-सिद्धों को माना जाता है जो उनकी आधार शिला का कार्य करते हैं। तर्क-शास्त्र विचारों के नियमों की सत्यता को मानकर चलता है। कार्वेथ रीड ने ठीक कहा है कि स्वयं सिद्ध तर्कशास्त्र की ऊर्ध्व सीमा को निर्धारित करते हैं जिनको तर्कशास्त्र, अन्य विज्ञानों की भाँति स्वीकार कर चलता है और जितने विशेष अनुमानीय और सामान्यानुमानीय तर्क हैं वे सब इनके द्वारा नियंत्रित किये जाते हैं'।

(२) प्राथमिक या अन्तिम नियम

स्वयं सिद्धों के अनन्तर प्राथमिक या अन्तिम नियमों की गणना की जाती है। प्राथमिक या अन्तिम नियम स्वयंसिद्धों से कम सामान्य-धर्म वाले होते हैं; किन्तु भिन्न-भिन्न विज्ञानों के क्षेत्र में ये सब से अधिक सामान्यता के प्रतिपादक कहे जाते हैं। इसी हेतु से उनकी सिद्धि की जाती है। ये नियम सब से अधिक सामान्यता के प्रतिपादक होते हैं जिनको भिन्न भिन्न विज्ञान सिद्ध करते हैं। आकर्षण शक्ति का नियम प्राथमिक नियम है।

(३) सहायक या अमुख्य नियम

सहायक—नियम, प्राथमिक या मुख्य नियमों से कम सामान्य धर्म वाले होते हैं। वेकन के शब्दों में इन्हें मध्यवर्ति-स्वय-सिद्ध (Media axiometa) कहा जाता है क्योंकि इस क्रम से ही हम उच्चतर नियमों के निर्माण मे समर्थ होते हैं। वेन महोदय का कहना है कि सहायक नियम उद्गमन कर के केवल प्राथमिक नियमों का ही रूप नहीं धारण करते अपितु प्राथमिक नियम स्वय सहायक नियमों में निगमन करते हैं। या हम यह भी कह सकते हैं कि प्राथमिक नियमों से हम सहायक नियमों को निकालते है और इस प्रकार उनको हम अधिक निश्चित रूप में प्रकट करते हैं। सहायक-नियम या तो अनुभव जन्य होते हैं या निष्कासित।

अनुभव-जन्य **नियम (Empirical laws) उन सहायक नियमों को कहते हे जिनको हम अधिक सामान्य नियमों में अन्तर्भूत कर सकते हैं किन्तु अभी तक किया नहीं है।** यथार्थ में ये वे नियम हैं जिनका स्वरूप अभी तक निश्चित ही नहीं किया गया है। अत प्रथम, अनुभवजन्य नियम, क्योंकि वे सहायक नियम हैं, इस-लिये प्राथमिक नियमों से कम सामान्य धर्म वाले है। द्वितीय, उन्हें अधिक सामान्य नियमों से निकाला जा सकता है, हम अभी तक उनको अधिक सामान्य नियमों में से निकालने को समर्थ नहीं हुए हैं। अन्वय विधि से निकाले हुए निष्कर्ष अनुभव-जन्य नियम कहे जाते हैं। यह पहले बतलाया जा चुका है कि अन्वय-विधि कारणता को सिद्ध नहीं कर सकती, किन्तु उसके विषय में सूचना या राय दे सकती है। इससे हम इतना ही जान सकते हैं कि दो वस्तुएँ या घटनाएँ एक साथ पाई जाती हैं। यह एक अनुभवजन्य नियम है। हम यह विश्वास करते हैं कि यह उच्चतर नियमों से निकाला जा सकता है, यद्यपि हमने इसको अभी निकाला नहीं है। 'कुनैन जूड़ी के बुखार या ज्वर को दूर करती है' यह एक अनुभवजन्य-नियम है। इस प्रकार की एक रूपता की स्थापना प्रत्यक्षीकरण द्वारा की जाती है। इसको अनुभव जन्य इस हेतु से कहते हैं क्योंकि यह अभी तक किसी उच्चतर नियम से नहीं निकाला गया है।

निष्कासित नियम (Derivative laws) वे सहायक नियम हैं जो प्राथमिक नियमों से निकाले जाते हैं। इस प्रकार जब अनुभवजन्य-नियम प्राथमिक नियमों से निकाले जाते हैं तब उन्हें निष्कासित नियम कहा जाता है। उदाहरणार्थ ऊँचे पहाड़ों पर बर्फ का गिरना किसी समय अनुभवजन्य-नियम माना जाता था। यह बहुत उदाहरणों में सत्य पाया गया है। इसको उच्चतर नियमों से अभी तक नहीं निकाला गया था; किन्तु अब इसको उन नियमों में सम्मिलित कर लिया गया है जो आत्मस्मान ताप से सम्बन्ध रखते हैं जो वायुमंडल से गुजरता है। उसी प्रकार पार्थिव-आकर्षण-शक्ति के नियम या ज्वारभाटा के नियम अनुभव-जन्य नियम माने जाते हैं किन्तु ये भी नियम निष्कासित नियम कहलाते हैं जब हम इनको आकर्षण-शक्ति के नियम से निकालते हैं।

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि सहायक नियमों का सीमित प्रयोग होता है। जैसा कि बेन ने कहा है "निष्कासित नियम या अनुभव-जन्य नियम को समय, क्षेत्र या अवस्था की सीमा के पार नहीं ले जाना चाहिये"। कारवेथ रीड का भी मत लगभग इसी प्रकार का है "सहायक नियमों का विस्तार केवल समीपवर्ती उदाहरणों में ही किया जा सकता है। अर्थात् जहाँ अवस्थायें उनके समान है जिनमें नियम सही सिद्ध होते हैं।

जहाँ तक कि निष्कासित नियमों का सम्बन्ध है हम उन्हें केवल एक सामान्य नियम से निकाल सकते हैं या कई सामान्य नियमों से। जब ऐसा नियम किसी एक सामान्य-नियम से निकाला जाता है तब यह उसी प्रकार सामान्य रूप से सत्य होगा जैसे कि वह एक सामान्य नियम, जिससे यह निकाला गया है। किन्तु जब यह कई नियमों में से निकाला जाता है तब उन कई नियमों को अवश्य ही किसी रूप में सहयुक्त होना चाहिये और वहाँ किसी अन्य प्रतिरोधी नियमों को काम न करना चाहिये। जैसे, 'पानी को हम समुद्र की सतह से करीब ३३ फीट ऊँचा पम्प कर सकते हैं' यह नियम निष्कासित है। यह हमारी पृथ्वी पर सत्य है और यह मंगल ग्रह पर भी सत्य है। लेकिन यह हम तब मान सकते हैं जब हमें यह मालूम हो कि मंगल ग्रह पर इसी

प्रकार के, पानी जैसे तरल पदार्थ विद्यमान हैं। वहाँ पर भी उसी प्रकार का वातावरण है और उसका इसी प्रकार का दबाव[1] है। यदि वहाँ वातावरण नहीं है तो वहाँ पम्प द्वारा पानी ऊपर नहीं ले जाया जा सकता है। यदि वहाँ यहाँ से कम दबाव है तब भी उतनी दूर तक पानी पम्प द्वारा नहीं ले जाया जा सकता है। अत यह अनुभव निष्कासित नियमों के लिये सत्य है तो यह अनुभव-जन्य नियमों के लिये जिनको कि अभी तक किसी उच्चतर नियम से नहीं निकाला गया है, सत्य होगा। अनुभव जन्य-नियम के विषय में हम उनकी अवस्थाओं या कारणों से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं और हम नहीं जानते कि यह नियम से निकाला गया है या अनेक नियमों से निकाला गया है। अत हमारे लिये यह कहना असभव है कि असम्मिलित नियम अपनी सीमाओं के, जिनके अन्दर यह काम करता रहा है, परे भी सत्य सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ, चिकित्सा-विज्ञान मे हमारा ज्ञान प्राय. करके अनुभव-जन्य-नियमों पर अवलम्बित रहता है। हम ऐसा अनुमान कभी नहीं कर सकते कि दो दवाएं जो एक प्रकार की ही हैं उनका प्रभाव एक सा ही होगा। जैसे चिन्कोना की छाल और कुनैन का एक प्रकार का ही असर नहीं होता, यद्यपि चिन्कोना कुनैन का ही साधारण रूप है और कुनैन उसका विशेष-रूप आवश्यक सत् है।

(३) अन्य प्रकार के सहायक नियम

(क) अपरिवर्तनीय और आसन्न-सामान्य-नियम—

सहायक नियमों के दो भेद होते है.—(१) अपरिवर्तनीय सामान्य-नियम और (२) आसन्न सामान्य-नियम।

अपरिवर्तनीय सामान्य नियम (Invariable Generalisation) **वे कहलाते हैं जो विश्व में व्यापक रूप से जहाँ तक हमारे अनुभव का सम्बन्ध है, सत्य हों।** उदाहरणार्थ, 'सब कौए काले होते हैं' 'सब पार्थिव वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं'। ये नियम अपरिवर्तनीय हैं क्योंकि इन वाक्यों में उद्देश्य और विधेय में सर्वव्यापकता का सम्बन्ध है। यह तथ्य हमारे अनुभव से भी सिद्ध है।

---

(1) Pressure

सन्निकट-सामान्य-नियम (Approximate generalisation) के रूप निम्नलिखित होते हैं:—बहुत से 'क' 'ख' होते हैं। "बहुत सी धातुएँ सामान्य ताप में ठोस ही रहती हैं" "अधिकतर हैजा और प्लेग के मामले खतरनाक होते हैं'; 'अधिक संपन्न मनुष्य स्वार्थी होते हैं'; उत्तरी ध्रुव में रहने वाले जीव प्रायः सफेद रंग के होते हैं, इत्यादि। ये सब वाक्य करीब-करीब सामान्य रूप हैं; पूर्ण-रूप से नहीं। इनमें से कुछ सामान्य वाक्य अनुभव-जन्य हैं क्योंकि वे सर्वथा अनुभव पर ही निर्भर हैं और उनको अभी तक उच्चतर सामान्य-नियमों से नहीं निकाला गया है। तथा कुछ इनमें से एक अंश से अनुभवजन्य हैं तथा अन्य अंश से निष्कासित हैं। उदाहरणार्थ, 'उत्तरी ध्रुव के रहनेवाले जीव प्रायः गोरे होते हैं'। यह नियम एक अंश से निष्कासित है क्योंकि उनका गोरा होना अधिक काल तक बर्फ में उन्हें रहने के कारण होता है। तथा दूसरे अंश से यह अनुभवजन्य है क्योंकि हम अनुभव से यह जानते हैं कि वहाँ के रहनेवाले गोरे होते हैं।

सन्निकट-सामान्य-नियमों के विषयों में यह आवश्यक है कि हम उनमें आये हुए अपवादों का स्पष्टीकरण कर दें। जब हम कहते हैं कि 'प्रायः करके ऐसा होता है' तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि 'कुछ में ऐसा नहीं भी होता है'। इसके लिये हमें इनके कारण या इनकी व्याख्या खोजनी चाहिये। यदि हमें उन अपवादों के कारण का पता लग जाता है तो हमारा नियम सर्वव्यापक बन जाता है और उस समय हमारा सामान्य वाक्य इस प्रकार का होता है 'सब धातुएँ, केवल पारे को छोड़कर, ठोस हैं।' किन्तु जब हम इसी वाक्य को इस प्रकार लिखते हैं—"सब धातुएँ, केवल एक को छोड़कर ठोस हैं", तब यह विशेष वाक्य होता है और हम पता नहीं होता कि वह अपवाद क्या है।

इस प्रकार के वाक्यों का जब हम मूल्यांकन करते हैं तब हमें प्रतीत होता है कि सन्निकट-सामान्य-नियमों के परिणाम सम्भावनात्मक होते हैं निश्चित नहीं। इन नियमों की प्रयोगात्मक क्षेत्र में अधिक उपयोगिता हो सकती है किन्तु वैज्ञानिक क्षेत्र में उनका कोई विशेष उपयोग नहीं। उन अवस्थाओं में जहाँ पदार्थों की प्रत्यक्ष परि-

लता है और सर्वव्यापक सामान्य वाक्यों का निर्माण नहीं किया जा सकता वहाँ आसन्न सामान्य-वाक्यों से वैज्ञानिक कार्य चलाया जाता है। जैसे, राजनैतिक शास्त्र में आसन्न-सामान्योकरणों से अत्यधिक कार्य चलाया जाता है, क्योंकि राजनैतिक नियम प्राय कर के ठीक होते हैं। देखा जाता है कि एक देश के मनुष्य भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले होते हैं हैं। उनकी शिक्षा भो अन्य प्रकार की होती है। उनके जीवन के स्तर भी भिन्न भिन्न होते हैं, अतः उनके बारे में सर्वव्यापक नियमों का बनाना असभव सा हो जाता है। उनके विषय में नियम प्राय के अर्थ को लेकर ही बनाए जाते हैं। उदाहरण के लिये जैसे, 'दड का भय लोगों को अपराध करने से रोकता है' तो इससे राजनैतिक नेता को एक आवश्यक गतिविधि की सूचना ले लेनी चाहिये। आसन्न-सामान्य नियम वैज्ञानिक क्षेत्र में भी लाभप्रद होते हैं। जब हम किसी नियम की क्रमबद्ध, गणना (Statistics) करना आरम्भ करते हैं, जैसे, यह देखा जाता है कि अस्सी प्रतिशत टीका लगाए हुये व्यक्ति चेचक की बीमारी से उन्मुक्त रहते हैं—तो हम अवश्य इस प्रकार का सामान्यीकरण कर डालते हैं कि 'टीका लगाना चेचक का अच्छा इलाज है'। यह सामान्यीकरण आसन्न-सामान्यीकरण ही कहलाया जा सकता है।

(४) क्रमवर्ती और सहवर्ती सहायक नियम—

सहायक नियमों के दो अन्य प्रकार भी हो सकते हैं—(१) क्रमवर्ती और (२) सहवर्ती।

क्रमवर्ती-सहायक-नियमों (Secondary laws of succession) नियमों की तीन विधियाँ पाई जाती हैं .—(१) जिनमें साक्षात् कार्य-करण भाव पाया जाय। जैसे, "रोटी खाने से भूख मिटती है'। (२) जिनमें सुदूर कार्य-कारण भाव पाया जाय। जैसे, 'मेघाच्छन्न आकाश में बिजली चमकने से धड़ाका होता है'। (३) जहाँ सम्मिलित कार्य-कारण-भाव पाया जाय। जैसे, 'दिन के अनन्तर रात्रि उत्पन्न होती है'। इन दोनों का होना पृथ्वी की गति से सम्बन्ध रखता है।

सहवर्ती-सहायक नियम (Secondary laws of co-existence)

कई प्रकार के होते हैं।—(१) अन्वयविध्याश्रित-सामान्य-नियम[1], वे नियम हैं जो अन्वय विधि पर अवलम्बित होकर सामान्य वाक्य का निर्माण करते हैं; जैसे 'सब आकर्षणयुक्त पदार्थ क्रियारहित होते हैं'। (२) स्वाभाविक-प्रकाराश्रित-गुण-सहवर्तित्व-प्रतिपादक नियम[2] वे हैं जो स्वाभाविक प्रकारों के मध्य सहवर्ती गुणों का प्रतिपादन करते हैं। जैसे, सुवर्ण में अनेक प्रकार के गुणों का सहवर्तित्व पाया जाता है। (स्वाभाविक प्रकार वस्तुओं के वे वर्ग हैं जो आपस में समानता रखते हैं और अनेक गुणों में दूसरों से भिन्नता रखते हैं) (३) एक-प्रकारबद्ध-सहवर्ति-गुणान्वित-असमान-नियम[3], वे हैं जो किसी एक प्रकार में सहवर्ती गुणों को न दिखलाते हों किन्तु अन्य प्रकारों में दिखलाते हों। जैसे, श्वेत रोम नाम की बिल्लियाँ जिनकी नीली आँखें होती हैं, बहरी होती हैं। (४) आपेक्षिक स्थान-क्रम-स्थिरता प्रतिपादक नियम[4] वे हैं जो वस्तुओं की आपेक्षिक स्थिरता को बतलाते हों। जैसे खगोलविद्या सम्बन्धी आकृतियों में चन्द्र या सूर्य अथवा ग्रहों की कलाएँ।

इन सहवर्ती नियमों को हम कारणता के सम्बन्ध में सम्मिलित कर सकते हैं। जब सहवर्ती नियम कारणता के सम्बन्ध के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते हैं तब हम उनको केवल उदाहरणों की गणना कर प्रकृति की एकरूपता पर विश्वास करते हुए, सिद्ध कर सकते हैं। यदि अपवाद न मिलें तो हमारे नियम अनुभव-जन्य कहलावेंगे जो हमारी खोज के क्षेत्र में हमको सम्भावनात्मक ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। यदि अपवाद पैदा होते हैं तो हमारे सामान्यीकरण आकस्मिक-सामान्यीकरण कहलावेंगे। जैसे "अधिकतर बाजुएँ श्वेत होती हैं। 'काले बादलों के आनेपर प्रायः वर्षा होती है'। इत्यादि।

---

(1) Certain laws based on the Method of Agreement.

(2) Coexistence of properties in the Natural Kinds.

(3) Certain Coincidences of qualities not essential to any kind and sometimes prevailing to many different kinds.

(4) Constancy of relative position.

(५) विश्व एक नियामक संगठन है

जिस विश्व को हम देखते हैं है वह एक नियम-पूर्ण सगठन है। प्रथम, इसमे नियम है जो प्रकृति के भिन्न भिन्न विभागों का नियन्त्रण करते हैं। द्वितीय, भिन्न भिन्न विभाग एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं है किन्तु एक सुव्यवस्थित पूर्णता के अश हैं। यथार्थ में विश्व एकानेक रूप है।

विश्व का नियन्त्रण नियमों द्वारा होता है। सबसे पहले हमे विश्व एक अव्यवस्थित वस्तु प्रतीत होती है जिसमें सब पदार्थ एक अद्भुत गड़बड़ में दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु अच्छी तरह विचार करने पर मालूम होगा कि इस दृष्ट भेद के अन्दर अभेद की झलक है। इस प्रत्यक्ष गड़बड़ में कुछ न कुछ अवश्य क्रम है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ससार का नियत्रण नियमों द्वारा होता है। ससार में स्वेच्छाचारिता के लिये कहीं स्थान नहीं है। विश्व में कोई बात आकस्मिक नहीं होती। जब कभी हमें कहना होता है कि यह बात अवसर-प्राप्त थी—तो हमारा मतलब वहाँ केवल नियम के अज्ञान से है। विज्ञान के क्षेत्र में सहूलियत के लिये प्रकृति को अनेक विभागों में बाँट रक्खा है। प्रत्येक विभाग के अलग-अलग नियम होते हैं और वे अपने विभाग-विषयक पदार्थों का विवेचन और व्याख्या करते हैं। जैसे, भौतिक विज्ञान में, आकर्षण का नियम कार्य करता है जिसके अनुसार भौतिक पदार्थ एक दूसरे को खींचते हैं। रसायन-विज्ञान में नियत अनुपात के कई नियम हैं जिनके अनुसार रासायनिक द्रव्य तय्यार किये जाते हैं। प्राणिविज्ञान में सतान का नियम है जिसके अनुसार माता पिता के गुण बच्चों में आते हैं। ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों की गति को नियत्रण करनेवाले नियम हैं जिनके अनुसार वे सब सूर्य की चारों ओर घूमते रहते हैं। यान्त्रिक विज्ञान में अनेक प्रकार के नियम हैं जिनके अनुसार मशीनें चलती हैं, इत्यादि।

इस प्रकार हम देखेंगे कि विश्व का नियत्रण नियमों द्वारा ही नहीं होता, अपितु यह नियमों का एक सगठन है। सगठन के माइने हैं पूर्णत्व। इस पूर्णत्व से इसका प्रत्येक भाग सम्बन्धित रहता है तथा इसके अनेक

भाग ही इसके होते हुए प्रापस में सम्बन्धित रहते हैं। पूर्णत्व अपने भागों को छोड़ कर नहीं रह सकता और न भाग पूर्णत्व के अभाव में रह सकते हैं। अतएव आपस में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हमें संगठन को एक वस्तुओं के मेल से अलग समझना चाहिये क्योंकि मेल में कोई खास संबंध नहीं होता। यद्यपि सहूलियत के लिये विश्व को हमने भिन्न-भिन्न विभागों में बाँट रक्खा है और उनके अलग-अलग नियम भी हैं जो उन विभागों में लागू होते हैं; तथापि भिन्न-भिन्न नियम एक पूर्णत्व के अंश हैं। प्रकृति कोई असम्बद्ध भागों का गठबंधन नहीं है किन्तु वे सब भाग एक संगठन के अंश हैं जिन्हें सारी या पूर्णत्व से अलग नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में हम प्रकृति की एक-रूपता को या मेल को ही अच्छा समझते हैं। इसी आधार पर हम प्राणि-विज्ञान की समस्याओं का रसायन-विज्ञान के नियमों के द्वारा व्याख्यान करते हैं और भौतिक-विज्ञान के तत्वों का प्राणिविज्ञान के नियमों से व्याख्यान करते हैं, इत्यादि।

भिन्न भिन्न विज्ञानों में भिन्न प्रकार के नियम होते हैं। उनमें कुछ अधिक सामान्य की मात्रा को लिये हुए होते हैं और कुछ कम जैसे प्राथमिक नियम और व्यापक नियम। हम व्यापक नियमों को प्राथमिक नियमों से निकाल सकते हैं और जिनको अभी तक उनमें सम्मिलित नहीं किया है जैसे, अनुभव-जन्य नियम। किन्तु अनुभव-जन्य नियमों को भी उच्चतर नियमों के अन्दर सम्मिलित किया जा सकता है। ज्यों ज्यों विज्ञान उन्नति करता जायगा त्यों त्यों निम्नतर नियमों का उच्चतर नियमों के द्वारा व्याख्यान किया जायगा। और निम्नतर नियम उसी प्रकार उच्चतर नियमों में से निकाले जायेंगे। इस प्रकार प्रतीत होता कि विश्व के सब नियम एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति के भिन्न भिन्न विभागों में केवल नियम ही नहीं हैं अपितु वे सब एक दूसरे से संबन्धित हैं और वे सब मिलकर एक संगठन को बनाते हैं। प्रकृति, व्यक्तिरूप, क्रम ही नहीं है इसमें क्रम भी है। यथार्थ में विश्व विघटन नहीं है किन्तु संगठन है[1]।

(1) The universe is not a chaos but cosmos.

अभ्यास प्रश्न

(१) नियम का क्या अर्थ है ? नियम कितने प्रकार होते हैं ? प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(२) प्राकृतिक नियमों और नियामक शास्त्रों के नियमों में क्या अन्तर है ? उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट करो ।

(३) स्वयसिद्ध किन्हें कहते है ? सामान्यानुमान के क्षेत्र में स्वयसिद्धों का क्या स्थान है ? कुछ स्वयसिद्धों के उदाहरण दो ।

(४) राजनैतिक नियम, प्राकृतिक नियम और नैतिक नियमों में क्या अन्तर है ? प्रत्येक का उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट करो ।

(५) नियमों का वर्गीकरण करके प्रत्येक प्रकार के नियमों का लक्षण लिखकर उत्तर दो ।

(६) प्राकृतिक नियम का लक्षण क्या है ? प्राथमिक, सहायक और अनुभव-जन्य नियमों की व्याख्या करो ।

(७) अपरिवर्तनीय और आसन्न-सामान्य-नियमों के लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(८) क्रमवर्ती और सहवर्ती नियम कौन से हैं ? उनके लक्षण लिखकर उदाहरण दो ।

(९) 'विश्व एक नियामक सगठन है' इस वाक्य का क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट उत्तर दो ।

(१०) क्या विश्व में विघटन भी है ? सगठन और विघटन में सामञ्जस्य स्थापित करो ।

(११) प्राकृतिक नियम का अनुभवजन्य नियम से किस प्रकार भेद दिखलाओगे ? नियम के अपवाद से विज्ञान क्या समझता है ?

(१२) 'अनुभव-जन्य नियम' यह वाक्यांश आत्यन्तिक विरोध से परिपूर्ण है ? इसका हल दो ।

(१३) उन अवस्थाओं का प्रतिपादन करो जिनके द्वारा एक अनुभव-जन्य-नियम को प्राकृतिक नियम में परिवर्तन कर सकते हो ।

(१४) क्या प्राकृतिक-नियम किसी पूर्व-धारणा पर अवलम्बित रहते हैं ? उदाहरण पूर्वक उत्पत्ति दो ।

(१५) प्राकृतिक नियमों को केवल प्रवृत्ति रूप ही क्यों कहना चाहिये ?

अध्याय ११

(१) स्पष्टीकरण या व्याख्या

स्पष्टीकरण की समस्या उसी प्रकार की है जैसी कि सामान्यानुमान की। इस कारण हम स्पष्टीकरण को सामान्यानुमान का लक्ष्य मान सकते हैं। स्पष्टीकरण की प्रक्रिया में सामान्यानुमान और विशेषानुमान दोनों काम में आते हैं। किसी पदार्थ या घटना का स्पष्टीकरण करने के लिये हमें सर्व प्रथम प्राक्कल्पना करनी पड़ती है। प्राक्कल्पना द्वारा हम किसी घटना या पदार्थ को थोड़े काल के लिये स्पष्ट कर सकते हैं। पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये हमें विशेषानुमान और समर्थन की आवश्यकता पड़ती है। स्पष्टीकरण का अन्त हमें तब प्राप्त होता है जब हम देखते हैं कि जिस प्राक्कल्पना द्वारा हमने पदार्थ या घटना की व्याख्या की है उसने अन्य प्राक्कल्पनाओं को हटाकर यह सिद्ध कर दिया है कि अमुक पदार्थ या घटना का स्पष्टीकरण इसी प्राक्कल्पना द्वारा हो सकता है अन्य से नहीं। कभी कभी हम साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान और उपमाजन्य सामान्यानुमान के द्वारा पदार्थों या घटनाओं की व्याख्या करते हैं और इनके आधार पर प्राक्कल्पनाएँ करते हैं। इन प्राक्कल्पनाओं के द्वारा ही पदार्थ या घटनाओं का स्पष्टीकरण किया जाता है। जब ये प्राक्कल्पनाएँ सामानुमान विधि और विशेषानुमान विधि दोनों के द्वारा सिद्ध कर दी जाती हैं तब हम वैज्ञानिक सामान्यानुमान पर पहुँचते हैं और यथार्थ में वैज्ञानिक सामान्यानुमान द्वारा ही हम पदार्थों या घटनाओं का स्पष्टीकरण कर सकते हैं।

स्पष्टीकरण (Explanation) का अर्थ है '**अस्पष्ट को स्पष्ट बनाकर रख देना**'। इंगलिश में भी एक्सप्लेनेशन शब्द का शब्द-विचार की दृष्टि से यही अर्थ है—अस्पष्ट को स्पष्ट बनाना। अतः स्पष्टीकरण पूर्व की अस्पष्ट अवस्था की कल्पना करता है। उस अस्पष्ट अवस्था को स्पष्ट करना

स्पष्टीकरण का काम है। साधारण भाषा में स्पष्टीकरण का अर्थ है व्याख्या करना या मनुष्य को बौद्धिक संतोष प्रदान करना।

जीवन के विकास-क्षेत्र में मनुष्य का बौद्धिक संतोष भिन्न-भिन्न प्रकार से होता रहा है। जो स्पष्टीकरण एक साधारण मनुष्य या पृथग्जन[1] के लिये पर्याप्त है वह एक वैज्ञानिक के लिये कभी भी मान्य नहीं हो सकता। प्राचीन समय में आंधी, तूफान, भूकम्प, ग्रहण आदि की घटनाओं का स्पष्टीकरण दैवी देवताओं द्वारा किया जाता था किन्तु आजकल कोई भी मनुष्य देवी देवताओं के आधार पर किये हुए स्पष्टीकरण को मानने के लिये तय्यार नहीं है। अन्ध-विश्वासी मनुष्य अब भी इस प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या के लिये देवी-देवताओं की कल्पना करते हैं और उनके द्वारा उनका स्पष्टीकरण करते हैं। जैसे भारत में ग्रहण की राहु और केतु द्वारा अब भी साधारण लोग व्याख्या करते हैं।

इस प्रकार की व्याख्याएँ इस वैज्ञानिक युग में हास्यास्पद गिनी जाती हैं। अतः कहना पड़ता है कि जो व्याख्या एक साधारण मनुष्य को संतोष दे सकती है वह एक वैज्ञानिक को नहीं दे सकती। इसी कारण प्रत्येक स्पष्टीकरण में हमें कुछ न कुछ पेचीदापन या कठिनाई उपस्थित होती है और जब तक वह कठिनाई या पेचीदापन दूर नहीं हो जाता तब तक हमें चैन नहीं पड़ता। चैन तभी पड़ता है जब कुछ न कुछ उस पदार्थ या घटना का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसलिये ही कहना पड़ता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न स्पष्टीकरण होते हैं और उनका भिन्न भिन्न होना उन मनुष्यों की बुद्धि की सावधानता, शिक्षा या अन्य साधना पर अवलम्बित रहता है।

उपर्युक्त विचार के आधार पर ही स्पष्टीकरण के दो भेद कर दिये जाते हैं (१) साधारण स्पष्टीकरण और (२) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण। दोनों का भेद उसी प्रकार का है जैसा कि साधारण ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान में भेद है। साधारणज्ञान(Ordinary knowledge) 'मात्र विच्छिन्न'[2] घटनाओं का संकलन होता है; उसके अन्दर गहराई नहीं होती। इसके

(1) Ordinary person. (2) Isolated.

विपरीत वैज्ञानिक ज्ञान (Scientific knowledge) इस प्रकार की विच्छिन्न घटनाओं में सामान्य नियमों को ढूढता है और उन्हें सुसबद्ध रूप में उपस्थित करता है'। अब हम यहाँ दोनों में भेद दिखलाने लिये कुछ बातें बतलाते हैं —

(१) साधारण स्पष्टीकरण में केवल बाहिरी सादृश्यसूचक बातों पर ध्यान रखकर संतोष किया जाता है, तथा वैज्ञानिक स्पष्टीकरण गहरी सादृश्यसूचक बातों को लेकर चलता है।

(२) साधारण स्पष्टीकरण में बिना किसी हिचक के देवी-देवताओं के द्वारा पदार्थों या घटनाओं की व्याख्या की जाती है, किन्तु वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में प्राकृतिक कारण या नियमों द्वारा व्याख्या की जाती है। साधारण रूप से हम चन्द्रग्रहण होने पर यह समझते हैं कि आकाश में केतु नाम का एक राक्षस है जो चन्द्रमा को ग्रस लेता है। किन्तु यह व्याख्या अवैज्ञानिक है इसकी वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि ग्रहण तब पड़ता है जब चद्रमा पृथ्वी की परछाई से होकर गुजरता है।

(३) साधारण स्पष्टीकरण द्वारा हम विश्व के पदार्थ या घटनाओं का व्याख्यान करते हैं किन्तु वैज्ञानिक स्पष्टीकरण सामान्य नियमों की व्याख्या करता है।

यदि वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किसी विशेष पदार्थ या घटना की व्याख्या भी करता हो तो वह साधारण स्पष्टीकरण की तरह किसी खास अवस्था का उल्लेख करके ही समाप्त नहीं हो जाता, अपितु उस पदार्थ या घटना के कारणों को बतलाता है। जैसे हमें कहीं जलती हुई आग की व्याख्या करनी हो तो हम साधारण-रीति से यह कह देते हैं कि जलती हुई दिया सलाई से यह उत्पन्न हुई है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि यह विध्यात्मक और निषेधात्मक अवस्थाओं के कारण उत्पन्न हुई है जो इसके कारण की ओर संकेत करती हैं। वैज्ञानिक स्पष्टीकरण केवल नियमों की ही व्याख्या करता है। आगे चल कर हम देखेंगे कि किसी नियम का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण तब होता है जब हम उसको किसी उच्चतर नियम के अन्दर ले आते हैं।

(२) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किसी वैयक्तिक पदार्थ या नियम की व्याख्या करता है। यद्यपि यह वैयक्तिक पदार्थ को छोड़कर नियम का अधिक व्याख्यान करता है।

जब हम किसी वैयक्तिक पदार्थ या घटना की व्याख्या करते हैं तब हम उसके कारण की खोज करते हैं अर्थात् हम उस कारण के नियम या नियमों का उल्लेख करते हैं जिनका वह पदार्थ या घटना, कार्य है। इसके नियम की खोज करने के पहले हम उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की तलाश करते हैं। इस विधि को 'समीकरण' की विधि कहते हैं। इस तरह जब फ्रेन्कलिन ने विद्युत्[2] की व्याख्या की तब बतलाया कि यह उसी प्रकार का पदार्थ है जैसा कि साधारण बिजली। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विद्युत् का समीकरण बिजली के साथ किया गया। उसी प्रकार लोहे में जंग लगने की मोमबत्ती के जलने के समान बताकर उसकी व्याख्या करते हैं। इस तरह समान बातों को ढूँढ़ा जाता है और देखा जाता है कि वे उसी कारण के कार्य हैं उदाहरणार्थ, लोहे का जंग लगना और मोमबत्ती का जलना वायु में आक्सिजन की सत्ता के कारण होता है।

किसी नियम का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण तब किया जाता है जब हम किसी अन्य नियम या नियमों का उल्लेख करते हैं जिनका यह स्वयं परिणाम है और जिससे हम इसको निकाल भी सकते हैं। जैसे, जब ग्रहों की गति को नियमन करने वाले नियम की व्याख्या की गई थी तब यह बतलाया गया था कि यह नियम उच्चतर नियम—आकर्षण के नियम का ही विशेष नियम है जो इससे निकाला हुआ है।

निम्नलिखित वाक्य जो वैज्ञानिक स्पष्टीकरण का वर्णन रीड ने दिया है, वह विचारणीय है :—

"वैज्ञानिक स्पष्टीकरण, पदार्थों के नियमों को खोजता है निकालता है और उनका समीकरण करता है।

---

(1) Assimilation (2) Lightning.

जब हम पदार्थों के नियमों की खोज करते हैं अर्थात् जब हम उन्हें बिलकुल नहीं जानते तब हम उनके बारे में प्राक्-कल्पना करना आरम्भ करते हैं और उनके कारण या नियम को खोजते हैं। इससे मालूम होता है कि स्पष्टीकरण का प्राक्-कल्पना से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। यथार्थ में प्राक्-कल्पना का उद्देश्य ही स्पष्टीकरण है। आकर्षण-शक्ति के नियम के बारे में प्रथम प्राक्-कल्पना करनी पड़ी पश्चात् उसके द्वारा सेब के गिरने की व्याख्या की गई।

स्पष्टीकरण में समीकरण भी आ जाता है। **'समीकरण का अर्थ है दूसरे पदार्थों के साथ समानता की बातें खोजना'**। किसी पदार्थ या नियम का दूसरे पदार्थ या नियम के साथ समीकरण तब होता है जब दोनों में कुछ समानता की बातें पाई जाती हैं। इस प्रकार ज्वार-भाटे को नियन्त्रण करने वाले नियमों का आकर्षण शक्ति के नियम के साथ समीकरण हो जाता है क्योंकि दोनों में आकर्षण के चिन्ह पाये जाते हैं। एक जेब्रा जन्तु का किसी घोड़े या गधे के साथ समीकरण किया जा सकता है, क्योंकि इसमें घोड़े या गधे के समान लक्षण पाये जाते हैं। इस दृष्टि में स्पष्टीकरण की वर्गीकरण से बहुत कुछ समानता है। वैज्ञानिक वर्गीकरण करने में अनेक महत्वपूर्ण समानता की बातों के आधार पर ही पदार्थों को सजाकर रक्खा जा सकता है। स्पष्टीकरण की वर्गीकरण के साथ समानता इसलिये भी है क्योंकि प्रश्नाङ्कित पदार्थ और दूसरे पदार्थों में अत्याधिक समानता पाई जाती है।

स्पष्टीकरण में सामान्यीकरण का भी अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्यीकरण या सामान्यानुमान का अर्थ है विशेष उदाहरणों की परीक्षा करके सामान्य-वाक्य का निर्माण करना। यह हम तब कर सकते हैं जब विशेष उदाहरण कुछ सादृश्य सूचक बातें बतलाते हैं जिससे हम कारण-सम्बन्ध के विषय में अनुमान लगा सकें। इसी हेतु से स्पष्टीकरण और सामान्यीकरण में भी अत्यधिक समानता है। सामान्यानुमान का लक्ष्य है कारणता-सम्बन्ध की खोज करना और उसकी सिद्धि करना, जिससे पदार्थों का अच्छी

तरह से स्पष्टीकरण हो सके। स्पष्टीकरण वास्तव में लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति सामान्यानुमान के द्वारा ही सकती है।

अन्ततः स्पष्टीकरण में विशेषानुमान को भी सम्मिलित किया जाता है। किसी नियम की अच्छी व्याख्या तब समझी जाती है जब उसको किसी सामान्यनियम से निकाला जाता है। एक अनुभवजन्य नियम की व्याख्या तब समझी जाती है जब हम उसे उच्चतर नियम में से निकालते हैं। गिरते हुए भौतिक पदार्थ सम्बन्धी नियम की व्याख्या तब पूरा समझी जाती है जब यह दिखलाया जाता है कि यह आकर्षण के नियम का एक विशेष रूप है।

(३) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के रूप

मिल और बेन ने ३ प्रकार के स्पष्टीकरण बतलाये हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं —

(१) विश्लेषण
(२) कारण-समन्वेषण
(३) सामान्यान्तर्निवेशण

विश्लेषण (Analysis) स्पष्टीकरण का एक रूप है। जिसके द्वारा हम किसी सम्मिलित परिणाम वाले नियम को उसके कारणों के नियमों में और उन कारणों की घटनाओं में अलग अलग कर दिखलाते हैं। विश्लेषण का सामान्यरूप से यह रूप है कि इसमें हम यह दिखलाते हैं कि सम्मिलित कार्य को कई कारण इकट्ठे मिल कर पैदा करते हैं।

(१) प्रक्षेपात्मक (Projectile) के मार्ग की व्याख्या के लिये हम अलग-अलग कारणों का उल्लेख करते हैं जैसे आकर्षण का नियम, आरम्भिक-शक्ति जिससे प्रक्षेपात्मक को फेंका गया है, हवा के दबाव का नियम, इत्यादि। इसके अतिरिक्त हम यह कहते हैं कि ये भिन्न-भिन्न कारण मिल कर सम्मिलित कार्य को उत्पन्न करते हैं।

(1) Initial force.

(२) किसी ग्रह की कक्षा की व्याख्या के लिये प्रथम हम यह बतलाते हैं कि अमुक ग्रह की कक्षा आकर्षण के नियम से पैदा होती है और इस नियम से कि ग्रह सीधी रेखा में गमन करते हैं। द्वितीय, दोनों कारण सम्मिलित होकर ग्रहों पर कार्य करते हैं।

इस प्रकार का स्पष्टीकरण समान-जातीय-कार्य-सम्मिश्रण की व्याख्या करने के लिये प्रयोग किया जाता है। इसमें दो बातें पाई जाती हैं।

(१) भिन्न भिन्न कार्यों के सरल-सरल नियमों का उल्लेख किया जाता है तथा (२) यह बतलाया जाता है कि उनकी सत्ता रहती है और वे एक साथ काम करते हैं। यदि इन बातों का ध्यान न दिया जायगा तो विपरीत परिणाम उत्पन्न होगा।

(२) कारण-क्रमान्वेषण (Concatenation) स्पष्टीकरण का एक प्रकार है जिसमें कारण और उसके दूरवर्ती कार्य के मध्य हम कारणता के क्रमों का अन्वेषण कराते हैं। इस प्रकार के स्पष्टीकरण में कार्य का साक्षात् कारण नहीं बतलाया जाता है किन्तु उस कारण के मध्यवर्ती कार्य से उसकी व्याख्या की जाती है। बजाय इसके कि 'क' और 'ग' में कारणता सिद्ध की जाय हम यह बतलाते हैं कि 'क' का कार्य 'ख' है और 'ख' का कार्य 'ग' है। यहाँ 'क' और 'ग' का सम्बन्ध 'ख' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसके निम्नलिखित उदाहरण है.—

(१) बिजली (आकाशीय) के विषय में हमें यह मालूम पड़ता है कि बिजली में धड़ाका पैदा करने की शक्ति है किन्तु यथार्थ में बिजली गर्मी पैदा करती है और गर्मी के वायुमडल में एकदम फैलने के कारण एक प्रकार का उच्च घोष पैदा होता है। इस उदाहरण में गर्मी कारणता की जजीर में एक मध्यवर्ती कड़ी है।

(२) जब क्लोरीन का आविष्कार हुआ था तब यह पता लगा कि इसमें वस्तुओं को सफेद करने की अत्यधिक शक्ति है। किन्तु जाच करने पर मालूम हुआ कि वह क्लोरीन नहीं है जो रग को नष्ट कर डालती है किन्तु मध्यवर्ती कारण ऑक्सिजन है। क्लोरीन केवल पानी का विश्लेषण

कर डालती है और हाईड्रोजन को लेकर, आक्सिजन को एक नयी किया की हालत में छोड़ देती है जो रंग के द्रव्य को नष्ट कर डालती है।

(३) सामान्यान्तर्निवेश (Subsumption) एक प्रकार का स्पष्टीकरण है जिसके द्वारा एक कम सामान्यनियम अधिक सामान्यनियम के अन्दर लाया जाता है। इस तरह हम देखेंगे कि कम सामान्यवाले नियमों की व्याख्या, उनको अधिक सामान्यवाले नियमों के उदाहरण बना कर की जाती है। इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं :

(१) पृथ्वी के आकर्षण का नियम—कि पार्थिव वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं—इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है कि यह केवल एक अधिक सामान्य वाले नियम का उदाहरण है।

(२) चुम्बक की शक्ति के नियम का स्पष्टीकरण—इस नियम को अधिक सामान्यवाले नियम को विद्युत् के प्रवाहों को नियन्त्रित करते हैं, के अन्दर लाकर किया जाता है।

सामान्यान्तर्निवेश की प्रक्रिया का सम्बन्ध नियमों के साथ वही सम्बन्ध है जैसा उनका विशेष पदार्थों के साथ होता है। अनेक विशेष पदार्थों में रहनेवाले सामान्य को हम सरल नियम कहते हैं। यह प्रक्रिया चाहे ऊपर को जाती हो या नीचे आ जाती हो वैज्ञानिक उन्नति का मूल यही है। कोई विज्ञान पूर्णता को तभी प्राप्त होता है जब यह अनेक पदार्थों को अपने अन्दर समावेश कर उनके विषय में सामान्य सिद्धान्त कायम करता है और बतलाता है कि उपयुक्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले—अनेक छोटे-छोटे सामान्य नियम बनाए गये हैं जो उन पदार्थों में रहनेवाले सामान्य गुणों के द्योतक हैं।

(४) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की सीमाएं—

यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जब पदार्थों में समानता की बात दृष्टिगोचर नहीं होती तब हम उनका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते। वैज्ञानिक स्पष्टीकरण का यही उद्देश्य होता है कि हम पदार्थों में समानता की बातें खोजें और उनका अन्य पदार्थों या नियमों के साथ समीकरण करें। अतः समीकरण (Assimilation) की सीमाएँ, स्पष्टीकरण की सीमाएँ हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ हमें समानता के लक्षण या बातें प्राप्त नहीं होती वहाँ स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। इसलिये निम्नलिखितों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकताः—

(क) चैतन्य की मौलिक अवस्थाओं का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। जैसे रग, ताप, गध, शब्द, स्पर्श, दुख, सुख, इत्यादि। ये वस्तुएँ ऐसी हैं कि इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि ये मौलिक अवस्थाएँ हैं। इनमें सामानता की बातें देखने में नहीं आतीं और ये एक दूसरे से अत्यन्त भेदकता को लिये हुए हैं। उदाहरणार्थ, रग और ताप में कोई सामानता नहीं है जिससे हम रंग के नियमों को ताप के नियमों में परिववर्तित कर सकें और विपरीतरूप में भी दिखला सकें।

(ख) मौलिक पदार्थों के प्राथमिक गुणों का भी स्पष्टीकरण नहीं हो सकता जैसे, फैलाव, आकृति, रुकावट, वज़न (भार) गति, इत्यादि। ये गुण आपस में भिन्न है, उनमें समानता की बातों का बिलकुल अभाव है। अत इनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

(ग) क्योंकि विशेष पदार्थों में अनन्त गुण होते हैं इसलिये उन सबका स्पष्टीकरण करना असभव है। हमें किसी विशेष पदार्थ के बारे में कितना ही भौतिक, रासायनिक नियमों का ज्ञान क्यों न हो, फिर भी हम देखेंगे कि उनकी असख्य विशेषताए होती हैं जिनकी व्याख्या करना हमारे लिये असम्भव होहा है, जैसे एक पत्थर का टुकड़ा। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में भी हमें बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। जब हम उस मनुष्य के व्यक्तित्व की व्याख्या करना शुरू करते हैं तब हम देखेंगे कि हमें उसके जन्म, शिक्षा, पड़ोस आदि का ज्ञान होने पर भी उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं के असंख्य होने के कारण हम उनका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते।

(घ) मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की जा सकती। ये सबसे अधिक सामान्य वाले होते हैं। इनका सामान्य धर्म इतना अधिक होता है कि इनको, अन्य इनसे अधिक सामान्य धर्म वाले नियमो में, अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। इनका आपस में भी अन्तरर्भाव नहीं किया जा सकता।

जैसे, विचार के नियम प्रकृति की एक रूपता का नियम, इत्यादि नियम ऐसे हैं जिनकी व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि इनके समान अन्य कोई वस्तु नहीं है और न इनका किसी अन्य नियम के अन्दर अन्तर्भूत किया जा सकता है।

(४) स्पष्टीकरण के दोष

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के नियमों को भंग करने से स्पष्टीकरण के दोष उत्पन्न होते हैं। प्रायः में दोष-युक्त स्पष्टीकरण केवल आभास में स्पष्टीकरण कहलाता है यथार्थ में नहीं। यह व्याख्या किये बिना ही यह दिखलाता है कि वस्तुओं या नियमों की व्याख्या की गई है। तार्किक बेन इस प्रकार के दोष-युक्त स्पष्टीकरण के तीन प्रकार बतलाता है। वे निम्नलिखित हैं —

(१) प्रथम प्रकार का दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण उसे कहते हैं जब हम एक पदार्थ को विभिन्न भाषा में, बिना एक सामानान्तर पदार्थ को दिये हुए केवल दुहराते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब हम किसी पदार्थ का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं तब हम बजाय इसके कि उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करें हम उसे किसी भिन्न भाषा में दुहराते हैं। जैसे, अफीम की व्याख्या करने के लिये — अफीम क्यों नशा लाती है? हम कह देते हैं कि इसमें नींद लाने वाले गुण हैं। इसी प्रकार हम कहते हैं कि भविष्य, अतीत के समान होता है क्योंकि प्रकृति एकरूप होती है। इस प्रकार के स्पष्टीकरणों का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि इनमें उसी अर्थ के दुहराने के अतिरिक्त कोई विशेष ज्ञान प्राप्त करने की बात नहीं कही गई है।

(२) द्वितीय प्रकार का दोष पूर्ण स्पष्टीकरण उसे कहते हैं जब हम किसी पदार्थ या घटना को साधारण समझ बैठते हैं क्योंकि उससे हम परिचित होते हैं।

हम प्रति दिन देखते हैं कि सेब वृक्ष से नीचे गिरते हैं। यह एक साधारण बात है, किन्तु न्यूटन महोदय के लिये यही एक विचारणीय समस्या थी और इस साधारण घटना के आधार पर ही उन्होंने आकर्षण का

सिद्धान्त स्थापित किया था जिसके द्वारा आज अधिक वस्तुओं की व्याख्या की जाती है।

(२) तृतीय प्रकार का दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण तब उत्पन्न होता है जब हम यह इच्छा करते हैं कि हमारे जाने हुए पदार्थों में जो घटना क्रम हमने देखा है उसमें हमे उससे कुछ और अधिक प्राप्त हो सकता है।

मनुष्य के मस्तिष्क की यह माँग है कि वह अधिक से अधिक सामान्य धर्म वाले नियमों को स्थापित करे। कम सामान्य वाले नियम अधिक सामान्य वाले नियमों में अन्तर्भूत कर लिये जाते हैं और ये उनसे भी अधिक सामान्य धर्म वाले नियमों में अन्तर्गत कर लिये जाते हैं, इत्यादि। किन्तु जब हम चरम नियम पर पहुंच जाते हैं तब हमें सतोष करके बैठना पड़ता है और यह स्पष्टीकरण की अन्तिम सीमा होती है। लेकिन फिर भी वैज्ञानिक, और अधिक सामान्य धर्म वाले नियम की खोज में रहते हैं। न्यूटन आकर्षण को चरम या अन्तिम नियम मानने को तय्यार नही था और वह चाहता था कि इससे भी अधिक सामान्यधर्मवाले नियम की खोज की जाय। आज तक इस प्रकार के प्रयत्न में किसी को सफलता नहीं मिलती है। अन्त यह स्वीकार करना उचित है कि यह आत्यन्तिक नियम है जिसको किसी अन्य उच्चतर नियम के अन्दर नहीं लाया जा सकता।

इनके अतिरिक्त जितने जन साधारण के स्पष्टीकरण हैं वे सब दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण है। अत केवल बाहिरी समानता की बातों के आधार पर जितने स्पष्टीकरण किये जायेंगे वे सब दोषपूर्ण होंगे।

अभ्यास प्रश्न

(१) विज्ञान में स्पष्टीकरण का क्या अर्थ है ? वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन उदाहरण पूर्वक करो।

(२) तार्किक स्पष्टीकरण किसे कहते हैं ? इसके मुख्य-मुख्य रूप क्या हैं ? उदाहरण देकर उनके लक्षण लिखो।

(३) वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की सीमायें निश्चित करो। मिथ्या या दोष-पूर्ण स्पष्टीकरण के प्रकार उदाहरण पूर्वक बतलाओ।

(४) प्राक्-कल्पना का स्पष्टीकरण के साथ क्या सम्बन्ध है ? भिन्न भिन्न प्रकार के स्पष्टीकरणों के लक्षण लिखकर उनकी व्याख्या करो।

(५) ज्वारभाटा और वायुयान की गति की व्याख्या किस प्रकार करोगे ? दोनों के स्पष्टीकरणों में क्या अन्तर है ?

(६) 'किसी वस्तु का स्पष्टीकरण करना अर्थात् उसको किसी विशेष नियम के अन्दर लाना है' इसका क्या अर्थ है ? स्पष्ट करो।

(७) मिथ्या स्पष्टीकरणों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण दो।

(८) 'पृथक् जन या साधारण मनुष्य के स्पष्टीकरण क्यों दोष पूर्ण होते हैं'? इसका वैज्ञानिक कारण बतलाओ।

(९) 'किसी पदार्थ का स्पष्टीकरण करने का अर्थ है उसके कारण को जानना' इस कथन पर अपने विचार करो।

(१) 'विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों और घटनाओं की व्याख्या करना है' इस वक्तव्य पर प्रकाश डालो।

(११) साधारण स्पष्टीकरण और वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में अन्तर दिखलाकर वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की विशेष व्याख्या करो।

(१२) कारण-कार्यान्वेषण तथा सामान्यान्वनिर्देश के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

अध्याय १२

(१) वर्गीकरण

वर्गीकरण की समस्या का, लक्षण और विभाग के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रथम भाग में लक्षण और विभाग के प्रश्न पर समुचित विचार किया जा चुका है। अब यहाँ वर्गीकरण के सिद्धान्त का विवेचन किया जाता है।

हम प्राय: विभाग और वर्गीकरण के विषय में विशेष ध्यान न रखते हुए दोनों प्रक्रियाओं को कुछ मिलती जुलती मानकर कार्य चला लेते है। किन्तु विचार पूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि दोनों प्रक्रियाएँ सर्वथा भिन्न हैं। कारवेथ रीड ने वर्गीकरण का लक्षण यह दिया है :—

"वर्गीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें पदार्थ या वस्तुओं को, उनकी समानता और असमानता के आधार पर, मानसिक दृष्टि से एकत्रित किया जाता है जिससे हमारे कुछ उद्देश्य की पूर्ति हो सके।" इस लक्षण का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है :—

(१) सर्व प्रथम, वर्गीकरण मानसिक एकत्रीकरण है। अर्थात् इसमें वस्तुओं का मानसिक एकत्रीकरण किया जाता है। जैसे, वनस्पति विज्ञान में हम वृक्षों और पौधों का भिन्न-भिन्न वर्गों में एकत्रीकरण करते हैं। ऐसा करने में सब प्रकार के वृक्ष और पौधे हमारे सामने नहीं रहते हैं। इसलिये इसको हम मानसिक एकत्रीकरण कहते हैं।

(२) द्वितीय, वस्तुओं का वर्गीकरण उनकी समानता और असमानता के आधार पर किया जाता है। जो वस्तुएँ समान हैं उनको एक वर्ग में रक्खा जाता है और जो उनसे भेद रखती हैं उनको अन्य वर्ग में रक्खा जाता है।

(३) तृतीय, वर्गीकरण में कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है। वर्गीकरण

करने में केवल एक ही उद्देश्य नहीं रहता है किन्तु अनेक उद्देश्य रहते हैं और उनके अनुसार उनका वर्गीकरण किया जाता है।

जहाँ तक उद्देश्यों का सम्बन्ध है वर्गीकरण में उद्देश्य साधारण व वैज्ञानिक हो सकता है अथवा विशेष या व्यावहारिक हो सकता है।

(२) स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण

उद्देश्य के अनुसार ही वैज्ञानिकों ने दो प्रकार के वर्गीकरण माने हैं। (१) स्वाभाविक या वैज्ञानिक वर्गीकरण और (२) कृत्रिम या विशेष वर्गीकरण।

(१) वर्गीकरण का साधारण उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना होता है। विज्ञान में हमें वस्तुओं का सुसंगत ज्ञान प्राप्त होता है; जैसे वनस्पति विज्ञान में हम प्राणी और वृक्षों का वर्गीकरण करते हैं जिससे हम उनके स्वभाव और अवस्थाओं को जान सकें। क्योंकि विज्ञान का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति है, अत वैज्ञानिक वर्गीकरण द्वारा हम अपने ज्ञान का विस्तार करना चाहते हैं। इसे हम वैज्ञानिक वर्गीकरण कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है —

"वैज्ञानिक वर्गीकरण[1] वस्तुओं के अत्यधिक समानता और असमानता की बातों के आधार पर, साधारण ज्ञान की प्राप्ति के लिये मानसिक संकलन को कहते हैं।" इसको साधारण या स्वाभाविक वर्गीकरण भी कहते हैं।

(२) वर्गीकरण का उद्देश्य व्यावहारिक सुगमता भी होता है और उस अवस्था में हमारा उद्देश्य विशेष प्रकार का होता है। यहाँ हम पदार्थों का वर्गीकरण साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिये नहीं करते हैं, जैसे, एक लाइब्रेरियन अक्षर-क्रम से पुस्तकों का वर्गीकरण करता है। जिससे पाठक लोग सुगमता से पुस्तकों को प्राप्त कर सकें। यह व्यावहारिक या कृत्रिम वर्गीकरण कहलाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

"कृत्रिम वर्गीकरण[2] वस्तुओं के, समानता की बातों के आधार पर जो विशेष उद्देश्य को लेकर यथेच्छारूपसे बाँधी गई

(1) Scientific Explanation (2) Artificial Explanation.

हों, मानसिक संकलन को कहते हैं।" इसको विशेष वर्गीकरण या व्यावहारिक वर्गीकरण भी करते हैं।

(३) स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण में भेद का अभाव

कुछ तार्किक लोग उक्त दोनों प्रकार के वर्गीकरण में भेद का अभाव वतलाते हैं और कहते हैं कि एक अर्थ में सब प्रकार के वर्गीकरण कृत्रिम ही होते हैं क्योंकि उन सबका हम निर्माण करते हैं। प्राय करके हम वस्तुओ का मानसिक सकलन कर उनको भिन्न-भिन्न वर्गों में रखते हैं। यह नहीं है कि प्रकृति के द्वारा वे हमें भिन्न रूपों में बने-बनाए मिलते हैं। जब कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण करना आरम्भ करता है तब वह अपनी इच्छानुसार समानता की बातों के आधार पर उपयोगी वर्गों का निर्माण करता है। अन्य तार्किकों का यह विचार है कि सब वर्गीकरण स्वाभाविक होते हैं, क्योंकि जिन समानता की बातों के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है, वे वास्तव में प्रकृति में पाई जाती हैं। जब हम पुस्तकालय में पुस्तकों का वर्गीकरण करते हैं तब उनमें भी बाहरी समानता पाई जाती है जिसको हमने नहीं बनाया है। अत स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण में भेद की रेखा खींचना असम्भव है, तथा हमारे लिये यह भी कहना कठिन है कि कहाँ स्वाभाविकता का आरम्भ होता है और कहाँ कृत्रिमता का आरम्भ होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों मे भेद सिद्ध करना अनावश्यक है। अब हम यहाँ स्वाभाविक वर्गीकरण और 'स्वाभाविक प्रकार' के सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

(४) स्वाभाविक वर्गीकरण और स्वाभाविक प्रकार

पहले यह बतलाया गया है कि स्वाभाविक वर्गीकरण अनेक समानता की मुख्य बातों को लेकर किया जाता है। यदि केवल बाह्य समानता की बातें ही हों तो उनके आधार पर वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। समानता की बातें खास होनी चाहियें। मिल महोदय के शब्दों में वे निम्नलिखित हैं "खास समानता की बातें वे हैं जो स्वय अपने आप या अपने कार्यों द्वारा वस्तुओं को एक-सदृश बनाने में सहायक

(६) नमूने या लक्षण के द्वारा वर्गीकरण

स्वाभाविक वर्गीकरण का आधार अत्यधिक मुख्य-मुख्य समानता की बातें हैं अतः इसमें लक्षण की आवश्यकता है। लक्षण में हम सम्पूर्ण भावार्थ देते हैं। ह्वेवेल साहब का यह मत है कि वर्गीकरण का आधार नमूना[1] है। इसके विरुद्ध मिल महोदय का कहना है कि वर्गीकरण का आधार लक्षण[2] है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वाभाविक पदार्थों का वर्गीकरण साधारण समानता की बातों के आधार पर, स्वाभाविक वर्गों में किया जाता है, न कि विशेष-विशेष मुख्य समानता की बातों पर किया जाता है।

नमूना (Type) किसी जाति के श्रेष्ठ व्यक्ति[3] को कहते हैं। यह उस जाति के समस्त गुणों को पूर्ण रूप से प्रकट करता है। ह्वेवेल महोदय का कहना है कि स्वाभाविक वर्ग इन नमूनों के आधार पर बने हुए होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हम चीते को नमूना मानकर उसकी ओर उस प्रकार के अन्य जन्तुओं को उसमें सम्मिलित कर सकते हैं, जैसे बिल्ली, तेंदुआ, बघेरा, कौगर। इसके विपरीत मिल महोदय का यह कहना है कि नमूने के द्वारा हमें वर्गीकरण की सूचना मिल सकती है, किन्तु वर्गीकरण का निश्चय तो केवल लक्षण के द्वारा ही होता है। हमें चाहिये कि किसी जाति के व्यक्तियों के मुख्य-मुख्य गुणों को लेकर उसका वर्गीकरण करें, न कि नमूने को लेकर।

यहाँ यह बतलाना अनुचित न होगा कि ह्वेवेल साहब का मत सर्वसाधारण है किन्तु मिल महोदय का मत वैज्ञानिक है। साधारण रूप से हम साधारण समानता की बातों से संतुष्ट हो सकते हैं। लेकिन वे बातें केवल दिखावे के रूप हैं या गहरी हैं—इसका पता केवल लक्षण ही दे सकता है। अतः वैज्ञानिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि ह्वेवेल की अपेक्षा मिल महोदय का मत पुष्टतर है। क्योंकि नमूने के द्वारा वर्गीकरण वैज्ञानिक वर्गीकरण में सहायता तो कर सकता है किन्तु वैज्ञानिक रूप को धारण नहीं कर सकता।

(1) Type. (2) Definition. (3) Eminent member.

(७) श्रेणी के द्वारा वर्गीकरण

जब कोई गुण अनेक जातियों में भिन्न भिन्न परिमाण में दृष्टिगोचर होता है तब हम उन जातियों को श्रेणियों में रखते हैं। साधारण वर्गीकरण की प्रक्रिया में हम पदार्थों को उनकी समानता और असमानता के आधार पर वर्गों में विभाजित कर देते हैं। यदि उनमें समानता होती है तो हम उन्हें उसी वर्ग में रखते हैं और यदि भिन्नता होती है तो अन्य वर्ग में रखते हैं और जब यह देखते हैं कि कुछ जातियों में एक गुण भिन्न भिन्न परिमाण में पाया जाता है तब हम उनका वर्गीकरण श्रेणियों में करते हैं। श्रेणियों मे वर्गीकरण करने का यही अर्थ है कि पदार्थों की जातियों को उनके गुण के भिन्न भिन्न परिमाणों के अनुसार श्रेणियों मे रखना। मिल महोदय ने श्रेणी के द्वारा वर्गीकरण की दो आवश्यकताएँ बतलाई हैं।

(१) वे वस्तुएँ जो एक विशेष गुण को प्रकट करती हैं उनको हमें एक बड़ी जाति में रखना चाहिये।

(२) पश्चात् इन वस्तुओं को उस गुण के परिमाण के अनुसार—जिनमें यह गुण सबसे अधिक पाया जाता हो और जिनमें सबसे कम पाया जाता हो—भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभाजित करके रखना चाहिये।

उदाहरणार्थ, इस प्रकार की जातियाँ जैसे, मनुष्य, पशु, पौधे इत्यादि, इन सबमें जीवन पाया जाता है, किन्तु इनमें जीवन के भिन्न भिन्न परिमाण होते हैं। हम इनको जातियों में रखते हैं और 'मनुष्य' को शीर्ष पर रखते हैं, पशुओं को बाद में और नीचे पौधों को। इस प्रकार श्रेणि के द्वारा वर्गीकरण उन मामलों में प्रयोग किया जाता है जहाँ एक गुण विशेष का किसी जाति में सर्वथा अभाव नहीं पाया जाता है, अपितु भिन्न-भिन्न परिमाण में सबमें पाया जाता है। इसी हेतु से इस प्रकार के वर्गीकरण में हम सह-परिवर्तन-विधि को प्रयोग में लाते हैं।

(८) वर्गीकरण और विभाग

यह हमने पहले बतलाया है कि वर्गीकरण और विभाग प्रायः एक

समान ही प्रक्रियाएँ हैं। तथापि दोनों में भेद अवश्य है। विभाग में हम एक सामान्य या जाति को लेकर उसकी उप-जातियों में उसका विभाग करते हैं। इसके अन्दर हम किसी एक गुण को ले लेते हैं जो कुछ व्यक्तियों में पाया जाता है और कुछ में नहीं पाया जाता है और इसको विभाग का सिद्धान्त मानकर हम उच्चतर जातियों या सामान्यों को उपजातियों में विभाजित कर डालते हैं। जैसे, हम उच्चतर जाति, जीव को, मनुष्य और अन्य जन्तुओं में विभाजित करते हैं। इसके विपरीत वर्गीकरण में हम कुछ पदार्थों को लेते हैं और उनकी उनकी समानता या विभिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों में रखते हैं। मनुष्य का वर्गीकरण करते हुए हम देखते हैं कि उनमें पशुओं के साथ कुछ खास विशेषताएँ पाई जाती हैं, अत: हम उन्हें 'जीव' जाति के अन्दर रखते हैं।

इस प्रकार विभाग में हम उच्चतर जाति से आरम्भ करते हैं और निम्नतर जाति की ओर बढ़ते चले जाते हैं, तथा वर्गीकरण में हम व्यक्तियों से आरम्भ करते हैं और उन्हें उच्चतर जातियों या सामान्यों में रखते चले जाते हैं। इसी कारण से विभाग को निगमनानुमानीय कहा जाता है और वर्गीकरण को क्योंकि इसके द्वारा व्यक्तियों को वर्गों में रक्खा जाता है सामान्यानुमानीय कहा जाता है। विभाग और वर्गीकरण में एक प्रकार का और भी भेद पाया जाता है। विभाग रूपात्मक प्रक्रिया है तथा वर्गीकरण विषयात्मक प्रक्रिया है। वर्गीकरण में हम यथार्थ वस्तुओं से काम लेते हैं किन्तु विभाग में हम तर्क-पूर्ण जाति को लेते हैं जिसे हम रूपात्मक नहीं समझते, जैसे हम व्यक्तियों को रूपात्मक समझते हैं। वर्गीकरण यथार्थ-क्रम से सम्बन्ध रखता है और विभाग विचारात्मक क्रम से सम्बन्ध रखता है।

मौलिक रूप से विचार करने पर प्रतीत होगा कि दोनों प्रक्रियाएँ एक-समान ही हैं। दोनों में हम वस्तुओं को, जो समान हैं, एकत्रित करते हैं; और जो भिन्न हैं उन्हें अलग करते हैं। यथार्थ में दोनों प्रक्रियाएँ एकरूप नहीं हैं; किन्तु दोनों सह-सम्बन्धी[1] हैं।

---

(1) Co-related.

(६) वर्गीकरण और लक्षण

वैज्ञानिक वर्गीकरण में वस्तुओं को उनकी अत्यधिक और मुख्य-मुख्य समानता की बातों को लेकर वर्गों में रक्खा जाता है। लक्षण में इसके विपरीत, वस्तुओं के आवश्यक गुणों की निश्चिति की जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक वर्गीकरण लक्षण पर निर्भर रहता है। हम वस्तुओं को तभी वर्गों में रख सकते हैं जब हमें उनके मुख्य-मुख्य गुणों का बोध हो। जहाँ तक व्यावहारिक या कृत्रिम वर्गीकरण का सम्बन्ध है हम यथेच्छा रूप से कुछ बाहिरी समानता की बातों को छाँट लेते हैं, इसलिये व्यवहारिक वर्गीकरण का लक्षण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त वर्गीकरण, पद के द्रव्यार्थ से सम्बन्ध रखता है और लक्षण, पद के भावार्थ से सम्बन्ध रखता है। वर्गीकरण में हम वस्तुओं को जातियों में रखते हैं तथा लक्षण में हम उनके आवश्यक गुणों का निश्चय करते हैं। क्योंकि गुण, गुणी के अभाव में नहीं पाए जाते, इसलिए ये दोनों प्रक्रियाएँ सह सम्बन्धी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक वर्गीकरण की सीमाएँ

वैज्ञानिक वर्गीकरण की निम्नलिखित सीमाएँ हैं —

(१) जो सबसे अधिक सामान्य है उसका वर्गीकरण नहीं हो सकता। वर्गीकरण में हम कम सामान्य से अधिक सामान्य की ओर चलते हैं। अत जो सबसे अधिक सामान्य है उसका वर्गीकरण नहीं हो सकता। अर्थात् महा सामान्य (Summum genus) का वर्गीकरण करना असम्भव है।

(२) तटवर्ती वस्तुओं का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। तटवर्ती वस्तुएँ वे कहलाती हैं जिनमें कुछ गुण तो एक जाति के पाए जाते हों, और कुछ गुण अन्य जाति के पाए जाते हों, जैसे, जैली (Jelly) एक पदार्थ है जिसमें घनत्व और तरलत्व दोनों गुण पाए जाते हैं। अतः इसका वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। स्पन्ज भी कुछ ऐसा ही पदार्थ है जिसको हम जन्तु भी कह सकते हैं और पौधा भी कह सकते हैं। वैज्ञानिक लोग इस प्रकार के पदार्थों का वर्गीकरण करने में अत्यन्त कठिनाई अनुभव करते हैं।

साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक वर्गीकरण लक्षण पर अवलम्बित है। अतः जो सीमाएँ लक्षण की हैं वही सीमाएँ वर्गीकरण की हैं। जिन वस्तुओं का लक्षण नहीं हो सकता; उन वस्तुओं का वर्गीकरण भी नहीं हो सकता। यदि हम संतोषपूर्वक व्यक्तिगत पदार्थों के गुणों का निश्चय नहीं कर सकते तो उनका जातियों में वर्गीकरण भी नहीं किया जा सकता। वर्गीकरण के लिये समानता और असमानता इन दोनों प्रकार के गुणों की अत्यन्त आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न—

(१) वर्गीकरण का लक्षण लिखकर इसका प्रयोग बतलाओ। वर्गीकरण का विभाग से अन्तर बतलाओ।

(२) स्वाभाविक और कृत्रिम वर्गीकरण में क्या अन्तर है? क्या यह भेद माननीय है?

(३) कृत्रिम वर्गीकरण का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसका क्यों उपयोग किया जाता है? स्पष्ट उत्तर दो।

(४) स्वाभाविक प्रकार के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इसका स्वाभाविक वर्गीकरण से क्या सम्बन्ध है?

(५) वर्गीकरण का क्या नियम है? प्रत्येक का उल्लेख करके व्याख्यान करो।

(६) 'नमूना' वर्गीकरण में क्या कार्य करता है? नमूने के आधार पर वर्गीकरण की प्रक्रिया की सार्थकता सिद्ध करो।

(७) लक्षण और वर्गीकरण में क्या सम्बन्ध है? दोनों के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(८) श्रेणी द्वारा वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है? क्या इस प्रकार की प्रक्रिया को वैज्ञानिक कहा जा सकता है?

(९) वैज्ञानिक वर्गीकरण की सीमाएँ निर्धारित करो। कुछ वस्तुओं का वर्गीकरण क्यों नहीं किया जा सकता?

(१०) चमकादर और मूगा का वर्गीकरण किस प्रकार करोगे ? वैज्ञानिक वर्गीकरण के आधार पर उत्तर दो।

(११) लक्षण, विभाग, और वर्गीकरण इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करो। तथा तीनों के लक्षण लिखकर उदाहरण भी दो।

(१२) वर्गीकरण में जाति, क्रम, उपराज्य, राज्य वगैरह पदों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(१३) 'लक्षण के निर्णय की प्रक्रिया वर्गीकरण से अभिन्न है' इस कथन पर अपने समालोचनात्मक विचार प्रकट करो।

अध्याय १३

(१) परिभाषा और नामकरण

विज्ञान के अन्दर जितने नामों का प्रयोग होता है उनका अच्छी तरह लक्षण किया जाता है और उनका अर्थ भी निश्चित होता है। जैसे, रेखा, त्रिभुज, वृत्त इत्यादि शब्द रेखागणित में लक्षित हो कर निश्चित अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। किन्तु जिन शब्दों का जनता की भाषा में प्रयोग किया जाता है उनके अर्थ समय के अनुसार बदलते रहते हैं। जैसे किसी समय देवानांप्रिय शब्द बड़े सुन्दर अर्थ में प्रयोग किया जाता था लेकिन वही शब्द अमय-मातरा संस्कृतियों के संघर्ष के कारण भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगा अर्थात् इसी शब्द का सुन्दर अर्थ 'देवों का प्रिय' बदलकर 'मूर्ख' का गया। उसी प्रकार 'महाराज' शब्द जिसका अर्थ अच्छे विचार वाला मनुष्य होता है, बदलकर उस मनुष्य के अर्थ में हो गया जो सीधा-साधा अर्थात् मूर्ख हो। बनारस में 'महाराज' शब्द जैसे रसोइये के लिये प्रयोग होता है यद्यपि महाराज का अर्थ बड़ा राजा है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि शब्दों के अर्थ में किस प्रकार परिवर्तन हो जाता है। शब्दों के अन्दर या तो सामान्य रूप से परिवर्तन होता है या विशेष रूप से। जब शब्द सामान्य रूप में प्रयोग किये जाते हैं तब उनका भावार्थ कम हो जाता है जैसे अंग्रेजी भाषा में तेल (Oil) शब्द का प्रयोग प्रथम पेट्रोल के तेल के अर्थ में प्रयोग किया गया था किन्तु बाद में यह सब प्रकार के तेलों के लिये प्रयोग किया जाने लगा। यह उदाहरण इस बात को बतलाने वाला है कि शब्द किस प्रकार सामान्य रूप से अपने अर्थ को बदल देते हैं। जब शब्द विशेष रूप से अर्थ को बदलते हैं तब उनका भावार्थ बढ़ जाता है। तार्किकों का कर्तव्य है कि वे शब्दों को सामान्य रूप में प्रयोग करें और उनके लक्षण बनाकर उनके अर्थों को निश्चित कर दें,

तभी उनका सुन्दर प्रयोग हो सकता है। अन्यथा एक ही शब्द के अनेक अर्थ होने से अनेकार्थक दोष उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है।

नामों या शब्दों का वैज्ञानिक ढग से या तो (१) असाक्षात् प्रयोग होता है या (२) साक्षात्। असाक्षात् रूप से नाम इसलिये लाभ-दायक हैं क्योंकि वे विचारों के साधन होते हैं और साक्षात् रूप से इसलिये लाभ-दायक होते हैं क्योंकि वे सामान्य वाक्य बनाने में हमारी सहायता करते हैं।

(२) नामों का असाक्षात् प्रयोग

असाक्षात् रूप से नाम विचारों के साधन होने के कारण प्रयोग में लाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य नाम, शुद्ध विचारों को मिश्र विचारों में बाघ देते हैं और इस प्रकार विचार करने में अल्प समय लगता है। तथा इस प्रकार हमें इनके द्वारा विचारों को दूसरों तक पहुँचाने में आसानी होती है। ये मस्तिष्क में भी अधिक काल तक धारण किये जा सकते हैं और जब चाहें तब पुन इनको पैदा किया जा सकता है। हम 'सभ्यता' शब्द को ले सकते हैं। यह शब्द किस प्रकार हमें एक विशिष्ट अर्थ में बांध देता है। इसी एक शब्द के अन्दर—एक बौद्धिक स्तर, एक आचरण का स्तर, तथा एक शिक्षा का स्तर—ये सब एकत्रित किये हुए प्रतीत होते हैं। यदि यह एक शब्द न हो तो हमें उन सब विचारों के लिये अलग अलग शब्दों का प्रयोग करना पड़े। सामान्य शब्द मस्तिष्क में वही कार्य करते हैं जैसा कि जिल्द पुस्तक का काम करती है। इसके बिना मस्तिष्क छिन्न-भिन्न रूप से कार्य कर सकता है न कि समष्टि रूप से।

(३) नामों का साक्षात् प्रयोग

साक्षात् रूप से नाम सामान्य वाक्यों के निर्माण में सहायक होते हैं। सामान्य वाक्यों द्वारा हम अतीत का इकट्ठा ज्ञान कर सकते हैं और मनुष्य जाति के सारे ज्ञान-विज्ञान को एक रूप में समझ सकते हैं और उसको हम एक वाक्य में रख कर स्मरण कर सकते हैं। एकरूपता के नियमों का भी ज्ञान इनके द्वारा हो सकता है। नामकरण का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि यह हमें शब्दों की मितव्ययता में सहायक होता है जिससे हम अनन्त

वस्तुओं के लिये अलग-अलग नाम न देकर केवल कुछ सामान्य नामों से ही अपना कार्य चला लें; किन्तु नामकरण से हमारा उद्देश्य यही है कि हम अपने, तुलना से प्राप्त सामान्य नियमों का संकलन कर सकें। यदि हम विश्व की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिये भिन्न-भिन्न नामों की योजना करें तो भी हम सामान्यनामों के अभाव में, तुलनाजन्य सामान्य नियमों के परिणामों को एकत्रित नहीं कर सकते।

(४) वैज्ञानिक भाषा की आवश्यकताएँ

सामान्य नाम केवल इसलिये ही नामप्रद नहीं हैं क्योंकि वे विचारों के ग्राहक होते हैं किन्तु वे इस कारण अधिक लाभ-दायक गिने जाते हैं क्योंकि इनके द्वारा हम सामान्य वाक्यों का निर्माण करने में सफल होते हैं। यहाँ प्रश्न यह है—वे कौनसी अवस्थाएँ हैं जिनके पूर्ण होने पर हम वैज्ञानिक क्षेत्र के अन्दर नामों की सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं? यही प्रश्न दूसरी प्रकार से भी रक्खा जा सकता है। विज्ञान का कार्य है सामान्य नियमों की खोज करना और उनकी सिद्धि करना। अतः इन सामान्य सत्यों को प्रतिपादन करने के लिये वैज्ञानिक भाषा में सामान्य नामों की वृद्धि होती है यहाँ प्रश्न है—वे मुख्य आवश्यकताएँ कौन सी हैं जिनकी पूर्ति होने पर वैज्ञानिक भाषा का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है?

संक्षेप में वैज्ञानिक भाषा की दो आवश्यकताएँ हैं—(१) प्रत्येक अर्थ को प्रकट करने के लिये एक नाम होना चाहिये (२) प्रत्येक सामान्य नाम का एक और सही अर्थ होना चाहिये।

(१) प्रथम, प्रत्येक मुख्य अर्थ को प्रकट करने के लिये एक नाम होना चाहिये।

हमें प्रत्येक मुख्य अर्थ को प्रकट करने के लिये एक नाम की आवश्यकता होती है। हमें ऐसे किसी अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये जिसको हम उचित नाम के बिना प्रकट न कर सकें। इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक भाषा के लिये हमें नामकरण और परिभाषा की आवश्यकता है।

नामकरण, वस्तुओ को जातियों के नामों की पद्धति को कहते है जिसका प्रत्येक विज्ञान में समुचित उपयोग होता है। जैसे रसायन विज्ञान में अनेक तत्वों के लिये तथा उनके मिश्रणों के लिये नाम रक्खे जाते हैं। भूगर्भ-विज्ञान में चट्टानों की जातियों और स्तरों के लिये अलग-अलग नाम होते हैं। प्राणी-विज्ञान में अनेक प्रकार की प्राणियों की जातियों के लिये पृथक्-पृथक् नाम होते हैं। वनस्पति-विज्ञान में अनेक प्रकार के वृक्षों और पौधों की जातियों के लिये नाम होते हैं, इत्यादि।

परिभाषा, वस्तुओं के भाग, गुण, और क्रियाओं को वर्णन करने के लिये नाम रखने की पद्धति को कहते है।

इस प्रकार (१) किसी वस्तु के प्रत्येक सपूर्ण भाग को वर्णन करने के लिये नामों का प्रयोग करना चाहिये जैसे, जानवरों के सिर, अग, हृदय, नस, जोड आदि के लिये नाम होते हैं। पौधों में, डठल, पत्तियाँ फूल, कली आदि के नाम होते हैं। (२) किसी वस्तु के प्रत्येक गुण को वर्णन करने के लिये नाम होने चाहिये। जैसे, फैलाव या विस्तार, भार या वज़न, ठोसपन, अभेदकता, लचीलापन, चिकनाहट इत्यादि। (३) किसी वस्तु की प्रत्येक क्रियाओं के लिये अलग-अलग नाम होने चाहिये जैसे, शरीर की स्वासक्रिया, रक्तसचारक्रिया, पाचनक्रिया, आकर्षण-क्रिया, आकुञ्चनक्रिया, गतिक्रिया इत्यादि।

नामकरण और परिभाषा का संतुलन

इस प्रकार नामकरण और परिभाषा ये दोनों नाम रखने की पद्धतियाँ हैं। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि नामकरण वस्तु की जातियों के नाम रखने की पद्धति को कहते हैं, इसके विपरीत परिभाषा, वस्तु के भाग, अग, गुण और क्रियाओं के नाम रखने की पद्धति को कहते हैं। प्राणिविज्ञान में प्राणियों की अनेक जातियों के नाम रखने को नामकरण कहते हैं तथा प्राणियों के अग, उनके गुण, क्रिया, आदि के नाम रखने को परिभाषा कहते हैं। कभी-कभी तार्किक नामकरण और परिभाषा को

समानार्थ में भी प्रयोग करते हैं और उसके द्वारा किसी विज्ञान के समस्त खास-खास नामों को ग्रहण कर लेते हैं।

(२) द्वितीय, प्रत्येक सामान्य नाम का निश्चित और स्पष्ट अर्थ होना चाहिये। वैज्ञानिक भाषा की दूसरी आवश्यकता यह है कि प्रत्येक शब्द को इसमें प्रयोग किया जाय उसका निश्चित और स्पष्ट अर्थ होना चाहिये। अर्थात् जो भी शब्द विज्ञानों में प्रयोग किये जाँय वे सदा संदेह से नियुक्त होने चाहिये। कभी-कभी उसकी पूर्ति खास-खास शब्दों के निर्माण करने से होती है जो उसी समय काम आते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त प्रत्येक विज्ञान में ऐसे शब्दों को उधार लेना पड़ता है जो अब भी प्रचार में आ रहे हैं। ऐसी अवस्था में इन नामों का सम्यक लक्षण करना चाहिये। यही कारण है कि नामकरण का लक्षण से विशेष सम्बन्ध है। किसी जाति या वस्तुओं के नाम मनमानी नहीं रख दिये जाते हैं; किन्तु उनका नाम-करण या परिभाषा उनके साधारण आवश्यक गुणों के आधार पर की जाती है।

नाम-करण का इस प्रकार वर्गीकरण से भी सम्बन्ध है। वर्ग चाहे वे कृत्रिम हों या स्वाभाविक जिनमें वस्तुओं को विभाजित किया है, न तो उन्हें स्मरण रक्खा जा सकता है और न उन्हें दूसरों तक भेजा जा सकता है, यदि उन्हें नामों के द्वारा सकेतित न किया जाय। नामकरण वस्तुओं की जातियों के नाम रखने की प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें वर्गों के नाम रखे जाते हैं। स्वाभाविक वर्गों की संख्या इतनी अधिक है कि उनमें से प्रत्येक वर्ग के लिये अलग-अलग नाम रखना असम्भव सा प्रतीत होता है। यदि इस प्रकार के नाम गढ़ भी लिये जाँय तो उनको स्मरण रखना अत्यन्त कठिन होगा। सामान्यतया से पौधों की संख्या करीब १   के है। यदि उनको उपजातियों को भी शामिल किया जाय तो उपर्युक्त संख्या से कई गुनी संख्या बन जायगी। अतः कोई न कोई विधि आवश्यक है जिसके द्वारा हम इस संख्या को कम करने में समर्थ हो सकें। कुछ विज्ञानों के अन्दर जिस विधि का प्रयोग किया गया है उसे दुहरी पद्धति (Binary Method) कहते हैं। दुहरी पद्धति एक प्रकार से दो अर्थ करने की

पद्धति है जिसका प्रयोग वनस्पति-विज्ञान, प्राणिविज्ञान, रसायन-शास्त्र आदि में किया जाता है। वनस्पति-शास्त्र में किसी पौधे का नाम दो शब्दों का बना हुआ होता है—(१) संज्ञा या विशेष्य और (२) विशेषण। इसमें संज्ञा या विशेष्य जाति को बतलाता है और विशेषण उपजाति को बतलाता है। इस प्रकार जेरेनियम (Gerenium) नामक पौधे की १३ उपजातियाँ होती हैं। जैसे, जेरेनिअम-फीनम, जेरेनिअम-नोडोसम, इत्यादि। रसायन विज्ञान में मिश्रणों का वर्णन करने के लिये द्विगुणित नाम प्रयोग किये जाते हैं। इसमें मूल धातु का नाम मिश्रण में दिखलाया जाता है, जैसे लोहे धातु के मिश्रणों का वर्णन करना हो तो हम उसकी सब उपजातियों में, जैसे फैरस आक्साइड (Ferrous Oxcide) आदि में लोह शब्द का प्रयोग करेंगे।

(५) शब्दों के अर्थ परिवर्तन का इतिहास

जिन शब्दों का साधारण जनता में व्यवहार होता है उनका अर्थ समय समय पर बदलता रहता है। इसके कई हेतु हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं।

(१) **आकस्मिक भावार्थ** (Accidental Connotation)। किसी शब्द के अर्थ के परिवर्तन में प्राय करके यह कारण होता है कि हम शब्द के अर्थ में किसी ऐसी अवस्था को शामिल कर लेते हैं जो मूल में केवल आकस्मिक अवस्था थी। यही नही होता कि आकस्मिक अवस्था को हम उसमें शामिल कर लेते हैं किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि मूल का अर्थ बिलकुल अंधेरे में पड़ जाता है और कभी-कभी तो बिलकुल बदल जाता है। जैसे 'नास्तिक' शब्द पहले इस अर्थ में प्रयोग होता था कि जो मनुष्य परलोक आदि में विश्वास नही करता, वह नास्तिक है। बाद में नास्तिक का अर्थ यह हो गया कि नास्तिक वह है जो वेदों में विश्वास नही करता। अब वे सब नास्तिक गिने जाते हैं जो हिन्दू या वेद-धर्म में विश्वास नही करते। देवाना प्रिय शब्द का भी इतिहास करीब-करीब ऐसा ही है। जब ब्राह्मण धर्म का जोर था तब इसका अर्थ 'देवों का प्रिय' को छोड़कर, मूर्ख, बन गया।

(२) **शब्द का प्रयोग-संक्रमण** (Transitive application of words)। दूसरा शब्द के अर्थ में परिवर्तन का हेतु शब्द का प्रयोग-संक्रमण

है। जब मनुष्य एक नवीन पदार्थ को देखते हैं तब प्रायः मनुष्यों में नये शब्द बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती; वे, जो शब्द विद्यमान हैं उन्हीं में कुछ हेरफेर करके काम चलाने की कोशिश करते हैं। जैसे 'गाय' शब्द पहले से ही साधारणतया पशु के लिये प्रयोग होता चला आया है किन्तु जब लोगों ने गाय के समान ही नीचे रखवाले अन्य वस्तु को देखा तो लोगों ने उसका नाम नील-गाय रख दिया। अंगरेजी भाषा में 'आयल' शब्द किसी समय जैतून के तेल के लिये प्रयोग होता था किन्तु आजकल यह सब प्रकार के तेलों के लिये प्रयोग होता है। इसका प्रयोग तो यहाँ तक बढ़ गया है कि कितनी ऐसी वस्तुओं को भी आयल कहा जाता है जिनकी सूरत तक तेल से सर्वथा भिन्न है। शब्दों में अर्थ परिवर्तन या तो सामान्यीकरण (Generalisation) द्वारा होता है या विशेषीकरण (Specialisation) द्वारा होता है, या दोनों द्वारा। सामान्यीकरण का अर्थ है शब्द का मौलिक अर्थार्थ बढ़ा देना। जैसे, 'आयल' शब्द का मौलिक अर्थ था जैतून का तेल किन्तु अब यह शब्द सब प्रकार के तेलों के लिये प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार नमक शब्द पहले केवल समुद्रीय नमक के लिये प्रयोग होता था किन्तु अब सब प्रकार के नमकों के लिये नमक शब्द का प्रयोग होता है। विशेषीकरण करण का अर्थ है शब्द के अर्थार्थ को कम कर देना। उदाहरणार्थ 'कहानी' शब्द पहले एक छोटे से वर्णनात्मक आख्यान को कहते थे किन्तु अब यह शब्द झूठी काल्पनिक कहानियों के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे बनारस में गुरु शब्द पहले अध्यापकों के लिये प्रयोग होता था किन्तु अब गुरु शब्द से लोग गुण्डा का अर्थ समझते हैं। पहले कुमारिल वगैरह बड़े बड़े विद्वान गुरु कहलाते थे किन्तु आजकल गुरु शब्द का अर्थ अधिकतर बनारस में गुण्डा ही लिया जाता है। इस प्रकार अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। शब्द-शास्त्र में इसके अनेक उदाहरण मिल जायँगे।

अभ्यास प्रश्न

(१) परिभाषा और नामकरण में क्या अन्तर है? प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(२) नामों के असाक्षात् और साक्षात् प्रयोग से आपका क्या अभिप्राय है ? उदाहरण देकर समझाओ।

(३) वैज्ञानिक भाषा की क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं ? सबका उल्लेख करके उनकी उपयोगिता सिद्ध करो।

(४) लक्षण और वर्गीकरण का नामकरण से क्या सम्बन्ध है ? इनके लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(५) शब्दों के अर्थ परिवर्तन के क्या कारण है ? इसकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालो।
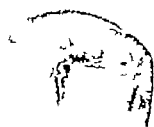
अध्याय १४

(१) सामान्यानुमान के दोष

विशेषानुमान का विवेचन करते हुए प्रथम भाग के अन्त में हमने विशेषानुमान सम्बन्धी दोषों का पूर्ण रूप से व्याख्यान किया है और बतलाया है कि वे दोष विशेषानुमान के नियमों का उल्लंघन करने से उत्पन्न होते हैं। इसके साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि कुछ दोष भाषा के अयुक्त-प्रयोग से उत्पन्न होते हैं जिन्हें हम अर्थ-तार्किक दोष कहते हैं। इस अध्याय में हम मुख्य-मुख्य सामान्यानुमान सम्बन्धी दोषों का वर्णन करेंगे। तथा इसी सम्बन्ध में कुछ अतार्किक या तर्कबाह्य दोषों का भी वर्णन करेंगे जो इस प्रकरण में उपयोगी हैं।

सामान्यानुमान के दोष दो प्रकार के होते हैं —(१) तर्क-सम्बन्धी और (२) अतर्क-सम्बन्धी। अतर्क-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य दोष निम्न लिखित हैं —

(१) लक्षण के दोष।
(२) वर्गीकरण के दोष।
(३) नामकरण के दोष।
(४) प्रत्ययीकरण के दोष।
(५) प्राक्-कल्पना के दोष।
(६) स्पष्टीकरण के दोष।

तर्क-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य दोष निम्नलिखित हैं —

(१) कारणता के दोष।
(२) सामान्यीकरण के दोष।
(३) उपमाश्रय-सामान्यानुमान के दोष।

उपर्युक्त वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका से बिलकुल स्पष्ट हो जायगा।

अतार्किक या तर्कवाह्य दोष कई प्रकार के होते हैं, जैसे, (१) स्वाश्रय दोष (Peticio Principii) (२) अर्थान्तर दोष या तर्काज्ञान दोष (Ignoratio Elenchi) (३) अनेक प्रश्नों का दोष (Fallacy of many questions) (४) अप्रतिज्ञा दोष (Non-sequitur) असत्कारण दोष (Non causa pro-causa)
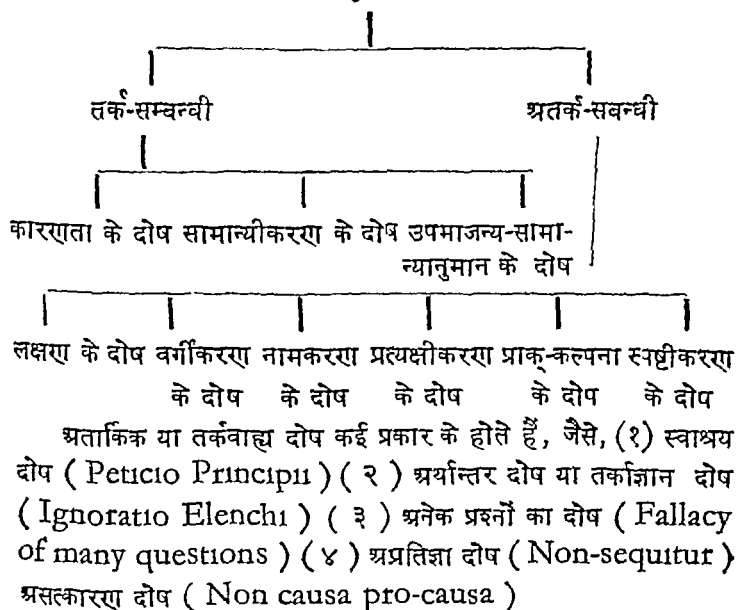
अब हम सर्व-प्रथम अतर्क-सम्वन्धी दोषों का स्पष्टरूप से वर्णन करेंगे।

(२) अतर्क-सम्वन्धी सामान्यानुमानीय दोष

सामान्यानुमान के दोष या तो तर्क-सम्बन्धी हो सकते हैं या अतर्क-सम्वन्धी।

इनमें अतर्क-सम्वन्धी सामान्यानुमानीय दोष वे हैं जो उन प्रक्रियाओं के नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न होते हैं जिनका सामान्यानुमानीय तर्क से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता किन्तु किसी प्रकार इनसे लगे रहते हैं या उनके सहायक होते हैं। सामान्यानुमान की सबसे अधिक सहायक प्रक्रियाएँ निम्नलिखित हैं—(१) वैषयिक लक्षण (Material Definition) अर्थात् पदों के भावों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद उनके लक्षण बनाने की प्रक्रिया (२) वर्गीकरण

(Classification) अर्थात् स्वाभाविक पदार्थों का उनकी समानता के अनुसार वर्गीकरण करने की प्रक्रिया और (३) नाम-करण (Nomenclature) अर्थात् वर्गों के लिये नाम-करण की प्रक्रिया अथवा परिभाषा (Terminology) अर्थात् पदार्थों के भागों के या गुणों के या क्रियाओं के नाम-करण की प्रक्रिया । इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया के कुछ न कुछ नियम अवश्य हैं जिनसे इनकी व्यवस्था की जाती है । यदि उन नियमों का उल्लंघन किया जायगा तो अवश्य ही दोष उत्पन्न होंगे । यहाँ इसी हेतु से लक्षण वर्गीकरण और नामकरण के दोषों का उल्लेख किया गया है ।

लक्षण के दोष (Fallacies of Definition) तब उत्पन्न होते हैं जब हम किसी पद के जिसका हम लक्षण बनाना चाहते हैं आवश्यक गुणों के निश्चय करने में गड़बड़ पैदा कर देते हैं । जब एक कामचलाऊ लक्षण बना लिया जाता है तब हमें उस लक्षण की लक्षण के नियमों के अनुसार अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये । इसका विशेष विवेचन तर्कशास्त्र के प्रथम भाग (निगमनानुमान) में किया जा चुका है । इसका अध्ययन वहाँ से कर लेना चाहिये ।

वैज्ञानिक वर्गी करण के दोष तब उत्पन्न होते हैं जब हम पदार्थों का वर्गीकरण उनके अधिक-व्यापक और अत्यन्त आवश्यक समानता की बातों के आधार पर, करने में गलती करते हैं । यदि हमने कोई वर्गीकरण किया है तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी जाँच उसके रूप-विषयक नियमों के अनुसार, अच्छी प्रकार कर डालें । यदि हम यथार्थ में वर्गीकरण के नियमों का उल्लंघन करते हैं तो अवश्य ही हमारा वर्गीकरण गलत होगा । इसके परीक्षण में हमें विभाग (Division) से भी सहायता ले-लेनी चाहिये क्योंकि वर्गीकरण और विभाग दोनों प्रक्रियाएं प्रायः एक सी ही हैं यदि उन पर भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से विचार किया जाय । इसका विशेष विवेचन तर्कशास्त्र के प्रथम भाग के 'विभाग' के अध्याय में किया जा चुका है ।

नाम करण (Nominclature) और परिभाषा (Terminology) के दोष तब उत्पन्न होते हैं जब पदों या नामों के निश्चित अर्थ

नहीं किये जाते हैं अथवा जब उनका उपयुक्त अर्थ में प्रयोग नही किया जाता है। नामों को अवश्य ही कुछ अवस्थाओं[1] की पूर्ति करना चाहिये यदि वे विज्ञान के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होना चाहते हैं। यदि वे उन शर्तों को पूरी करने में असमर्थ होते हैं तो उनका वैज्ञानिक क्षेत्र में कोई उपयोग नही।

अतर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोप तब पैदा होते हैं जब हम उन प्रक्रियाओं और नियमों का, जिनका सामान्यानुमानीय तर्कों से घनिष्ट सम्बन्ध है, उल्लघन करते हैं यद्यपि ये प्रक्रियाएँ स्वय अतर्कशील स्वभाव की होती हैं, जैसे, प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया, प्राक्कल्पना के निर्माण की प्रक्रिया या स्पष्टीकरण की प्रक्रिया।

यह हम पढ चुके हैं कि प्रत्यक्षीकरण, सामान्यानुमानीय प्रक्रिया के लिये मसाला या सामग्री प्रदान करता है। यह सत्य है कि प्रत्यक्षीकरण, प्राय: करके अज्ञात रूप से तर्क के तत्व में मिला हुआ रहता है किन्तु इसका मुख्य ध्येय सामान्यानुमानीय तर्क के लिये मसाला या पदार्थ इकट्ठे करना है। प्रत्यक्षीकरण के दोप दो प्रकार के हैं—(१) अप्रत्यक्षीकरण (Non observation) और (२) प्रत्यक्षीकरण (Mal-observation)। क्योंकि इन दोनों दोपों का प्रत्यक्षीकरण के अध्याय में अच्छी तरह विवेचन हो चुका है अत उसकी पुनरावर्तन करने की यहाँ कोई आवश्यकता नही। जहाँ तक 'प्राक्कल्पना' (Hypothesis) का सम्बन्ध है इसको भी अपने नियमों का पालन करना चाहिये जिनके अनुसार इसका निर्माण किया जाता है। यदि उन नियमों का उल्लघन किया जायगा तो हमारी प्राक्कल्पना अयुक्त या अनुचित प्राक्कल्पना (Illegitimate Hypothesis) कहलायगी।

स्पष्टीकरण (Explanation) के विषय में तो यह पहले बतलाया जा चुका है कि वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण, जन-साधारण-स्पष्टीकरण से भिन्न होता है। जो स्पष्टीकरण जनसाधारण के लिये किया जाता है वह वैज्ञानिक दृष्टि से

(1) Conditions

अयुक्त स्पष्टीकरण कहलाता है। इसका पूर्ण पर्यालोचन स्पष्टीकरण के अध्याय में अच्छी तरह किया जा चुका है।

अब हम तर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोषों का विवेचन करना प्रारम्भ करते हैं।

(३) तर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोष—

तर्क-सम्बन्धी सामान्यानुमानीय दोष (Inferential Inductive-fallacies) सामान्यानुमानीय तर्कों के नियमों को उल्लंघन करने से होते हैं। युक्त सामान्यानुमान तीन प्रकार का होता है (१) वैज्ञानिक सामान्यानुमान (Sceintific Induction) (१) साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान (Induction per simple enumeration) और (३) उपमाजन्य-सामान्यानुमान (Analogy)। वैज्ञानिक सामान्यानुमान में हमारा तर्क कार्य-कारण-सम्बन्ध पर अवलम्बित रहता है, साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हमारा तर्क केवल अबाधित अनुभव पर निर्भर रहता है तथा उपमाजन्य-सामान्यानुमान में हमारा तर्क अपूर्ण समानता पर आधारित रहता है। इनमें से प्रत्येक सामान्यानुमान के कुछ नियम हैं। यदि हम उनका उल्लंघन करें तो हम दोष पैदा करेंगे। अतः सामान्यानुमानीय दोष भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) कारणता के दोष[1] (२) अनियमित सामान्यीकरण के दोष[1] (३) मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान[1] के दोष।

(१) कारणता के दोष

वैज्ञानिक दृष्टि से कारण अपरिवर्तनीय उपाधि-रहित आसन्न पूर्वावस्था-रूप होता है अथवा विध्यात्मक या निषेधात्मक अवस्थाओं के समूह को कारण कहते हैं। किन्तु साधारण रूप से हम कारण की किसी मुख्य या प्रभावक अवस्था के साथ सामञ्जस्यता स्थापित करते हैं जिसको हम अपनी इच्छा के अनुसार छाँट लेते हैं। यथार्थ में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि जितने जन-साधारण के कारणता के बारे में मन्तव्य हैं वे सब वैज्ञानिक

(1) Fallacies of causation (2) Fallacies of illicit generalisation (3) Fallacies of false Analogy

दृष्टि से दोष युक्त हैं। इस प्रकार कारणता के दोप अनेक प्रकार से उत्पन्न होते हैं उनमें से मुख्य-मुख्य नीचे दिये जाते हैं।

(अ) काकातालीय दोष (Post hoc ergo propter hoc)।

कारण कार्य का पूर्ववर्ती होता है किन्तु प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्था कारण नही कहलाती। किसी भी पूर्ववर्ती अवस्था को कारण मान बैठना काकतालीय दोष को पैदा करना है जिसका पारिभाषिक अर्थ यह है—चूँकि इसके बाद उत्पन्न हुआ इसलिये इसका कारण यही होना चाहिये (After this, therefore on account of this) यह एक साधारण सी गलती है और इस प्रकार अनेक दोपों को जन्म देती है, जैसे, एक बार ऐसा हुआ कि आकाश में धूमकेतु (पुच्छलतारा) के उदय होने पर किसी राजा की मृत्यु हो गई। इससे अन्ध विश्वासी पुरुषों ने यह अनुमान लगा लिया कि धूमकेतु के उदय होने से राजा की मृत्यु होती है। इस दोप का अच्छा उदहरण हमें शेक्सपीयर के जुलिअस सीज़र (Julius Caesar) नामक नाटक में मिलता है। सीजर की धर्मपत्नी कलपूर्निया ने सीज़र को सेनेट में जाने मे रोका क्योंकि उसने गत रात्रि में बुरा स्वप्न देखा था और कुछ अशुभ लक्षण भी देखे थे। जब सीज़र ने अपनी धर्मपत्नी से पूछा कि इन अशुभ स्वप्नों और लक्षणों का उसके साथ ही क्यों सम्बन्ध है और अन्य मनुष्यों के साथ क्यों नही ? तब उसकी धर्मपत्नी ने उत्तर दिया—

'जब भिखारी मरते हैं तब धूमकेतु नही दिखाई देते हैं किन्तु राज कुमारों की मृत्यु की सूचना स्वर्गीय वस्तुएँ स्वय देती हैं'।

इसक स्पष्ट अर्थ यही है कि धूमकेतुओं के उदयमें और राजाओं की मृत्यु में कुछ न कुछ अवश्य कार्य-कारण-सम्बन्ध है। हम अपने दैनिक जीवन में भी इस प्रकार के अन्ध-विश्वासों के आधार पर अनेक प्रकार के अन्दाज़े लगाया करते हैं जो इस प्रकार के दोपों को जन्म देते हैं। यदि कोई दुर्भाग्य पूर्ण घटना उत्पन्न होती है तो प्राय करके हम यह कह देते हैं कि हमने अमुक अशुभ दिन को यात्रा की इसलिये ऐसा हुआ। या किसी ने चलते समय छीक दिया या रास्ते में किसी

विधवा के वरण हुए, इत्यादि। प्राचीन समय में राजा-लोग अपने दरबार में ज्योतिषियों या निमित्त-ज्ञानियों को रक्खा करते थे जो इस प्रकार की घटनाओं का व्याख्यान किया करते थे। स्वप्नों की भी व्याख्या इसी प्रकार हुआ करती थी किन्तु धीरे-धीरे वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ अन्ध-विश्वास समाप्त होते चले गये। किन्तु कुछ अन्धविश्वास अब भी जीवित हैं जिनका ग्राम जनता में प्रचार है। और उनके प्रभाव से पढ़े लिखे मनुष्य भी अछूते नहीं हैं।

(ब) समग्र कारण के लिये केवल एक अवस्था को ही पर्याप्त समझना या दूरवर्ती अवस्था को ही कारण समझ बैठना।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि कारण विध्यात्मक और निषेधात्मक अवस्थाओं के समूह को कहते हैं किन्तु यदि हम किसी एक मुख्य अवस्था को चाहे वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो कारण मान बैठें तो अवश्य ही कारणता का दोष उत्पन्न होगा। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य नसैनी (Ladder) से फिसल गया और मर गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फिसलना मनुष्य की मृत्यु का कई कारणों में से एक कारण है किन्तु साधारण तौर से सब लोग यही समझते हैं कि उसका नसैनी से गिरना ही मृत्यु का कारण है। उसी प्रकार जब हम एक जलती हुई दियासलाई सूखे ईन्धन में लगाते हैं तब उसमें आग लग जाती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि केवल जलती हुई दियासलाई का लगाना ही आग पैदा होने का कारण है। जब हम यह मान बैठते हैं कि जलती हुई दियासलाई ही केवल आग पैदा करने वाली है तब हम गलती करते हैं और हमारा तर्क दोष युक्त होता है। कुछ लोग अपनी असफलता का कारण अवसरों के अभाव को ही बतलाया करते हैं, इत्यादि। अतः कारण का ठीक अर्थ समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम सब अवस्थाओं पर उचित रूप से विचार करें और ऐसी गलती कभी न करें कि अनेक अवस्थाओं में से केवल एक अवस्था को ही कारण मान लें चाहे वह कितनी ही प्रभावक क्यों न हो।

कभी-कभी यह दोष तब उत्पन्न होता है जब हम किसी पूर्ववर्ती अवस्था

को ही किसी कार्य का कारण मान लेते हैं। जैसे, यह कहा जाता है कि रूस पर हिटलर की चढाई करना, उसके पतन का कारण था। यह सम्भव हो सकता है कि हिटलर का रूस पर चढाई करना उसके पतन का एक मुख्य कारण हो, किन्तु केवल यही एक पतन का कारण था, यह मानना सर्वथा ग़लत है। उसके पूर्ण पतन के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी एक ही आकर्षक सफलता का उदाहरण, मनुष्य की उन्नति का कारण कहा जाता है और हम अन्य अवस्थाओं पर विल्कुल विचार नही करते। किन्तु अन्य अवस्थाएँ भी उन्नति में उतनी ही सहायक होती हैं, जितनी कि वह। अत यह स्पष्ट है कि दूरवर्ती अवस्था को कारण मानकर जब हम किसी कार्य की व्याख्या करते हैं तो उपर्युक्त दोष उत्पन्न होता है।

(स) जब हम सहवर्ती घटनाओं को आपस में कार्य-कारण-भाव से सम्बन्धित बतलाते हैं तब भी कारणता का दोष उत्पन्न होता है। जैसे, कोई मनुष्य तावीज़ पहन कर किसी दुर्घटना से मुक्ति पा जाता है, जिसके अन्दर अन्य फस जाते हैं, तो वह तावीज़ का पहनना दुर्घटना से निर्मुक्ति का कारण समझता है। किन्तु यह कारणता का दोष है।

(ह) जब हम उसी कारण के सहभूकार्यों को एक दूसरे का कार्य-कारण मान लेते हैं तब भी यह दोष उत्पन्न होता है। जैसे, हम सोचते हैं कि गर्मी के मौसम में अत्यधिक गर्मी का कारण, थर्मामीटर में पारे का चढना है किन्तु इसके विपरीत यह बिलकुल ठीक है कि पारे का चढना और अत्यधिक गर्मी का होना दोनों उसी कारण के सहभूकार्य हैं—अर्थात् तापमान के बढने से ऐसा होता है। इसी प्रकार ज्वार का कारण भाटा कहा जा सकता है और भाटे का कारण ज्वार कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ में दोनों ही उसी कारण अर्थात् चन्द्र के प्रभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के समूह-कार्यों को उसी कारण से उत्पन्न होने से यदि उन दोनों का आपस में कार्य कारण-भाव माना जाता है तो हम कारणता का दोष उत्पन्न करते हैं।

(२) अनियमित सामान्यीकरण के दोष या सामान्यीकरण के दोष

साधारण-गणना-जन्य सामान्यानुमान में हम अबाधित अनुभव के आधार पर तर्क करते हैं और इस प्रकार के अनुमान का मुख्य विश्वासक उदाहरणों की संख्या पर तथा हमारे अनुभव के विस्तार पर निर्भर रहता है। किन्तु जन-साधारण कुछ थोड़े से ही उदाहरणों को देखकर जिनका क्षेत्र संकुचित है सामान्यीकरण कर बैठते हैं। इस प्रकार करने से अनियमित-सामान्यीकरण[1] का दोष उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ जैसे एक व्यक्ति बनारस जाता है और वहाँ कुछ पंडे लोग ठग लेते हैं। वह इस प्रकार ठगा जाने पर सामान्यीकरण करता है और कहता है "बनारसी लोग सब ठग होते हैं"। इसी तरह कुछ सरकारी नौकरों को भ्रष्टाचारी पाकर यह कहना कि सब सरकारी कर्मचारी भ्रष्टाचारी होते हैं इस प्रकार का सामान्यीकरण है। किसी समय मनुष्यों का विचार था कि हंस सफेद होते हैं किन्तु अब यह पता लग गया है कि हंस अन्य रंगों के भी पाये जाते हैं। ये सब उदाहरण अनियमित सामान्यीकरण के हैं।

यही कारण है कि अन्वयविधि (The method of agreement) कारणता के सिद्धान्त को पूर्णरूप से स्थापित नहीं कर सकती और इसी हेतु से इसके निष्कर्ष निश्चित नहीं होते किन्तु सम्भावनीय होते हैं। अतः हमें चाहिये कि अन्वयविधि से प्राप्त किये हुए सामान्यीकरणों की सत्यता में सर्वदा सतर्क रहें। अनुभव के आधार पर बनाए सामान्यीकरणों की सत्यता नजदीक के उदाहरणों में स्वीकार की जा सकती है किन्तु उनके नियमित क्षेत्र के बाहर उनकी सत्यता हमेशा सदिग्ध होती है।

(३) मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान।

मिथ्या-उपमाजन्य-सामान्यानुमान के दोष तब पैदा होते हैं जब हम उपमाजन्य-सामान्यानुमान का मिथ्या प्रयोग करते हैं। इसका विवेचन उपमाजन्य-सामान्यानुमान के अध्याय में अच्छी तरह किया जा चुका है।

(४) तर्कवाद या अतर्क सम्बन्धी दोष

सामान्यानुमान के दोष दो प्रकार के बतलाये थे (१) तर्क-सम्बन्धी

(1) Illicit generalisation

और (२) अतर्क-सम्बन्धी। इनमें से तर्क-सम्बन्धी दोषों का वर्णन हो चुका है। अब हम यहाँ अतर्क-सम्बन्धी दोषों का वर्णन करते हैं। अतर्क-सम्बन्धी दोष तार्किक नियमों के उल्लंघन करने से उत्पन्न नहीं होते हैं किन्तु ये प्रतिज्ञा वाक्यों के अनुचित प्रयोग या प्रदत्त की अशुद्धि, या प्रतिज्ञा वाक्य और निष्कर्ष के मध्य सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव से उत्पन्न होते हैं। अब हम इनके कुछ मुख्य-मुख्य उदाहरणों को उपस्थित करते हैं।

(१) स्वाश्रय दोष

स्वाश्रय दोष (Petitio principii) का वाच्यार्थ यह है—आरम्भ में विवाद के लिये जिस वस्तु को उपस्थित किया गया है उसको ही मानकर बैठ जाना या प्रश्न की भिक्षा माँगना (Begging the Question)। अतः स्वाश्रय दोष उसे कहते हैं जिसमें या तो उस प्रतिज्ञा वाक्य को किसी रूप में मानकर बैठा जाता है जिसको हम सिद्ध करना चाहते हैं या उस प्रतिज्ञा वाक्य को मान लिया जाता है जिसकी सिद्धि केवल उसी के द्वारा हो सकती है।

इसका सबसे सरल रूप वह है जिसमें किसी प्रतिज्ञा-वाक्य को सिद्ध करने के लिये पर्यायवाची शब्द प्रयोग किये जाते हैं जिनको बेन्थम महोदय 'प्रश्नभिक्षापद' (Question-begging epithets) कहा करते हैं। जैसे 'अफीम नशा पैदा करती है' क्योंकि यह मादक गुण रखती है। इस उदाहरण में मादक वस्तु वही है जो नशा पैदा करती है। जब हम किसी बिल का धारा-सभा में निषेध करते हैं क्योंकि यह नियम-रहित नियम है या किसी मनुष्य के चरित्र को गर्हणीय कहते हैं क्योंकि यह अमानवीय है तब यह दोष पैदा होता है। इन उदाहरणों में हम जिस वस्तु को सिद्ध करना चाहते हैं उसे पहले से ही मान बैठते हैं।

कभी-कभी यह दोष बड़ा पेचीदा बन जाता है, उस समय हम इसे चक्रक दोष (Argument in a circle or Circulus in demonstrando) कहते हैं। यह दोष तब उत्पन्न होता है जब तर्क के अन्दर निष्कर्ष एक से अधिक क्रम को पार कर जाता है जिसको कि हमने मान रक्खा है। इस प्रकार प्लैटो आत्मा की अमरता को उसकी [illegible]

हुआ

है और फिर आत्मा की सरलता को उसकी अमरता से सिद्ध करना चाहता है। इसी प्रकार मिल महोदय भी सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रकृति की एकरूपता प्रत्येक सामान्यानुमान में अनुस्यूत रहती है और फिर भी वह यह बताना चाहते हैं कि प्रकृति की एकरूपता साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान द्वारा प्राप्त होती है। निम्नलिखित चक्रक दोष का सुन्दर उदाहरण है—

'हम जानते हैं कि खुदा की सत्ता है।
क्योंकि कुरान हमें ऐसी आज्ञा देती है।
जो कुछ कुरान में लिखा हुआ है वह सत्य है।
क्योंकि कुरान खुदा का कलाम है।

अरस्तू महोदय ने इस दोष के ५ प्रकार प्रतिपादन किये हैं। अर्थात् यह दोष ५ रूपों में उपस्थित हो सकता है—

(१) उसी प्रतिज्ञावाक्य को सत्य मान लेना जिसको कि हम सिद्ध करना चाहते हैं। यह दोष पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग करने से होता है। जैसे देश में शिक्षा के प्रचार के लिये धारा-सभा में एक बिल पेश किया गया है क्योंकि तमाम शिक्षा संस्थाओं में इसके द्वारा शिक्षा का मापदंड ऊँचा होगा। इसमें हम जिस बात को सिद्ध करना चाहते हैं उसको पहले से ही सत्य मान लेते हैं।

(२) एक विशेष उदाहरण की सिद्धि के लिये एक सामान्य सिद्धान्त को सत्य मान लेना जिसको स्वयं बिना उस विशेष उदाहरण की सिद्धि के जाने, सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसे राम की कायरता का अनुमान उसकी वृद्धता से किया जा सकता है; क्योंकि तमाम वृद्ध लोग कायर होते हैं।

(३) सामान्य को सिद्ध करने के लिये (जिसमें विशेष सम्मिलित है) विशेष को सत्य मानना। यह साधारण-गणना-जन्य-सामान्यानुमान के साथ है। इस प्रकार का दोष यह सिद्ध करता है कि साधारण-गणना-द्वारा हम वास्तव में सामान्य वाक्य की सिद्धि कर सकते हैं। क्योंकि कुछ सदस्यों में एक गुण पाया जाता है अतः सब सदस्यों में वह गुण पाया जायगा।

(४) जिस प्रतिज्ञा-वाक्य को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसको अलग भागों में सत्य मान लेना। यह प्रथम दोष का केवल विशेष रूप है। यह

दोष तब उत्पन्न होता है जब हम एक सामान्य वाक्य को, उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिये, उसके भागों में तोडकर उसके प्रत्येक भाग की सत्यता स्वीकार कर लेते हैं। इसको सिद्ध करने की कोशिश इस प्रकार की जाती है कि रोग को अच्छा करने का ज्ञान स्वास्थ्य-कर और अस्वास्थ्य-कर वस्तुओं के ज्ञान का नाम है, अत इसको क्रमशः प्रत्येक का ज्ञान मान लेना।

(५) किसी प्रतिज्ञा-वाक्य को विना किसी स्वतन्त्र सिद्धि के मान लेना जिसका दूसरे वाक्य के साथ परस्पर सम्बन्ध है और जिसको सिद्ध करना है। उदाहरणार्थ, मोतीलाल जवाहरलाल के पिता थे इसलिये जवाहरलाल मोतीलाल के पुत्र हैं। इलाहाबाद बनारस के पश्चिम में है इसलिये बनारस इलाहाबाद के पूर्व में है।

(२) अर्थान्तर दोष

अर्थान्तरदोष या तर्कज्ञानदोष (Ignoratio Elenchi) का अक्षरशः अर्थ यह है—तर्क के खंडन का पूरा अज्ञान। किसी तर्क को खंडन करने का अभिप्राय यह है कि उसके सर्वथा विरुद्ध एक वाक्य को स्थापित करना। इसका अर्थ यह है कि यदि हम किसी व्यक्ति के तर्क का खंडन करना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि उसके द्वारा उपस्थित किये हुए तर्क के सर्वथा विरुद्ध तर्क उपस्थित करें। यदि हम ऐसा करने में असमर्थ हैं तो इसका अर्थ यह है कि हमें उसके खंडन करने का कोई उत्तम ज्ञान नही है।

आजकल तार्किक लोग इसका कुछ विस्तृत अर्थ लेते हैं —"उनके अनुसार अर्थान्तर दोप का अर्थ है कि जब हम यथार्थ तर्क को छोडकर तर्क करने लगते हैं अर्थात् आवश्यक निष्कर्ष की सिद्धि करने की अपेक्षा हम एक वाक्य को सिद्ध करने लगते हैं जो भूल से इसके लिये समझ लिया जाता है।" इसका अर्थ यह है कि जिस बात को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसको अंधेरे में डाल देते हैं और उसके स्थान पर कुछ और ही सिद्ध कर डालते हैं। अर्थान्तर दोप के कई रूप हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य नीचे दिये जाते हैं —

(१) व्यक्ति के प्रति तर्क (Argumentum ad Hominem) यह एक प्रकार का अर्थान्तर दोष है जिसमें हम प्रतिवादी के विरुद्ध तर्क उपस्थित करते हैं न कि उसके तर्क के विरुद्ध तर्क उपस्थित करते हैं। उदाहरणार्थ मामला साध्य यह है कि अमुक व्यक्ति ने एक चोरी की है तो हमें सिद्ध करना चाहिये कि उसने चोरी की है। हम यह तो सिद्ध नहीं करते किन्तु यह सिद्ध करने लगते हैं कि वह वास्तव चोर है इसलिये उसने अवश्य चोरी की होगी। यह इस दोष का उदाहरण है। जो वकील एक कमजोर मामले को सिद्ध करना चाहते हैं वह अवश्य ही इस दोष को पैदा करते हैं। एक बार एक अदालत में किसी मुकदमे में प्रतिवादी के लिये एक बैरिस्टर साहब के लिये निम्नलिखित संक्षिप्त संक्षेप तय्यार कर भेजा था —

'मामले की परवा न करो केवल वादी के अवगुणों पर आक्रमण करो काम सिद्ध हो जायेगा। कनिंघम महोदय ने निम्नलिखित दिलचस्प उदाहरण दिया है —

Mr Kiefe O' kiefe
I see by your brief O brief
That you are a thief O' thief

इसका मि ... की चोरी करने से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के तर्क ने जूरी के दिलों में हँसी उत्पन्न की और उन्हों ने शीघ्र प्रतिवादी के पक्ष में निर्णय दे दिया।

इसी प्रकार का एक देसी उदाहरण भी है।—

अरे, सजना मोर
तेरी बात कहूँ को और
तू है चोरों का चोर।

इसमें 'सजन' नामक व्यक्ति के विरुद्ध ही कहा गया है। चोरी सिद्ध करने की कोई कोशिश नहीं की गई है अतः यह अर्थान्तर दोष का उदाहरण है।

लोक के प्रति तर्क—(Argumentum ad populam) यह

भी एक अर्थान्तर दोष का रूप है। इसमें हम भावना, पक्ष, दया आदि के लिये प्रार्थना करते हैं, तर्क को सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नही किया जाता। इसको "छज्जे के प्रति प्रार्थना (Appeal to the gallery) भी कहते हैं क्योंकि इसमें जनता के भावों को उकसाया जाता है। यह तरीका प्रचारकों का शस्त्र कहा जाता है। मार्क अन्योनी का जूलियम सीजर की मृत्यु पर शोक प्रदर्शन करना इसी प्रकार का उदाहरण है। जब वह कहता है —

'मित्रो! रोमनो! देशवासियो! अपना ध्यान मेरी तरफ करो,
मैं सीजर को दफनाने को आया हूं न कि उसकी प्रशंसा करने के लिये,
. . . .

मैं, जो कुछ ब्रूटस ने कहा है उसका खंडन करने के लिये नही खडा हूं। किन्तु मैं यहाँ जो कुछ जानता हूँ उसे बतलाना चाहता हूं। आप सब लोग उसे किसी दिन सकारण प्यार करते थे। लेकिन किस कारण से आज तुम उसके विलाप को रोक रहे हो। अरे न्याय! तुम दुष्ट पशुओं के पास भाग गये हो। और मनुष्य अपनी बुद्धि खो बैठे हैं, मेरे साथ चले चलो। मेरा हृदय सीजर के कफन के सन्दूक में निहित है। और मुझे विश्राम लेना चाहिये जब तक कि वह लौटकर नही आता है'।

यह सारा व्याख्यान केवल जनता की समवेदना को प्राप्त करने का उपाय है।

(३) अज्ञान के प्रति तर्क (Argumentum ad ignoratium) यह भी एक अर्थान्तर दोष का रूप है जिसमें सिद्धि का वजन अपने को छोडकर प्रतिवादी पर फेंक दिया जाता है यदि प्रतिवादी तर्क को असिद्ध नही कर सकता, तो उसकी असमर्थता को ही हम सिद्धि समझ लेते हैं। इस दोष का नाम इसलिये पडा है क्योंकि इसमें हम प्रतिवादी के अज्ञान का लाभ उठाते हैं।

(४) आप्त के प्रति तर्क (Argumentum ad verecundium) यह भी एक अर्थान्तर दोष का विशेष रूप है। इसमें विशेष रूप से तर्क को सिद्ध न करते हुए आप्तत्व के प्रति प्रार्थना की जाती है। मध्य युग में

इस प्रकार की तर्क-प्रणाली अत्यन्त प्रचलित थी जब कि धर्म का साम्राज्य था और यदि कोई बात बाइबिल के विरुद्ध होती थी तो उसे बुरा समझा जाता था। इसी आशय के अनुसार विकास के सिद्धान्त (Theory of Evolution) का शुरू-शुरू में बड़े जोरों से विरोध किया गया था क्योंकि बाइबिल में सद् स्वभाव का समर्थन किया गया है। इस्लामिक देशों में अब भी गणित के विरुद्ध बातोंका निषेध किया जाता है।

(५) मुष्टि के साथ तर्क (Argumentum ad baculum) इसको हम कहना तर्क का अपमान करना है। इसमें प्रतिवादी को हम मनाने के लिये शक्ति का प्रयोग किया जाता है। इसको यदि यह कहा जाय कि यह 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला तर्क है तो अत्युक्ति नहीं। इसको 'शेर का मेमने के प्रति तर्क' भी कहते हैं। इसका तब प्रयोग किया जाता है जब तर्क और नीति दोनों असफल हो जाते हैं और सद् को बल से सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

बहुप्रश्न दोष ((Plures Introgationes or fallacy of many questions)

यह दोष तब उत्पन्न होता है जब हम प्रतिवादी से 'हाँ' या 'ना' में स्पष्ट उत्तर चाहते हैं। यथार्थ में इसमें वादी पहले ही से सोच लेता है कि प्रतिवादी क्या उत्तर देगा ? जैसे किसी व्यक्ति से पूछा जाय—क्या तुमने अपनी मा को पीटना छोड़ दिया है ?—यदि वह इसका विधि में उत्तर देता है तो इसका अर्थ होगा कि तुम पहले अपनी मा को पीटा करते थे। और यदि निषेधात्मक उत्तर देता है तो इसका अर्थ यह है कि तुम अपनी मा को अब भी पीटते हो। उत्तर दाता दोनों प्रकार से फँसता है। इसी प्रकार—क्या तुमने शराब पीना छोड़ दिया है ? क्या तुमने झूठ बोलना छोड़ दिया है ? क्या यह समाज वादी है या प्रतिक्रिया वादी ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर भी बहुप्रश्न के दोष के उदाहरण हैं। इन सब प्रश्नों में दो विकल्प हैं जिनके उत्तर देने पर दोनों प्रकार से प्रतिवादी फँसता है। इसको अभिहित दोत्तर-प्रश्न का दोष भी कहते हैं।

(४) विपरिणाम दोष (Fallacy of the consequent or Non sequitor)

विपरिणाम दोष का अर्थ है कि परिणाम ठीक नही है। इसको गलत परिणाम का दोष (The fallacy of the Consequent) भी कहते हैं क्योंकि इसमें हम हेतुहेतुमद् वाक्य के हेतु का, निष्कर्ष में, वाक्य में इसके हेतुमद् का विधान करके, विधान करते हैं। जैसे,

"यदि वर्षा हुई है तो मैदान भीगा है,
मैदान भीगा है
∴ वर्षा हुई है।"

इस प्रकार बहुप्रश्न का दोष तब उत्पन्न होता है जब हम हेतुमद् को हेतु के साथ परिवर्तन के योग्य समझते हैं।

(५) मिथ्या कारण (False cause or Non-causa Pro-causa) का दोष।

यह वह दोष है जिसमें ऐसे तर्क के वाक्य की सत्यता स्वीकार कर ली जाती है जिसका निष्कर्ष के साथ कोई सम्बन्ध नही होता। अरस्तू भी इसका यही अर्थ करता है। उसने इसके ऐसे उदाहरण उपस्थित किये हैं जिनमें हम मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष (Reductio ad impossibile) निकाल लेते हैं या जिन्हें हम प्रतिलोम सिद्धि (Indirect proof) कहते हैं। इसमें हम एक वाक्य की असत्यता सिद्ध करते हैं यह दिखलाकर कि इसकी सत्यता से मूर्खतापूर्ण बातें सिद्ध होती हैं या हम एक वाक्य की सिद्धि करते हैं यह दिखलाकर कि इसकी असत्यता की स्वीकारता मूर्खता पूर्ण बातों को सिद्ध करती हैं। मिथ्याकारण का दोष तब उत्पन्न होता है जब मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष हमारे माने हुए वाक्यों से नही उत्पन्न होते हैं, किन्तु कुछ बेकार वाक्यों से उत्पन्न होते हे जिनको किसी-न-किसी प्रकार तर्क में शामिल कर लिया जाता है। यहाँ मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष प्राथमिक कल्पना के आधार पर सिद्ध किया जाता है। जॉयमे महोदय का निम्नलिखित उदहरण उल्लेखनीय है। 'यदि हम सॉफिस्ट के प्रतिवादी को यह कहते हुए पाते हैं कि घातक के लिये मृत्यु दण्ड उचित है तो उसके विरुद्ध सॉफिस्ट तर्क कर सकता है।

यों इस प्रकार है—यह तर्क भ्रमतापूर्ण है क्योंकि यदि यह मान लें कि मृत्यु दंड बालक के लिये उचित है और दंड हमें हमेशा रोचक-नीति के आधार पर ही नियमित करना चाहिये तो इससे हम यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि जेबकतरे के लिये भी मृत्यु दंड उचित है। यहाँ पर मूल कथन का, प्राप्त निष्कर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त से यही तात्पर्य निकलता है कि दंड का न्याय इसी आधार पर निर्भर है कि मनुष्यों को अपराध करने से किस प्रकार रोका जाय। यह वह कथन है जिसका बालक के लिये मृत्यु दंड देने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जिस अर्थ में अरस्तू ने इस दोष का वर्णन किया है उसे हम सामान्यानुमानीय दोष कह ही नहीं सकते। यद्यपि आज-कल हम इसको सामान्यानुमानीय दोषों में शामिल कर लेते हैं और इसको मिथ्या कारण का दोष कहा जाता है। यथार्थ में यह दोष वाक्य के समर्थन से सम्बन्ध रखता है न कि उदाहरण के प्रदर्शन से। हम इस दोष को तब पैदा करते हैं जब हम एक मिथ्याकारण को कारण मान बैठते हैं। यह दोष यथेष्ट-तर्क के सिद्धान्त[1] के न मानने से उत्पन्न होता है।

अभ्यास प्रश्न—

(१) दोष किसे कहते हैं? सामान्यानुमानीय दोषों की तालिका दो।

(२) अप्रत्यक्षीकरण और दुष्ट-प्रत्यक्षीकरण के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(३) मिथ्या-सामान्यी-करण का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। यह दोष किस प्रकार होता है?

(४) व्याप्यदोष किसे कहते हैं? इसके कितने दोष हैं? प्रत्येक का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(५) अर्थान्तर दोष का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसके कितने प्रकार हैं? प्रत्येक का लक्षण दो।

(६) बहु प्रश्न दोष का स्वरूप क्या है? यह दोष कब उत्पन्न होता है? उदाहरण देकर समझाओ।

---

(1) The Principle of sufficient Reason.

(७) विपरिणाम दोष का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

(८) मिथ्या कारण दोष का स्वरूप क्या है ? जायमे ने उसका क्या उदाहरण दिया है ?

(९) निम्नलिखित तर्कों की परीक्षा करो —

(१) इङ्गलिस्तान के लोग धनवान हैं क्योंकि वे परिश्रमी हैं।

(२) यदि धन को रखने में न्याय है तो न्यायी मनुष्य अवश्य चोर होना चाहिये। क्योंक जिस प्रकार की कुशलता धन को रखने में आवश्यक होती है उसी प्रकार की कुशलता उसको चुराने में आवश्यक होती है।

(३) ज्योंही मैं आज सुबह अपने कमरे में पढने के लिये बैठा त्योंही मेरा पड़ोसी हारमोनियम बजाने लगा। वास्तव में वह मुझसे डाह रखता है।

(४) यह पेटेन्ट दवाई बडी लाभप्रद है क्योंकि सब प्रमाण-पत्र इसकी प्रशसा करते हैं।

(५) हमें युद्ध नही करना चाहिये क्योंकि खून बहाना अच्छा नही होता।

(६) अफीम नींद लाती है क्योंकि यह मादक वस्तु है।

(७) किसी देश की राजधानी उसका हृदय होता है, अत राजधानी का बढना बीमारी से खाली नही है।

(८) स्त्रियों ने आज तक मनुष्यों की बराबरी नही की है। इसलिये स्त्रियाँ मनुष्यों से हीन हैं।

(९) आत्मा अवश्य ही सारे शरीर में फैला हुआ है क्योंकि इससे प्रत्येक अग सचेतन कहलाता है।

(१०) वह मनुष्य अवश्य ही अच्छा होना चाहिये क्योंकि मुझे उसके कार्य बहुत अच्छे मालूम होते हैं।

(११) यह मनुष्य अवश्य ही चोर होना चाहिये क्योंकि यह उस कमरे में था जिसमें से घडी चुराई गई है और ज्योंही कमरे में मैं घुसा त्योंही वह बाहर निकल आया।

(१२) जब भिक्षुकों की मृत्यु होती है तब धूमकेतु का उदय नहीं होता है किन्तु जब राजाओं की मृत्यु होती है तब स्वयं से ही उसको घोषणा होती है।

(१३) क्योंकि हम सूर्य को प्रतिदिन डूबते और उगते हुए देखते हैं इसलिये यह डूबता और उगता है।

(१४) क्योंकि ब्याज लेना ठीक है इसलिये पिता से भी ब्याज लेना चाहिये।

(१५) महायुद्ध के बाद अनेक प्रकार की बीमारियां फैली थीं, इसलिये महायुद्ध बीमारियों का कारण है।

(१६) सुधारों ने साम्यवाद के प्रचार को नष्ट कर दिया है, इसलिये मनुष्य अब मारत वर्ष में अच्छी हालत की आशा कर रहे हैं।

(१७) हमें महापुरुषों की मृत्यु पर शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि 'योग्यतम के अवशेष' के सिद्धान्तानुसार यह ठीक ही हुआ है।

(१८) इस बाढ़ का कारण दैवीकोप था क्योंकि जब तक देवता प्रसन्न रहे ऐसा कभी नहीं हुआ। अबकी देवता नाराज हो गये हैं इसलिये बाढ़ आ गई।

(१६) व्यक्ति की तरह किसी देश को भी वृद्धि प्रौढ़ता और नाश से गुजरना चाहिये।

(२) एक मल्लाह की रक्षा तावीज से हुई। तो क्या तावीज रक्षा का हेतु नहीं है!

(२१) मेरा मित्र अवश्य बुद्धिमान है क्योंकि उसके अन्दर कुछ अद्भुत बातें पाई जाती हैं। संसार में जितने बड़े मनुष्य होते हैं वे सब अद्भुत बातों से परिपूर्ण होते हैं।

(२२) सब चमगादड़ें चिड़ियां हैं क्योंकि उनके पर होते हैं।

(२३) शराब नुकसान देनेवाली नहीं है। यदि होती तो डाक्टर इसको पीने के लिये लाभप्रद न बतलाते।

(२४) सब धर्म भगवान या ईश्वर की ओर से आते हैं जैसे सब नदियां समुद्र में जाकर गिरती हैं।

(२५) विश्वविद्यालय शिक्षा का मदिर है इसलिये इसमें राजनीति के लिये कोई स्थान नही है।

(२६) आम खाने से फुन्सियाँ पैदा होती हैं इसलिये आम नही खाना चाहिये।

(२७) ज्योंही मैं शिमला गया मेरा स्वास्थ्य सुधर गया, इसलिये शिमले को जाना स्वास्थ्य-वृद्धि का हेतु है।

(२८) शिक्षा अशान्ति का कारण है क्योंकि पढे-लिखे आजीविका न मिलने पर मारे-मारे फिरते हैं।

(२९) अमुक प्रोफेसर वडा विद्वान है क्योंकि उसके द्वारा वोले हुए शब्द अच्छे-अच्छे पडितों की समझ में नही आते।

अध्याय १५

१-परिशिष्ट

प्राच्य और पाश्चात्य कारणता का सिद्धान्त

तर्कशास्त्र-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर विचार करते हुए कुछ भारतीय तर्क-शास्त्री प्राच्य और पाश्चात्य कारणता के सिद्धान्त पर तुलनात्मक विचार प्रकट करते हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि अनादि काल से ही मानव ने जब कभी संसार में परिवर्तन होते हुए देखे होंगे तब से ही उसने सोचा होगा कि ये परिवर्तन क्यों होते हैं? 'परिवर्तन क्यों होते हैं?'—इसमें ही कारणता के बीज हैं। यदि विश्व सर्वथा नित्य और स्थिर होता तो सम्भव है कोई व्यक्ति परिवर्तन का विचार ही नहीं करता। किन्तु जब मनुष्य, जन्म मृत्यु, बुढ़ापा विनाश और क्रान्तियाँ देखता है तब उसे यह सोचने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि आखिरकार यह सब क्यों होता है? क्यों का उत्तर कारणता में है—अर्थात् संसार में कोई वस्तु निष्कारण या निष्प्रयोजन नहीं होती है; प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण या प्रयोजन अवश्य होता है।

विश्व की प्रत्येक वस्तु तीन अवस्थाओं से गुजरती रहती है। वे हैं; उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। अभिप्राय यह है—प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है प्रत्येक वस्तु का व्यय होता है और प्रत्येक वस्तु में नित्यता या ध्रौव्यता पाई जाती है। इसी ब्रह्मा, महेश और विष्णु तत्व में एकानेक नित्यानित्य, भावाभाव भेदाभेद आदि अनेक दार्शनिक सिद्धान्त छिपे हुए हैं। यदि विश्व में इस प्रकार अनेकान्त या अवस्थित क्रम नहीं होता तो कारणता के सिद्धान्त की सार्थकता नहीं होती। संसार में प्रत्येक तर्क शास्त्र के विधाता ने कारणता के सिद्धान्त का महत्व प्रतिपादन किया है और कहा है 'नाकारणं विषय' अर्थात् कोई वस्तु अकारण नहीं होती।

ग्रीक तार्किक हिरेक्लिटस (Heraclitus) के समय से तथा यूरोपीय तार्किक बेकन (Bacon) के समय से कारणता के सिद्धान्त को लोग महत्व देते आ रहे हैं। मिल ने तो इस पर इतना सुन्दर प्रकाश डाला है कि वह बड़े-बड़े विद्वानों की चर्चा का विषय बन गया है।

वर्तमान युग में जब हम सामान्यानुमान का विवेचन करते हैं तब हम उसके दो आधार तत्व मानते हैं (१) रूपात्मक (Formal) और (२) विषयात्मक (Material)। इनमें रूपात्मक आधार-तत्व दो हैं (१) प्रकृति की एकरूपता का सिद्धान्त (The Law of Uniformity of Nature) और (२) कारणता का सिद्धान्त (The Law of Causation)। विषयात्मक आधार तत्व के भी दो भेद हैं (१) प्रत्यक्षीकरण (Observation) और (२) प्रयोग (Experiment) इनका विशेष उपयोग विज्ञान के क्षेत्र में होता है। प्रस्तुत प्रकरण में हमें केवल कारणता के सिद्धान्त पर ही प्रकाश डालना है।

कारणता का मुख्य सिद्धान्त मिल महोदय का है। उन्होंने कहा है 'कारण किसी घटना की निरूपाधिक, अपरिवर्तनीय आसन्न पूर्वावस्था है या यह वह अवस्था है जिसमें विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों अवस्थाएं सम्मिलित रहती हैं'। वैज्ञानिक लोग इसी की व्याख्या करते समय कहते हैं कि यह एक शक्ति का पूर्ववर्ती रूप है जो उत्तरवर्ती रूप में परिवर्तित होता रहता है। इस कारणता के सिद्धान्त का हम अपनी पुस्तक के कारणता के सिद्धान्त के प्रकरण में विशद रूप से विवेचन कर चुके हैं।

जहाँ तक भारतीय दृष्टि कोण का सम्बन्ध है, कारणता के सिद्धान्त पर न्याय, जैन और बौद्ध नैयायिकों ने उत्तम प्रकाश डाला है। इस विषय पर गौतम, कणाद, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, माणिक्यनन्दि आदि ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं।

न्याय के अनुसार कारण वह है जो कार्य के नियत पूर्ववर्ती होता है। न्यायशास्त्र के प्रणेता इसके तीन भेद बतलाते हैं। (१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण और (३) निमित्त कारण। समवायी कारण वह

है जिसके साथ कार्य उत्पन्न होता है, जैसे, वस्त्र के कारण तन्तु हैं या घट का कारण मृत्तिका है। असमवायी कारण वह है जो एक ही अर्थ में कार्य या कारण के साथ समवेत होकर रहता है; जैसे वस्त्र का तन्तु संयोग कारण है। निमित्त कारण वह है जो समवायी और असमवायी कारण से सर्वथा भिन्न होता है जैसे, वस्त्र के तुरी, वेम वगैरह कारण हैं। नैयायिकों ने कारण से करण की भिन्नता दिखलाई है। वे कहते हैं कि इन तीन कारणों में से जो असाधारण कारण होता है उसे करण कहते हैं।

जैन और बौद्ध नैयायिकों ने कारण का लक्षण देते हुए लिखा है कि कारण वह है जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति न हो सके। जैसे अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिये अग्नि धूम का कारण है। बौद्ध लोग सहवर्ती और क्रमवर्ती दोनों अवस्थाओं में कारणता को सम्बन्ध मानते हैं किन्तु जैनों का क्रमवर्ती पदार्थों में ही कार्य कारण भाव होता है। कार्य कारण भाव को निश्चित करने के लिये उन्होंने लिखा है—'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः' अर्थात् कार्य कारण भाव की निश्चिति अन्वय-व्यतिरेक द्वारा होती है। जिसके होने पर जिसका होना पाया जाय उसे अन्वय कहते हैं और जिसके अभाव में जिसका अभाव पाया जाय उसे व्यतिरेक कहते हैं; जैसे अग्नि के होने पर धूम उत्पन्न होता है और अग्नि के अभाव में धूम उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये धूम और अग्नि कार्य-कारण-भाव से सम्बन्धित हैं। इनमें भी व्यतिरेक कार्य-कारण-भाव का अधिक निश्चायक होता है। अन्वय और व्यतिरेक मिल की विधियों से पर्याप्त समानता रखते हैं।

जैनों और बौद्धों के अनुसार कारण तीन प्रकार का है (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण और (३) सहकारी कारण। उपादान कारण वह है जिसका कार्य बनता है, जैसे मट्टी घड़े का उपादान कारण है। निमित्त कारण वह है जो कार्य की उत्पत्ति में निमित्त होता है, जैसे घड़े के बनाने में कुम्भकार निमित्त कारण होता है। सहकारी कारण वे हैं जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक होते हैं, जैसे घट की उत्पत्ति में चक्र, चीवर वगैरह कारण होते हैं।

इन्ही विचारों के समान अरस्तू ने भी कारण का विचार करते हुए चार कारणों का प्रतिपादन किया है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) द्रव्य कारण (Material cause) वह है जिस द्रव्य या पदार्थ से जो कार्य उत्पन्न होता है, जैसे, मूर्ति का कारण पत्थर है।

(२) रूप कारण (Formal cause) वह है जो रूप पदार्थ या द्रव्य को दिया जाता है, जैसे, पत्थर को मूर्ति का रूप दिया गया है।

(३) योग्य कारण (Efficient cause) वह है जो परिश्रम, चतुराई शक्ति आदि कार्य की उत्पत्ति में लगाई जाती है। कभी कभी यह कार्य का कर्ता भी होता है, जैसे, कलाकार मूर्ति का कारण है।

(४) अन्तिम कारण (Formal cause) वह है जो वस्तु में या कार्य में परिवर्तन हुआ है वह किसी लक्ष्य या उद्देश्य को लेकर हुआ है, जैसे, मूर्तिका निर्माण, किसी देवता की प्रतिष्ठा के लिये किया गया है, घड़े का निर्माण, जल भरने के लिये किया गया है।

इनमें द्रव्य और रूप कारण आन्तरिक कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये वस्तु के आन्तर स्वरूप में देखे जाते हैं तथा योग्य और अन्तिम कारण वाह्य कहलाते हैं, क्योंकि ये बाहिर से प्रतीत होते हैं। कहीं कहीं कारण और अवस्थाओं में भेद भी बतलाया है। इन सब विषयों पर हम पुस्तक में ही प्रकाश डाल चुके हैं। पाठक उनका अध्ययन वही से कर लें।

२—अभ्यास प्रश्न

(१) प्राच्य और पाश्चात्य कारणता के सिद्धान्तों पर तुलनात्मक विवेचन करो।

(२) न्याय, जैन और बौद्धों के अनुसार कारणता के सिद्धान्त पर विचार प्रकट करो।

(३) अन्वय और व्यतिरेक का स्वरूप लिख कर मिल की विधियों के साथ इनकी तुलना करो।

(४) अन्वय और व्यतिरेक को कार्य-कारण-भाव का नियामक क्यों माना गया है ? अपने विचार प्रकट करो ।

(५) अन्वय और व्यतिरेक में कौन बलवान है ? दोनों का आपेक्षिक महत्त्व प्रतिपादन करो ।

(६) अरस्तू के कारणों का विचार करके उनकी भारतीय कारणता के भेदों से तुलना करो ।

(७) कारण और करण में भेद बतलाओ ।

परिभाषिक शब्दों की सूची

(४) "ज्ञान सुखकारक है।
अज्ञान दुखकारक है।"

(५) "सत्पुरुष का दर्शन आनन्ददायक है।
असत्पुरुष का दर्शन दुखदायक है।"

इन उदाहरणों के ऊपर विचार करने से प्रतीत होगा कि ये विपक्ष अभिमुखीकरण से ये सर्वथा भिन्न हैं। इनमें उसके नियमों का बिलकुल पालन नहीं किया जाता। अभिमुखीकरण में अभिमुखीकृत का उद्देश्य वही रहता है किन्तु यहाँ वे विरोधी पद हैं। अभिमुखीकरण के निष्कर्षवाक्य में प्रतिज्ञावाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है किन्तु यहाँ केवल विरोधी पद है। तथा अभिमुखीकरण में दोनों वाक्यों में एक-सा ही गुण होता है किन्तु यहाँ निष्कर्ष वाक्य का गुण दिये हुये वाक्य से विरुद्ध होता है। ये अनुमान विषय-विषयक अनुमान हैं और इनका आधार ज्ञान और अनुभव है। अतः इनका विरोधानुमान में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है।

(६) विरुद्धभाव (Contraposition) एक प्रकार का अमध्यस्थानुमान है जिसमें एक दिये हुए वाक्य से हम दूसरे वाक्य का अनुमान करते हैं तथा इसका उद्देश्य प्रदत्त विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है। विरुद्धभाव में जिस वाक्य से हम निष्कर्ष निकालते हैं उसे विरुद्ध भाव्य कहते हैं तथा जो निष्कर्ष निकाला जाता है उसे विरुद्ध-भावित (Contrapositive) कहते हैं।

विरुद्धभाव के अधोलिखित नियम हैं:—

(१) निष्कर्ष का उद्देश्य दिये हुए वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(२) निष्कर्ष का विधेय दिये हुए वाक्य का उद्देश्य होता है।

(३) गुण बदल दिया जाता है। अर्थात् यदि दिया हुआ वाक्य विधिवाक्य हो तो निष्कर्ष निषेध-वाक्य होगा और यदि दिया हुआ वाक्य निषेध-वाक्य हो तो निष्कर्ष विधि-वाक्य होगा।

(४) यदि कोई पद दिये हुए वाक्य में द्रव्यार्थ में न लिया गया हो तो निष्कर्ष-वाक्य में वह द्रव्यार्थ में नहीं लिया जा सकता। जब इस प्रकार का अयुक्त द्रव्यार्थीकरण नहीं लिया गया है तब निष्कर्ष वाक्य का परिणाम वही रहता है जो दिये हुए वाक्य का है और जब इस प्रकार के अयुक्त द्रव्यार्थीकरण की सम्भावना है तब निष्कर्ष विशेष होता है चाहे दिया हुआ वाक्य समान्य ही क्यों न हो।

यथार्थ में 'विरुद्धभाव' अनन्तरानुमान की मिश्र प्रक्रिया है जिसमें प्रथम अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करनी पड़ती है और पश्चात् परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये,

"प्रथम अभिमुखीकरण करो पश्चात् परिवर्तन करो।"
'आ' का विरुद्धभाव 'ए' में होता है। जैसे,

विरुद्ध भाव्य. "सब मनुष्य मरणशील हैं।" सब 'उ' 'वि' हैं"
विरुद्ध भावित . "कोई अमरण-शील प्राणी मनुष्य नहीं हैं।"
"कोई 'अवि' 'उ' नहीं हैं"

"सब 'उ' 'वि' है।
कोई 'उ' 'अ-वि' नहीं है। (अभिमुखीकृत)
.. कोई 'अ-वि' 'उ' नहीं है।" (परिवर्तित)

'अ' वाक्य का अभिमुखीकृत किया जाय तो 'ए' मिलता है और 'ए' को परिवर्तित करने पर 'ए' प्राप्त होता है। अतः 'आ' का विरुद्ध भावित 'ए' होगा।

'ए' का विरुद्धभाव 'ई' होता है। जैसे,

विरुद्ध माम्य : "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।"—'कोई उ वि' नहीं है'

विरुद्ध मावित "कुछ अपूर्ण जीव मनुष्य हैं।"—'कुछ 'अ-वि' 'उ' हैं'

'कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

सब 'उ' अवि हैं। (अभिमुखीकृत)

कुछ 'अवि' 'उ' हैं। (परिवर्तित)

इस उदाहरण में दिया हुआ वाक्य सामान्य है किन्तु विरुद्ध भावित विशेष है। क्योंकि यदि हम सामान्य निष्कर्ष निकालना चाहें तो हमें 'अ-वि' उद्देश्य को प्रस्थापना में लेना पड़ेगा जो अभिमुखीकृत में प्रस्थापना में नहीं लिया गया है।

'ई' का विरुद्ध भाव नहीं हो सकता। जैसे,

विरुद्ध माम्य : "कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय नहीं हैं"—"कुछ 'उ 'वि' हैं'

विरुद्ध मावित : "कोई निष्कर्ष नहीं।"—"कोई निष्कर्ष नहीं

कुछ 'उ' 'वि' हैं।

कुछ उ' अवि' नहीं हैं। (अभिमुखीकृत)

नहीं हो सकता।" (परिवर्तित)

यदि 'ई' वाक्य का अभिमुखीकृत किया जाय तो हमें 'ओ' निष्कर्ष मिलता है। तथा 'ओ' का परिवर्तन हो नहीं सकता। अतः 'ई' का विरुद्ध भाव नहीं हो सकता।

'ओ' का विरुद्ध भाव 'ई' में होता है। जैसे,

विरुद्ध माम्य : "कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं"

—"कुछ 'उ' 'वि नहीं हैं"

विरुद्ध मावित : "कुछ अन्याय प्रिय मनुष्य हैं"—"कुछ 'अवि' 'उ' हैं"

"कुछ उ 'वि' नहीं हैं

कुछ 'उ' 'अवि हैं (अभिमुखीकृत)

कुछ 'अवि' उ' हैं" (परिवर्तित)

जब 'ओ' वाक्य को अभिमुखीकृत किया जाय तो हमे 'ई' मिलता है और 'ई' को परिवर्तित किया जाय तो 'ई' मिलता है। अत 'ओ' का परिवर्तन 'ई' में होता है।

सक्षेप में विरुद्धभाव की प्रक्रिया द्वारा 'आ' का 'ए' मे विरुद्धभाव होता है; 'ए' का 'ई' में होता है, 'ओ' का 'ई' मे होता है किन्तु 'ई' का विरुद्धभाव नहीं हो सकता।

उपर्युक्त प्रक्रिया के प्रदर्शन से यह स्पष्ट है कि विरुद्धभाव एक मिश्रित प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे जब हम विरुद्धभावित निष्कर्ष निकालते है तो पहले हमे अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करनी पड़ती है और पश्चात् परिवर्तन करना पड़ता है। हमने यहाँ सीधे विरुद्धभाव के उदाहरण दिये है किन्तु कुछ तार्किकों की यह आपत्ति है कि सब उदाहरणों में यह सीधा विरुद्धभाव सम्भव नहीं। देखिये, पहले हम सीधे विरुद्धभाव का प्रयोग करते हैं। जैसे,

'आ' "सभी मनुष्य मरणशील हैं="सब 'उ' 'वि' है।
कोई अमरणशील मनुष्य नहीं है" ' कोई 'अवि' 'उ' नहीं है।"
'ओ' "कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं="कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।
कुछ अन्याय प्रिय मनुष्य हैं"=कुछ 'अ'-वि' 'उ' हैं।"

इन दोनों उदाहरणों मे सभी नियमों का पालन करके निष्कर्ष निकाला गया है। दिये हुए विधेय का उद्देश्य आत्यन्तिक विरोधी पद है। निष्कर्ष का विधेय, दिये हुए वाक्य का उद्देश्य है। गुण का परिवर्तन कर दिया गया है। तथा निष्कर्ष में कोई पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है जब तक कि वह मूल-वाक्य मे द्रव्यार्थ मे ग्रहण न किया गया हो। यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि 'आ' के विरुद्धभावित मे हमें अ+वि मिलता है जो निष्कर्ष का उद्देश्य है और द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। क्योंकि यह पद

व्यत्यय हो सकता है और उसमें भी व्यत्यस्त सर्वदा विशेष ही होना चाहिये।

(४) पूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण वही होता है जो व्यत्येय का; किन्तु अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण व्यत्येयसे भिन्न होता है।

व्यत्यय की प्रक्रिया इस प्रकार है—व्यत्यय विरुद्धभाव की भांति अनन्तरानुमान का एक भिन्न रूप है और इसमें अभिमुखीकरण तथा परिवर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। विरुद्धभाव में हम प्रथम अभिमुखीकरण करते हैं और पश्चात् परिवर्तन करते हैं किन्तु व्यत्यय में ऐसा कोई निर्धारित नियम नहीं है। व्यत्यय में हमारा ध्येय इतना ही है कि निष्कर्ष में उद्देश्य मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद हो और इस वाक्य को लेकर यदि हम अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया को सूविधा के अनुसार प्रयोग करते चले जाँय तो हमें अभिवाञ्छित निष्कर्ष प्राप्त हो जायगा। यदि अभिमुखीकरण से शुरू करते हुए अभिवाञ्छित निष्कर्ष न निकले तो प्रक्रिया को बंद कर देना चाहिये और दुबारा परिवर्तन से आरम्भ करना चाहिये। तथा यदि परिवर्तन से आरंभ करते हुए निष्कर्ष न निकले तो अभिमुखीकरण से शुरू करना चाहिये।

'आ' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ई' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ओ' में होता है। जैसे

व्यत्येय 'सब मनुष्य मरणशील हैं' — 'सब 'उ वि' है।"

व्यत्यस्त : "कुछ अमनुष्य अमरणशील नहीं हैं" (पूर्ण) "कुछ 'अ-उ' 'अ वि' हैं"

,, "कुछ अमनुष्य मरणशील नहीं हैं" (अपूर्ण) 'कुछ अ-उ' वि नहीं हैं"

पूर्ण प्रक्रिया[1]

१	"सब 'उ'	'वि' है	अभिमुखीकरणीय (व्यत्येय)
२	कोई 'उ'	'अवि' नहीं है	अभिमुखीकृत
३	कोई 'अवि'	'उ' नहीं है	परिवर्तित
४	सब 'अवि'	'अ-उ' हैं	अभिमुखीकृत
५	कुछ 'अ-उ'	'अ-वि' है	परिवर्तित (पूर्ण व्यत्यस्त)
६	कुछ 'अ-उ'	'वि' नहीं हैं"	अभिमुखीकृत (अपूर्ण व्यत्यस्त)

यदि हम परिवर्तन से आरम्भ करते तो हमारी उन्नति अभिवाछित निष्कर्ष निकलने के पहले ही रुक जाती। अतः हमने अभिमुखीकरण से आरम्भ किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिमुखीकरण से आरम्भ कर हमें ५वीं अवस्था में पूर्ण व्यत्यस्त मिला है तथा ६ठी अवस्था में अपूर्ण व्यत्यस्त मिला है। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिये कि अपूर्ण व्यत्यस्त निकालने में विधेय, द्रव्यार्थ में ले लिया गया है जो मूल वाक्य में द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है। तथापि अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई गलती नहीं है और हमारा निष्कर्ष निर्दोष है।

'ए' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ओ' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ई' में होता है। जैसे,

व्यत्येय : "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है" = "कोई 'उ' 'वि' नहीं है।"

व्यत्यस्त " कुछ अ-मनुष्य पूर्ण है" = "कुछ 'अ-उ' 'वि' हैं।"
(अपूर्ण)

व्यत्यस्त : "कुछ अ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं" = "कुछ 'अ-उ' 'अवि नहीं हैं।" (पूर्ण)

---

1 Full Process

दिये हुए वाक्य में नहीं है इसलिये हम इसके द्रव्यार्थ के विषय में अपवाद नहीं मान सकते।।

अन्य उदाहरण हम 'ए' का लें। इसमें सीधे नियमों का प्रयोग करने से हमारा निम्नलिखित परिणाम निकलता है:—

(ए) "कोई प्राणी पूर्ण नहीं है— "कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
सब अपूर्ण जीव प्राणी हैं"— सब अ वि 'उ' है।"

यहाँ निष्कर्ष 'अ-वि' द्रव्यार्थ में प्रयत्न किया गया है क्योंकि यह पद, दिये हुए वाक्य में नहीं आया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यहाँ अयुक्त द्रव्यार्थ लिया गया है। तथापि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है—जैसे हमें पहिले अभिमुखीकरण करने से और पश्चात् परिवर्तन करने से प्रतीत होगा।

(ए) 'कोई प्राणी पूर्ण नहीं है— "कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
सब प्राणी अपूर्ण हैं— सब उ 'अवि' है।
कुछ अपूर्ण जीव प्राणी हैं" कुछ 'अवि' 'उ' है।"

इससे सबथा स्पष्ट है कि यदि हम "सब 'अवि' 'उ' है" यह निष्कर्ष निकालें तो अयुक्त द्रव्यार्थ ग्रहण करना पड़ेगा। क्योंकि विरुद्ध भाव के नियमों से ऐसा हो नहीं सकता। इससे प्रतीत होता है कि नियमों को सीधा लगाने से हमें ठीक निष्कर्ष प्राप्त नहीं होता है। अतः यह कहना पड़ता है कि विरुद्धभाव अनुमान को, परिवर्तन अभिमुखीकरण आदि की तरह, साधारण प्रक्रिया नहीं है किन्तु यह अनन्तरानुमान की मिश्र प्रक्रिया है जिसमें प्रथम अभिमुखीकरण की प्रक्रिया और पश्चात् परिवर्तन की प्रक्रिया करनी पड़ती है।

विरुद्ध भावित, अभिमुखीकृत परिवर्तन से सर्वथा भिन्न है। विरुद्धभाव में हम पहले अभिमुखीकरण की प्रक्रिया करते हैं और पश्चात् परिवर्तन की प्रक्रिया करते हैं किन्तु अभिमुखीकृत परिवर्तन में

पहले परिवर्तन करना होगा और पश्चात् अभिमुखीकरण करना होगा। जैसे,

'आ' "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।

'ई' कुछ मरणधर्मा जीव मनुष्य हैं।

'ओ' कुछ मरणधर्मा जीव अमनुष्य नहीं है"

यदि विरुद्ध भाव निकाला जाय तो 'सब 'उ' 'वि' हैं' का कोई 'अ-वि' 'उ' नहीं है यह निकलेगा। इसलिये दोनों प्रक्रियाओं में भिन्नता है।

(४) **व्यत्यय (Inversion) एक प्रकार का अनन्तरानुमान है जिसमें एक दिये हुए वाक्य से अन्य वाक्य का निष्कर्ष निकाला जाता है तथा निष्कर्ष का उद्देश्य दिये हुए वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।** जिस वाक्य से इस प्रकार का अनुमान निकालते हैं उसे **व्यत्येय** (Invertend) कहते हैं तथा निष्कर्ष वाक्य को **व्यत्यस्त** (Inverse) कहते हैं। व्यत्यय के दो भेद हैं (१) **पूर्ण और** (२) **अपूर्ण**। पूर्ण-व्यत्यय उसे कहते हैं जिससे व्यत्यस्त का विधेय व्यत्येय के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है किन्तु अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का विधेय वही होता है जो व्यत्येय का।

व्यत्यय के निम्नलिखित नियम हैं।

(१) व्यत्यस्त का उद्देश्य व्यत्येय के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(२) अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का विधेय वही होता है जो व्यत्येय का तथा पूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का विधेय व्यत्येय के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(३) व्यत्येय का परिमाण सामान्य होता है किन्तु व्यत्यस्त का परिमाण विशेष होता है। केवल सामान्य वाक्यों का ही

व्यत्यय हो सकता है और उसमें भी व्यत्यस्त सर्वथा विरोध ही होना चाहिये।

(४) पूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण वही होता है जो व्यत्येय का; किन्तु अपूर्ण व्यत्यय में व्यत्यस्त का गुण व्यत्येयसे भिन्न होता है।

व्यत्यय की प्रक्रिया इस प्रकार है—व्यत्यय विरुद्धभाव की भाँति अनन्तरानुमान का एक भिन्न रूप है और इसमें अभिमुखीकरण तथा परिवर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। विरुद्धभाव में हम प्रथम अभिमुखीकरण करते हैं और पश्चात् परिवर्तन करते हैं किन्तु व्यत्यय में ऐसा कोई निर्धारित नियम नहीं है। व्यत्यय में हमारा ध्येय इतना ही है कि निष्कर्ष में उद्देश्य मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद हो और इस लक्ष्य को लेकर यदि हम अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया का व्यतिक्रम के अनुसार प्रयोग करते चले जाँय तो हमें अभिवाञ्छित निष्कर्ष प्राप्त हो जायगा। यदि अभिमुखीकरण से शुरू करते हुए अभिवाञ्छित निष्कर्ष न निकले तो प्रक्रिया को बंद कर देना चाहिये और दुबारा परिवर्तन से आरम्भ करना चाहिये। तथा यदि परिवर्तन से आरंभ करते हुए निष्कर्ष न निकले तो अभिमुखीकरण से शुरू करना चाहिये।

'आ' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ई' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ओ' में होता है। जैसे

व्यत्येय : "सब मनुष्य मरणशील हैं"—"सब 'उ' 'वि' हैं।"
व्यत्यस्त : "कुछ अमनुष्य अमरणशील नहीं हैं" (पूर्ण) 'कुछ 'अ-उ' 'अ-वि' हैं"
"कुछ अमनुष्य मरणशील नहीं हैं" (अपूर्ण) 'कुछ अ-उ' 'वि' नहीं हैं"

पूर्ण प्रक्रिया[1]

१	"सब 'उ'	'वि' है	अभिमुखीकरणीय (व्यत्येय)
२	कोई 'उ'	'अवि' नहीं हैं	अभिमुखीकृत
३	कोई 'अवि'	'उ' नहीं है	परिवर्तित
४	सब 'अवि'	'अ-उ' हैं	अभिमुखीकृत
५	कुछ 'अ-उ'	'अ-वि' है	परिवर्तित (पूर्ण व्यत्यस्त)
६	कुछ 'अ-उ'	'वि' नहीं हैं"	अभिमुखीकृत (अपूर्ण व्यत्यस्त)

यदि हम परिवर्तन से आरम्भ करते तो हमारी उन्नति अभिवाञ्छित निष्कर्ष निकलने के पहले ही रुक जाती। अतः हमने अभिमुखीकरण से आरम्भ किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिमुखीकरण से आरम्भ कर हमें ५वीं अवस्था में पूर्ण व्यत्यस्त मिला है तथा ६ठी अवस्था में अपूर्ण व्यत्यस्त मिला है। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिये कि अपूर्ण व्यत्यस्त निकालने में विधेय, द्रव्यार्थ में ले लिया गया है जो मूल वाक्य में द्रव्यार्थ मे नहीं लिया गया है। तथापि अभिमुखीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई गलती नहीं है और हमारा निष्कर्ष निर्दोष है।

'प' का व्यत्यय पूर्ण रूप से 'ओ' में होता है तथा अपूर्ण रूप से 'ई' मे होता है। जैसे,

व्यत्येय : "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है" = "कोई 'उ' 'वि' नहीं है।"
व्यत्यस्त "कुछ अ-मनुष्य पूर्ण है" = "कुछ 'अ-उ' 'वि' हैं।"
(अपूर्ण)
व्यत्यस्त. "कुछ अ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं" = "कुछ 'अ-उ' 'अवि नहीं हैं।" (पूर्ण)

---

1 Full Process

पूर्ण प्रक्रिया

"कोई 'उ' 'वि' नहीं है। परिवर्तित (व्यत्येय)
कोई 'वि' 'उ' नहीं है। अभिमुखीकृत
सब 'वि' 'अ + उ' है। परिवर्तित
कुछ 'अ + उ' 'वि' है। अभिमुखीकृत (अपूर्ण व्यत्यस्त)
कुछ 'अ + उ' 'अ-वि' नहीं है।" (पूर्ण व्यत्यस्त)

इससे स्पष्ट है कि पूर्णरूप से 'ए' का व्यत्यस्त 'ओ' होता है और अपूर्णरूप से 'ई' होता है। यदि यहाँ हम अभिमुखीकरण से आरम्भ करते तो हमारी उपपत्ति रुक जाती और हम अभिवांछित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते थे।

'ई' का व्यत्यय किसी में नहीं हो सकता। जैसे
व्यत्येय १ 'कुछ मनुष्य न्याय प्रिय हैं = "कुछ 'उ' 'वि' है।
व्यत्यस्त कोई निष्कर्ष नहीं।" = कोई निष्कर्ष नहीं।"

पूर्ण प्रक्रिया

प्रथम हम अभिमुखीकरण की प्रक्रिया का प्रयोग करके देखते हैं—
१ 'कुछ उ' 'वि' है। व्यत्येय
२ कुछ उ 'अवि' नहीं है। अभिमुखीकृत
यह परिवर्तित नहीं हो सकता।" (निष्कर्ष नहीं)

अब परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रयोग करके भी देखते हैं—

१ "कुछ उ' 'वि' है व्यत्येय
२ कुछ वि' 'उ' है परिवर्तित
३ कुछ 'वि' 'अ-उ' नहीं है अभिमुखीकृत
इसका परिवर्तित नहीं निकल सकता" (निष्कर्ष नहीं)
इससे यह सिद्ध हो गया कि दोनों अवस्थाओं मे 'ई' का व्यत्यस्त

निकल ही नहीं सकता। अतः 'ई' का व्यत्यय किसी प्रकार नहीं हो सकता।

'ओ' का व्यत्यय किसी में नहीं हो सकता। जैसे,
व्यत्येय "कुछ मनुष्य न्यायप्रिय नहीं' = कुछ 'उ' वि' नहीं हैं।
व्यत्यस्त "कोई निष्कर्ष नहीं'=कोई परिणाम नहीं।

पूर्णप्रक्रिया

प्रथम हम अभिमुखीकरण से आरम्भ करते हैं —
१ "कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं (व्यत्येय)
२ कुछ 'उ' 'अ-वि' हैं अभिमुखीकृत
३ कुछ 'अ-वि' 'उ' हैं परिवर्तित
४ कुछ 'अ-वि' 'अ-उ' नहीं हैं अभिमुखीकृत

इसका परिवर्तित नहीं हो सकता" (निष्कर्ष नहीं)
अब हम परिवर्तन का प्रयोग करके देखते हैं —
१ "कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं (व्यत्येय)
इसका परिवर्तन नहीं हो सकता" (निष्कर्ष नहीं)

इस प्रकार दोनों ही हालत में हमें कोई निष्कर्ष नहीं मिलता अत 'ओ' का व्यत्यय नहीं हो सकता।

सक्षेप में पूर्ण व्यत्यय की प्रक्रिया से 'आ' का 'ई' में व्यत्यय होता है और अपूर्ण प्रक्रिया से 'ओ' में होता है। पूर्ण प्रकिया द्वारा 'ए' का 'ओ' में होता है तथा अपूर्ण प्रक्रिया से 'ई' में होता है। किन्तु 'ई' और 'ओ' का किसी प्रकार व्यत्यय नहीं हो सकता।

(५) चारों प्रकार के अमाध्यानुमानों की तुलना की तालिका[1]

	परिवर्तन	अभिमुखीकरण	विपर्यास	अपूर्ण व्यत्यय	पूर्ण व्यत्यय
निष्कर्ष का उद्देश्य	—मूल वाक्य का विधेय	—मूल वाक्य का उद्देश्य	—मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद	—मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद	= मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद
निष्कर्ष का विधेय	—मूल वाक्य का उद्देश्य	—मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद	—मूल वाक्य का उद्देश्य	मूल वाक्य का विधेय	मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक, विरोधी पद
निष्कर्ष का परिमाण	'ए' और 'ई' में समान। 'आ' में भिन्न। 'ओ' में निष्कर्ष का अभाव	समान	'आ' और 'ओ' में समान। 'ए' में भिन्न। 'ई' में निष्कर्ष का अभाव	अपेक्ष्य सामान्य अत्यन्त विशेष	अपेक्ष्य सामान्य अत्यन्त-विशेष
निष्कर्ष का गुण	समान	विरुद्ध	विरुद्ध	विरुद्ध	समान

1. Table.

इस तालिका में चारों प्रकार के अनन्तरानुमानों की एक दूसरे के साथ निम्नलिखित दृष्टि-विन्दुओं से तुलना हो सकती है।

(१) निष्कर्ष का उद्देश्य

परिवर्तन में निष्कर्ष का उद्देश्य मूलवाक्य का विधेय होता है। अभिमुखीकरण में निष्कर्ष का उद्देश्य वही होता है जो मूल वाक्य का उद्देश्य होता है। विरुद्धभाव में निष्कर्ष का उद्देश्य मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है तथा व्यत्यय में निष्कर्ष का उद्देश्य मूल वाक्य के उद्देश्य का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है।

(२) निष्कर्ष का विधेय

परिवर्तन में निष्कर्ष का विधेय मूल वाक्य का उद्देश्य होता है अभिमुखीकरण में निष्कर्ष का विधेय मूल वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है। विरुद्धभाव में निष्कर्ष का विधेय मूल वाक्य का उद्देश्य होता है। तथा पूर्ण व्यत्यय में निष्कर्ष का विधेय मूल-वाक्य के विधेय का आत्यन्तिक विरोधी पद होता है और अपूर्ण व्यत्यय मे निष्कर्ष का विधेय वही होता है जो मूल वाक्य का विधेय होता है।

(३) निष्कर्ष का परिमाण

परिवर्तन में निष्कर्ष का परिमाण, 'ए' और 'ई' में, मूल वाक्य के समान होता है। 'आ' में निष्कर्ष विशेष होता है जब कि मूल वाक्य सामान्य होता है। इस तरह कभी परिमाण समान होता है और कभी भिन्न होता है। क्योंकि 'ओ' मे निष्कर्ष का अभाव होता है इसलिये उसमें परिमाण का प्रश्न ही नहीं उठता। अभिमुखीकरण में निष्कर्ष का परिमाण वही होता है जो कि मूल वाक्य का होता है। विरुद्धभाव में निष्कर्ष का परिमाण 'आ' और 'ओ' में वही होता है जो मूल वाक्य

५—विरोध

विरोध (Opposition) भी एक प्रकार का अनन्तरानुमान है। इसका लक्षण वगैरह पहले बतलाया जा चुका है। फिर भी यहाँ अनुमान की दृष्टि से विचार किया जाता है। **विरोध एक प्रकार का सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में पाया जाता है।** तथा यह अनन्तरानुमान का प्रकार भी है। सम्बन्ध की दृष्टि से विरोध-सूचक चार सम्बन्ध हैं (१) समावेश (२) विरोध (३) उप-विरोध और (४) आत्यन्तिक विरोध। विरोध को जब हम अनुमान का प्रकार मानते हैं तब इसका अर्थ होता है कि एक वाक्य के आधार से दूसरे वाक्य का निष्कर्ष निकालना और वह इन चार प्रकार के सम्बन्धों द्वारा भली भाँति निकाला जा सकता है। अब हम उनके भिन्न भिन्न प्रकारों का विवेचन करते हैं.—

(१) समावेश (Subalternation) एक प्रकार का विरोधसूचक सम्बन्ध है जो दो वाक्यों में, जिनके उद्देश्य और विधेय वही हों तथा गुण भी वही हों किन्तु परिमाण में भिन्नता रखते हों, पाया जाता है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ई' में तथा 'ए' और 'ओ' में पाया जाता है।

इसके निम्नलिखित नियम हैं —

(१) सामान्य की सत्यता तत्संगत विशेष की सत्यता को सिद्ध करती है किन्तु विपरीत अवस्था में नहीं।

(२) विशेष का मिथ्यापन तत्संगत सामान्य का मिथ्यापन सिद्ध करता है किन्तु विपरीत अवस्था में नहीं।

नियम (१) यदि सामान्य सत्य है तो तत्संगत विशेष भी

सत्य होगा। जैसे, यदि 'आ' सत्य है तो 'ई' भी सत्य होगा। उसी प्रकार यदि 'ए' सत्य है तो 'ओ' भी सत्य होगा। यदि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह भी सत्य होगा। उसी प्रकार 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं' यह भी सत्य होगा।

इसका विपरीत नियम सत्य नहीं है। जैसे, यदि विशेष वाक्य 'ई' 'ओ'—सत्य होंगे तो सामान्य वाक्य—'आ', 'ए'—संशयापन्न होंगे। जैसे 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह भी सत्य हो सकता है किन्तु 'कुछ मनुष्य न्याय प्रिय हैं' इसके सत्य होने पर 'सब मनुष्य न्यायप्रिय हैं' यह संशयापन्न है। इससे सिद्ध होता है कि यदि विशेष वाक्य सत्य हो तो सामान्य वाक्य की सत्यता में संदेह रहता है।

नियम (२) यदि विशेष मिथ्या है तो तत्संगत सामान्य अवश्य मिथ्या होगा। जैसे, यदि 'ई' मिथ्या है तो 'आ' भी मिथ्या है और 'ओ' मिथ्या है तो 'ए' भी मिथ्या है। यदि 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है तो तत्संगत 'सब मनुष्य पूर्ण हैं' यह अवश्य मिथ्या होना चाहिये। इसी प्रकार यदि 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है तो तत्संगत 'कोई मनुष्य मरणधर्मा नहीं है' यह अवश्य मिथ्या है।

इसका विपरीत नियम (Converse) सत्य नहीं है। जैसे यदि सामान्य वाक्य—'आ' 'ए'—मिथ्या हों तो विशेष वाक्य 'ई' 'ओ' के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसे, 'सब मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है तो तत्संगत 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह भी मिथ्या है किन्तु 'सब मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ

मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह सत्य हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सामान्य वाक्य के मिथ्या होने से विशेष वाक्य संशयापन्न होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है—यदि 'आ' सत्य हो तो 'ई' सत्य होगा। 'ए' सत्य हो तो 'ओ' सत्य होगा किन्तु यदि 'ई' सत्य हो तो 'आ' संशयापन्न होगा, 'ओ' सत्य हो तो 'ए' संशयापन्न होगा। तथा यदि 'ई' मिथ्या हो तो 'आ' मिथ्या होगा, 'ओ' मिथ्या हो तो 'ए' मिथ्या होगा किन्तु यदि 'आ' मिथ्या हो तो 'ई' संशयापन्न होगा, 'ए' मिथ्या हो तो 'ओ' संशयापन्न होगा।

(३) विरोध (Contrary) **सम्बन्ध वह है जो दो सामान्य वाक्यों में, जिनके उद्देश्य और विधेय वही हों, किन्तु गुण में भिन्नता रखते हों, पाया जाता है।** यह 'आ' और 'ए' में रहता है। इसका निम्नलिखित नियम है—

दो वाक्यों में एक की सत्यता दूसरे को मिथ्या बनाती है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

जैसे, 'आ' सत्य है तो 'ए' मिथ्या होगा और 'ए' सत्य है तो "आ' मिथ्या होगा। अगर 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो कोई मनुष्य मरणधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या होगा। इसी प्रकार यदि "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है" यह सत्य है तो "सब मनुष्य पूर्ण हैं" यह मिथ्या होगा।

इसका विपरीत (Converse) नियम सत्य नहीं है। एक का मिथ्या होना दूसरे का सत्य होना नहीं बतलाता। इस प्रकार यदि 'सब मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह मिथ्या है तो 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' यह सत्य नहीं हो सकता अर्थात् यह भी मिथ्या उसी प्रकार है। किन्तु 'सब मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है और तत्सगत 'कोई मनुष्य

पूर्ण नहीं है' यह सत्य है। इससे फलित यह हुआ कि यदि 'आ' मिथ्या हो तो 'ए' संशयापन्न होगा। उसी प्रकार यदि 'ए' मिथ्या हो तो 'आ' संशयापन्न होगा।

संक्षेप में यदि 'आ' सत्य हो तो 'ए' मिथ्या होगा और यदि 'ए' सत्य होगा तो 'आ' मिथ्या होगा। तथा यदि 'आ' मिथ्या होगा तो 'ए' संशयापन्न होगा और यदि 'ए' मिथ्या होगा तो 'आ' संशयापन्न होगा।

(३) उपविरोध (Sub-Contrary) यह वह सम्बन्ध है जो दो विशेष वाक्यों में जिनके वही उद्देश्य और विधेय हों किन्तु गुण में भिन्न हों, पाया जाता है। 'ई' और 'ओ' वाक्यों में यह रहता है।

इसके निम्नलिखित नियम हैं:—

(१) एक का मिथ्या होना दूसरे का सत्य होना बतलाता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

यदि 'ई' मिथ्या है तो 'ओ' सत्य होगा और यदि 'ओ' मिथ्या है तो 'ई' सत्य होगा। यदि 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण नहीं हैं' यह सत्य होगा और यदि 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य होगा।

इसका विपरीत नियम सत्य नहीं। एक का सत्य होना दूसरे का मिथ्या होना सिद्ध नहीं करता। यदि 'कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं' यह सत्य है तो उसी समय 'कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं' यह भी सत्य है। किन्तु 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा हैं' सत्य है और तत्संगत 'कुछ मनुष्य मरणधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है। इस प्रकार यदि 'ई' सत्य है

तो 'ओ' संशयापन्न है। तथा यह भी बतलाया जा सकता है कि यदि 'ओ' सत्य हो तो 'ई' संशयापन्न होगा।

संक्षेप में, यदि 'ई' मिथ्या हो तो 'ओ' सत्य होगा और यदि 'ओ' मिथ्या हो तो 'ई' सत्य होगा। किन्तु यदि 'ई' सत्य हो तो 'ओ' संशयापन्न होगा और यदि 'ओ' सत्य हो तो 'ई' संशयापन्न होगा।

(४) आत्यन्तिक-विरोध (Contradictory) उन दो वाक्यों में पाया जाता है जिनके उद्देश्य और विधेय वही होते हैं किन्तु वे दोनों गुण और परिणाम से सर्वथा भिन्न होते हैं। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ओ' तथा 'ए' और 'ई' में रहता है। आत्यन्तिक विरोध का निम्नलिखित नियम है :—

एक का सत्य होना अन्य को मिथ्या होना सिद्ध करता है तथा विपरीत रूप से भी।

इस सम्बन्ध के अनुसार दो वाक्यों में यदि एक सत्य होगा तो अन्य अवश्य मिथ्या होगा और यदि एक मिथ्या होगा तो अन्य अवश्य सत्य होगा। दोनों वाक्य एक ही समय सत्य नहीं हो सकते और न मिथ्या ही हो सकते हैं, उनमे से एक अवश्य सत्य होना चाहिये और दूसरा अवश्य मिथ्या होना चाहिये। आत्यन्तिक विरोध के सिद्धान्त (The law of Contradiction) के अनुसार आत्यन्तिक विरोधी दो पदों में से एक अवश्य मिथ्या होना चाहिये तथा मध्यम-योग परिहार के सिद्धान्त (The law of Excluded middle) के अनुसार दो पदों में से एक को अवश्य सत्य होना चाहिये। इस प्रकार आत्यन्तिक विरोध में, विरोध का सम्बन्ध परस्परापेक्ष है—विरुद्ध-पदों का अनुमान एक दूसरे से सरलतापूर्वक निकाला

जा सकता है। अन्य विरोधों में दोनों वाक्य इस प्रकार विरुद्ध नहीं होते वैसे इसमें। इसी हेतु से तार्किकों ने इस विरोध को पूर्ण विरोध माना है।

इस प्रकार आत्यन्तिक विरोध के अनुसार यदि 'आ' सत्य है तो 'ओ' मिथ्या होगा और यदि 'आ' मिथ्या होगा तो 'ओ' सत्य होगा यदि 'ए' सत्य है तो 'ई' मिथ्या होगा और यदि 'ए' मिथ्या है तो 'ई' सत्य होगा यदि 'ई' सत्य है तो 'ए' मिथ्या होगा और यदि 'ई' मिथ्या है तो 'ए' सत्य होगा, तथा यदि 'ओ' सत्य है तो 'आ' मिथ्या होगा और यदि 'ओ' मिथ्या है तो 'आ' सत्य होगा।

माना कि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य मनुष्यधर्मा नहीं हैं' यह मिथ्या है और यदि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य मरण-धर्मा नहीं हैं' यह सत्य होगा। यदि 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' यह सत्य है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह मिथ्या होगा और यदि 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है' यह मिथ्या है तो 'कुछ मनुष्य पूर्ण हैं' यह सत्य होगा। यदि 'कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय हैं' यह सत्य है तो 'कोई मनुष्य न्याय-प्रिय नहीं हैं' यह मिथ्या होगा और यदि 'कुछ मनुष्य न्याय-प्रिय हैं' यह मिथ्या है तो 'कोई मनुष्य न्यायप्रिय नहीं है' यह सत्य होगा। यदि 'कुछ विद्यार्थी बुद्धिमान नहीं हैं' यह सत्य है तो 'सब विद्यार्थी बुद्धिमान हैं' यह मिथ्या होगा और यदि 'कुछ विद्यार्थी बुद्धिमान नहीं हैं' यह मिथ्या है तो 'सब विद्यार्थी बुद्धिमान हैं' यह सत्य होगा।

निम्नलिखित तालिका चारों वाक्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न अनुमानों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है :—

नं०	दत्त	आ	ए	ई	ओ
१	आ सत्य		मिथ्या	सत्य	मिथ्या
२	आ मिथ्या		संशयापन्न	संशयापन्न	सत्य
३	ए सत्य	मिथ्या		मिथ्या	सत्य
४	ए मिथ्या	संशयापन्न		मिथ्या	संशयापन्न
५	ई सत्य	संशयापन्न	मिथ्या		संशयापन्न
६	ई मिथ्या	मिथ्या	सत्य		सत्य
७	ओ सत्य	मिथ्या	संशयापन्न	संशयापन्न	
८	ओ मिथ्या	सत्य	मिथ्या	सत्य	

५—रीति-परिणाम

रीति परिणाम (Model Consequence)। यह हमें पहले देख चुके हैं कि रीति के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के होते हैं

का विपरीत नियम सत्य नहीं। यदि एक वाक्य अधिक निश्चयात्मक है तो उसके मिथ्या होने से न्यून निश्चयात्मक वाक्यों के मिथ्या होने का हम अनुमान नहीं कर सकते।

७—सम्बन्ध-रूपान्तर

सम्बन्ध-रूपान्तर (Change of Relation) यह पहले बतलाया जा चुका है कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं (१) निरपेक्ष और (२) सापेक्ष। सापेक्ष वाक्य पुन दो प्रकार के होते हैं (१) हेतुहेतुमद् वाक्य तथा (२) वैकल्पिक वाक्य। **सम्बन्ध-रूपान्तर एक प्रकार का अनुमान है जिसमें एक प्रकार के सम्बन्ध वाक्य से भिन्न प्रकार के सम्बन्ध वाक्य का अनुमान किया जाता है।** इसलिये इस अनुमान के चार रूप हो सकते हैं :—

(१) निरपेक्ष वा नियत वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान।
(२) हेतुहेतुमद् वाक्य से निरपेक्ष वाक्य का अनुमान।
(३) वैकल्पिक वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान।
(४) हेतुहेतुमद् वाक्य से वैकल्पिक वाक्य का अनुमान।

अब हम प्रत्येक का विचार करते हैं.—

(१) निरपेक्ष वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान

जब हम निरपेक्ष वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का या हेतुहेतुमद् वाक्य से निरपेक्ष वाक्य का अनुमान करें तो निम्नलिखित नियमों का ध्यान रखना चाहिये।

(क) हेतुहेतुमद् वाक्य का हेतु निरपेक्ष वाक्य के उद्देश्य के समान होता है।

(ख) हेतुहेतुमद् वाक्य का हेतुमद् निरपेक्ष वाक्य के विधेय के सदृश होता है।

(ग) हेतुहेतुमद् वाक्य का परिमाण अपने हेतु के परिमाण पर निर्भर रहता है।

(घ) हेतुहेतुमद् वाक्य का गुण अपने हेतुमद् के गुण पर निर्भर रहता है।

(१) निरपेक्ष वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य का अनुमान

(आ) "सब 'उ' वि हैं — "यदि 'उ है तो वि' है।
सब मनुष्य मरणशील हैं"—यदि मनुष्य हैं तो मरणशील है।"

(ए) "कोई उ वि नहीं है —'यदि 'उ' है तो 'वि' नहीं है।
कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है"—यदि मनुष्य हैं तो पूर्णता नहीं है।"

(ई) कुछ उ' 'वि है = 'यदि कुछ हालतों में उ है तो वि' है।
कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं" = यदि कुछ मनुष्य हैं तो वे बुद्धिमान हैं।"

(ओ) कुछ 'उ' 'वि नहीं है— 'यदि कुछ हालतों में 'उ' है तो 'वि नहीं है।
कुछ मनुष्य न्याय प्रिय नहीं हैं" — यदि कुछ मनुष्य हैं तो वे न्यायप्रिय नहीं है।"

(२) हेतुहेतुमद् वाक्य से निरपेक्ष वाक्य का अनुमान

(आ) यदि 'क' 'ख है तो 'ग 'घ है — "सब 'क' के ख' होने की अवस्थाएँ ग' के घ होने की अवस्थाएँ हैं।
यदि राम आता है तो मोहन आता है।" — सब राम के आने की अवस्थाएँ मोहन के आने की अवस्थाएँ हैं।'

(ए) "यदि 'क' ख' है तो ग' 'घ' नहीं है — "कोई क' के ख' होने की अवस्था ग' के 'घ' होने की अवस्था नहीं है।

	यदि वर्षा होती है तो मैं बाहर नहीं जाता"	= कोई वर्षा होने की अवस्था मेरे बाहर जाने की अवस्था नहीं है।"
(ई)	"यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है	= "कुछ 'क' के 'ख' होने की अवस्थाएँ 'ग' के 'घ' होने की अवस्थाएँ हैं।
	यदि कुछ अवस्थाओं में मनुष्य निर्धन पैदा होता है तो वह सफल होता है"	= कुछ निर्धन होने की अवस्थाएँ सफल होने की अवस्थाएँ हैं।"
(ओ)	"यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' नहीं है	= "कुछ 'क' के 'ख' होने की अवस्थाएँ 'ग' के 'घ' होने की अवस्थाएँ नहीं है।
	यदि कुछ अवस्थाओं में मनुष्य परिश्रम करता है तो सफल नहीं होता"	= कुछ परिश्रम करने की अवस्थाएँ सफल होने की अवस्थाएँ नहीं हैं।"

(३) वैकल्पिक वाक्य से हेतुहेतुमद् का अनुमान

वैकल्पिक वाक्य से हेतुहेतुमद् वाक्य के अनुमान के विषय में मिल और यूवर्वेग एकमत नहीं है। मिल के अनुसार वैकल्पिक वाक्य के एक विकल्प का मिथ्या होना दूसरे विकल्प की सत्यता का द्योतक होता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं। इस प्रकार मिल महोदय के मत में वैकल्पिक वाक्य 'क' या तो 'ख' है या 'ग' है—से निम्नलिखित दो हेतुहेतुमद् वाक्यों का अनुमान हो सकता है —

(१) "यदि 'क' 'ग' नहीं है तो 'क' 'ख' है, और

(२) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'क' 'ग' है"

यूवर्वेग के मत में वैकल्पिक वाक्य के विकल्प का मिथ्या होना दूसरे विकल्प की सत्यता का द्योतक है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

अतः पूर्वेग के अनुसार वैकल्पिक वाक्य 'क' या तो 'ख' या 'ग' है—से निम्नलिखित चार हेतुहेतुमद् वाक्यों का अनुमान हो सकता है।

(१) "यदि 'क' 'ग' नहीं है तो 'क' 'ख' है।
(२) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'क' 'ग' है।
(३) यदि 'क' 'ग' है तो 'क' 'ख' नहीं है, और
(४) यदि 'क' 'ख' है तो 'क' 'ग' नहीं है।"

उपर्युक्त उदाहरणों से मिल और पूर्वेग के मतों का भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। पूर्वेग के अनुसार वैकल्पिक वाक्य के विकल्प दो आत्यन्तिक विरोधी वाक्यों के समान हैं किन्तु मिल के अनुसार वे दोनों दो उप-विरोधी वाक्यों के सदृश हैं। उदाहरणार्थ, "वह या तो धार्मिक है या तो अधार्मिक है" इससे यह सर्वथा स्पष्ट है कि दो विकल्प अर्थात् वह धार्मिक है' और वह अधार्मिक है' ये दोनों एक दूसरे के व्यावर्तक[1] हैं। अतः इससे हम निम्नलिखित ४ हेतुहेतुमद् वाक्यों का अनुमान कर सकते हैं:—

(१) यदि वह धार्मिक है तो वह अधार्मिक है।
(२) यदि वह अधार्मिक है तो वह धार्मिक है।
(३) यदि वह धार्मिक है तो वह अधार्मिक नहीं है। और
(४) यदि वह अधार्मिक है तो वह धार्मिक नहीं है।"

इस उदाहरण में पूर्वेग का मत सर्वथा ठीक है किन्तु यदि हम यह उदाहरण लें कि वह या तो असभ्य है या बदमाश है' इसमें दोनों विकल्प—या तो असभ्य है और या बदमाश है'—सर्वथा एक दूसरे का व्यावर्तक नहीं है और इसलिये इसमें पूर्वेग का मत ठीक नहीं मालूम होता। इस उदाहरण में तो मिल महोदय का ही मत ठीक

1 Exclusive.

प्रतीत होता है और यह वैकल्पिक वाक्य निम्नलिखित दो हेतुहेतुमद् वाक्यों के समान होगा :—

(१) "यदि वह असभ्य नहीं है तो बदमाश है और

(२) यदि वह बदमाश नहीं है तो वह असभ्य है"

इन दोनों तार्किकों के मतभेद का निर्णय इस विचार से हो सकता है कि वास्तव मे दोनों विकल्प एक दूसरे के व्यावर्तक हैं या नहीं। यदि वे दोनों परस्पर व्यावर्तक हैं तो यूवर्वेग महोदय का मत ठीक है और यदि नहीं है तो मिल महोदय का मत ठीक है। तथापि हमें मिल महोदय का मत स्वीकार करना चाहिये क्योंकि उनका मत सब अवस्थाओं में ठीक बैठता है। यूवर्वेग का मत कुछ ही अवस्थाओं में सत्य ठहरता है।

हेतुहेतुमद् वाक्य से वैकल्पिक वाक्य का अनुमान

यह तीसरी प्रकिया की सर्वथा विपरीत प्रक्रिया है। यहाँ उसका दुहराना बिलकुल निरर्थक होगा। यूवर्वेग के अनुसार ४ हेतुहेतुमद् वाक्यों से एक वैकल्पिक वाक्य का अनुमान किया जा सकता है तथा मिल के अनुसार २ हेतुहेतुमद् वाक्यों से एक वैकल्पिक वाक्य का अनुमान किया जा सकता है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

(८) निर्धारण-संयोगानुमान

निर्धारण (Determinant) का अर्थ है विशेषण या उसी प्रकार का प्रशसात्मक शब्द जो एक पद के अर्थ को निर्धारित करता है। यह स्पष्ट है कि प्रशसात्मक शब्द, पद से सम्बन्ध नहीं रखता इसलिये द्रव्यार्थ की दृष्टि से यह उस पद के अर्थ को सीमित, सक्षिप्त या निर्धारित कर देता है। **निर्धारण-संयोगानुमान** (Inference by added Determinants) **अनन्तरानुमान का वह प्रकार है जिसमें हम एक दिये हुए वाक्य से एक दूसरे न्यूनतर द्रव्यार्थ के**

वाक्य का, उसके उद्देश्य और विधेय दोनों को उसी प्रकार निर्धारित कर, अनुमान करते हैं। जैसे,

"सब हिन्दू मनुष्य हैं
सब सभ्य हिन्दू सभ्य मनुष्य हैं"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार के अनुमान में उद्देश्य और विधेय दोनों में ही उसी प्रकार निर्धारण किया जाता है। अनुमान तभी सही होगा जब हम देखेंगे कि निर्धारण शब्द उद्देश्य और विधेय दोनों के विषय में उसी प्रकार लगाया गया है। किन्तु यह हमेशा उसी प्रकार के शब्द के प्रयोग करने से ठीक नहीं होता। कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही शब्द जब वह उद्देश्य में लगाया जाता है तब भिन्न भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तथा विधेय में लगाया जाता है तब किसी अन्य ही अर्थ का द्योतक होता है। जब एक ही निर्धारण शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तब अनुमान दोषपूर्ण हो जाता है। विशेष रूप से जब निर्धारण शब्द गुणवाचक शब्द होते हैं तब दोषों की अधिक सम्भावना है। जैसे

"दीमक एक जानवर है,
बड़ी दीमक बड़ा जानवर है

यह अनुमान मसत्य रूप से दोषयुक्त है क्योंकि निर्धारण शब्द 'बड़ा' उद्देश्य और विधेय में भिन्न-भिन्न अर्थ को पैदा करता है। अब हम यहाँ तीन उदाहरण सही अनुमान के देंगे और तीन गलत के। इससे दोनों के भेद का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। सही अनुमान के उदाहरण।—

(१) "अरब एक जानवर है,
स्वामिभक्त अरब स्वामिभक्त जानवर है।"

(२) "कविता मस्तिष्क का कार्य है
"अच्छी कविता अच्छे मस्तिष्क का कार्य है"

(१) "नेता मनुष्य है।
देशभक्त नेता देशभक्त मनुष्य है"

गलत अनुमान के उदाहरण —

(१) "नाटककार मनुष्य है,
बुरा नाटककार बुरा मनुष्य है"

(२) "गेंडा एक जानवर है,
छोटा गेंडा छोटा जानवर है"

(३) "चींटी एक जानवर है,
बड़ी चींटी बड़ा जानवर है।"

६—मिश्र-भावानुमान

मिश्र भावानुमान (Inference by Complex Conception) एक प्रकार का अनन्तरानुमान है जिसमें हम अधिक मिश्र विचार के अंशों की तरह किसी वाक्य के उद्देश्य और विधेय का प्रयोग करते हैं किन्तु उनके सम्बन्ध का परिवर्तन नहीं करते। उदाहरणार्थ,

"गाय चतुष्पद जन्तु है।
गाय का सिर एक चतुष्पद जन्तु का सिर है।"

यह अनुमान का प्रकार पूर्व के अनुमान की तरह का है। किन्तु इसमें पहले से कुछ अन्तर है। निर्धारण-संयोगानुमान में विशेषण पद या निर्धारण पद उद्देश्य और विधेय दोनों में जोड़ा जाता है और उनके अर्थ का वह निर्धारण करता है किन्तु मिश्र-भावानुमान में उद्देश्य और विधेय दोनों ही किसी तीसरे पद के निर्धारण शब्द की भाँति प्रयोग किये जाते हैं। पहले में तो विशेषण पद उद्देश्य और विधेय दोनों में जोड़ा जाता है किन्तु पिछले में उद्देश्य और विधेय दोनों ही निर्धारण पद की तरह प्रयोग किये जाते हैं।

वाक्य का, उसके उद्देश्य और विधेय दोनों को उसी प्रकार निर्धारित कर, अनुमान करते हैं। जैसे,

"सब हिन्दू मनुष्य हैं

सब लम्बे हिन्दू लम्बे मनुष्य हैं"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार के अनुमान में उद्देश्य और विधेय दोनों में ही उसी प्रकार निर्धारण किया जाता है। अनुमान तभी सही होगा जब हम देखेंगे कि निर्धारण शब्द उद्देश्य और विधेय दोनों के विषय में उसी प्रकार लगाया गया है। किन्तु यह हमेशा उसी प्रकार के शब्द के प्रयोग करने से ठीक नहीं होता। कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही शब्द जब वह उद्देश्य में लगाया जाता है तब भिन्न भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तथा विधेय में लगाया जाता है तब किसी अन्य ही अर्थ का द्योतक होता है। जब एक ही निर्धारण शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ का द्योतक होता है तब अनुमान दोषपूर्ण हो जाता है। विशेष रूप से जब निर्धारण शब्द गुणवाचक शब्द होते हैं तब दोषों की अधिक सम्भावना है। जैसे,

दीमक एक जानवर है

बड़ी दीमक बड़ा जानवर है'

यह अनुमान स्पष्ट रूप से दोषयुक्त है क्योंकि निर्धारण शब्द 'बड़ा' उद्देश्य और विधेय में भिन्न-भिन्न अर्थ को पैदा करता है। अब हम यहाँ तीन उदाहरण सही अनुमान के देंगे और तीन गलत के। इससे दोनों के भेद का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। सही अनुमान के उदाहरण :—

(१) "अरब एक जानवर है,

स्वामिभक्त अरब स्वामिभक्त जानवर है।"

(२) "कविता मस्तिष्क का कार्य है,

"अच्छी कविता अच्छे मस्तिष्क का कार्य है"

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के अनुमान गलत भी हो सकते हैं। यदि मवीन भिन्न विचार, उद्देश्य और विधेय में भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं तो अनुमान अवश्य गलत होगा। जैसे

सब गवर्नर मनुष्य हैं।

अधिक संख्यक गवर्नर अधिक संख्यक मनुष्य हैं।'

कुछ और, सही और गलत अनुमानों के उदाहरण दिये जाते हैं जिससे सही और गलत का अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

सही अनुमान के उदाहरण—

(१) "संखिया जहर है।

एक संखिया की मात्रा जहर की मात्रा है।'

(२) "गरीबी पाप का कारण है।

गरीबी का मिटाना पाप का मिटाना है।

(३) हाथी एक जानवर है।

हाथी का कंकाल एक जानवर का कंकाल है।'

गलत अनुमान के उदाहरण—

(१) 'सब न्यायाधीश वकील हैं।

अधिक संख्यक न्यायाधीश अधिक संख्यक वकील हैं।

(२) सब हिन्दू शंकरानुयायी हैं।

अधिक संख्यक हिन्दू अधिक संख्यक शंकरानुयायी हैं।

(३) जैन लोग धनी हैं,

अधिक संख्यक जैन लोग अधिक संख्यक धनी हैं।

अभ्यास प्रश्न

१ अनुमान का लक्षण क्या है? अनन्तरानुमान और सान्तरानुमान में अन्तर उदाहरणपूर्वक बतलाओ।

२ परिवर्तन का लक्षण लिखो। क्या 'आ' का परिवर्तन 'आ' मे हो सकता है ?

३ अभिमुखीकरण किसे कहते हैं? 'आ' और 'ए' का अभिमुखीकरण करके दिखलाओ।

४ 'ई' और 'ओ' का व्यत्यय क्यों नहीं हो सकता ? स्पष्ट उदाहरण देकर समझाओ।

५ विरुद्धभाव किसे कहते हैं ? प्रत्येक वाक्य का विरुद्धभाव द्वारा अनुमान निकाल कर बतलाओ।

६ 'आ' और 'ई' की सत्यता और मिथ्यापन से हम अन्य वाक्यों के बारे में, विरोध-सम्बन्ध के आधार पर, क्या कह सकते हैं ?

७ सिद्ध कीजिये :—

(१) आत्यन्तिक विरोधी पद एक साथ सत्य नहीं हो सकते।

(२) और विरोधी पद दोनों, किसी की अपेक्षा से मिथ्या हो सकते हैं ?

८ अनन्तरानुमान का स्वरूप लिखकर यह बतलाओ कि सामान्य-परिवर्तन और परिमित परिवर्तन में क्या अन्तर है ?

९ निम्नलिखित वाक्यों से विरुद्धभाव, व्यत्यय और परिवर्तन द्वारा अनुमान निकालिये :—

(क) कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।

(ख) कुछ ही मनुष्य उपस्थित न थे।

(ग) ब्राह्मण ही भोजन के लिये आमन्त्रित है।

(घ) गोविन्द को छोड़कर लॉजिक की कक्षा मे सब होशियार हैं।

(ङ) सब तो पास नहीं हुए।

१ 'आ' और 'ई' वाक्यों को हेतुहेतुमद् वाक्यों में परिवर्तित कीजिये।

११ निर्धारण-संयोगानुमान का लक्षण लिखकर उसके सही और गलत उदाहरण दो। इस प्रकार के अनुमान गलत क्यों होते हैं?

१२ विभाजनानुमान का लक्षण लिखकर उदाहरण दो। इसके दोष भी बतलाओ।

१३ न्यून-निश्चयात्मक वाक्य के मिथ्या होने से अधिक-निश्चयात्मक वाक्य के बारे में तुम क्या कह सकते हो? उदाहरण देकर समझाओ।

१४ सम्बन्ध-रूपान्तर से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? कुछ उदाहरण देकर इस अनुमान की प्रक्रिया को समझाओ।

१५ बतलाओ निम्नलिखित अनुमान सत्य हैं या असत्य?

(क) प्रोफेसर एक मनुष्य है
कुछ प्रोफेसर कुछ मनुष्य हैं।

(ख) केवल बच्चे ऐसा व्यवहार करते हैं।
जो ऐसा व्यवहार करते हैं वे बच्चे हैं।

(ग) धर्म से सुख होता है।
सुख से धर्म होता है।

(घ) ईमानदारी बड़ी अच्छी नीति है।
बेईमानी बड़ी बुरी नीति है।

अध्याय १२

सान्तरानुमान

सिलाजिज्म

अनुमान (Inference) के दो भेद बतलाए गये हैं (१) विशेषानुमान और (२) सामान्यानुमान। विशेषानुमान भी दो प्रकार का है, (१) अनन्तरानुमान और (२) सान्तरानुमान। अनन्तरानुमान का विवेचन गत अध्याय में हो चुका है। अब हम सान्तरानुमान का विवेचन करेंगे।

सान्तरानुमान (Mediate inference) विशेषानुमान का एक प्रकार है जिसमें दो या दो से अधिक दिये हुए वाक्यों से एक साथ मिलाकर निष्कर्ष निकाला जाता है। सान्तरानुमान कई प्रकार के होते हैं। उनमे मुख्य **सिलाजिज्म है**।

सिलाजिज्म (Syllogism) एक सान्तरानुमान का प्रकार है जिसमें दो दिये हुए वाक्यों से मिलाकर निष्कर्ष निकाला जाता है। हिन्दी में यदि हम इसके लिये कोई विशेष शब्द प्रयोग करें तो **अवयव-घटित न्याय** अत्यधिक उपयुक्त होगा। इस हिन्दी शब्द के अधिक लम्बा होने के कारण हमें सिलाजिज्म शब्द का यथावत् प्रयोग करना ही उचित प्रतीत होता है। तथा यह तर्क की अद्भुत प्रक्रिया है जो ग्रीस के लोगों की ही उपज है और अरस्तू इसका जन्मदाता है, अत हमने यही ठीक समझा है कि सिलाजिज्म शब्द का ही प्रयोग किया जाय। यह विशेषानुमान का रूप है अत इसका निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यो मे अधिक व्यापक नहीं हो सकता। यह सान्तरानुमान है क्योंकि

इसमें निष्कर्ष एक वाक्य से न निकाल कर दो वाक्यों से निकाला जाता है। जैसे

> "सब मनुष्य मरणशील हैं
> नागार्जुन मनुष्य है
> नागार्जुन मरणशील है।"

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि यह विशिष्ट प्रक्रिया है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं जो इसको अन्य प्रकार के अनुमानों से पृथक करती हैं:—

(१) सिलाजिज्म में निष्कर्ष दो वाक्यों को एक साथ लेकर निकाला जाता है किसी एक वाक्य से नहीं। निष्कर्ष *सिलाजिज्म में, दोनों वाक्यों का जोड़ नहीं होता; किन्तु दोनों वाक्यों* को एक साथ लेकर उनसे आवश्यक परिणाम के रूप में निकाला जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में जो निष्कर्ष नागार्जुन मरणशील है निकाला गया है वह दोनों वाक्यों को एक साथ लेकर निकाला गया है किसी एक वाक्य से नहीं। इस कारण से हम 'सिलाजिज्म को अनन्तरानुमान तथा अन्य सामान्यानुमान के रूपों से पृथक् कर देते हैं।

(२) सिलाजिज्म में निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक विस्तृत नहीं हो सकता। यह पहले कहा जा चुका है कि सिलाजिज्म एक प्रकार का विशेषानुमान है और किसी भी विशेषानुमान के प्रकार में निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक विस्तृत नहीं हो सकता। उपर्युक्त उदाहरण में निष्कर्ष 'नागार्जुन मरणशील है' यह प्रतिज्ञा वाक्य 'सब मनुष्य मरणशील हैं' इससे कम विस्तृत है क्योंकि प्रतिज्ञा वाक्य तो सर्वजन साधारण है। *यह विशेषता सिलाजिज्म को सामान्यानुमान* (Induction) से पृथक् कराती है क्योंकि सामान्यानुमान में निष्कर्ष सर्वदा प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक विस्तृत होता है

(३) यदि प्रतिज्ञा वाक्य सत्य है तो निष्कर्ष अवश्य सत्य होगा। विशेषानुमान रूपविषयक शास्त्र है। इसमे विषय की चर्चा के लिये स्थान नहीं। यदि रूप सत्य है तो उससे निकाला हुआ निष्कर्ष भी सत्य होगा। हम विशेषानुमान मे प्रतिज्ञा वाक्यों की सत्यता पर कभी प्रश्न नहीं उठाते। उनके सत्य होने पर हमारा निष्कर्ष अवश्य ही सत्य होना चाहिये। विशेषानुमान मे सर्वदा प्रतिज्ञा वाक्यों की सत्यता स्वीकार की जाती है और उनकी सत्यता के आधार पर हम निष्कर्ष निकाल लेते हैं, इसलिये यह कहा जाता है कि निष्कर्ष की सत्यता प्रतिज्ञा वाक्यों की सत्यता पर निर्भर रहती है।

(२) सिलाजिज़्म की रचना

जहाँ तक सिलाजिज़्म की रचना का सम्बन्ध है हमने उपर्युक्त उदाहरण में देखा है कि उसमें तीन वाक्य हैं। अत. यह नियम है कि **सिलाजिज़्म में तीन ही वाक्य होते हैं न अधिक और न न्यून**। इसमें निकाला हुआ वाक्य निष्कर्ष (Conclusion) कहलाता है। तथा जिन दो वाक्यों से निष्कर्ष निकालते हैं उन्हें प्रतिज्ञा वाक्य कहते हैं। अब हम देखेंगे कि प्रत्येक वाक्य में दो पद होते हैं। अत एक सिलाजिज़्म मे छ पद होने चाहिये। किन्तु सम्यक् प्रकार से परीक्षा करने के बाद यह प्रतीत होगा कि सिलाजिज़्म में छः पद नहीं होते अपितु केवल तीन ही पद होते हैं। हाँ, वे तीनों पद दो दो बार प्रयुक्त होते हैं।

ये तीन पद जो सिलाजिज़्म में प्रयुक्त होते हैं उनके अलग-अलग नाम हैं। इन पदों का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमे निष्कर्ष से शुरू करना चाहिये। **निष्कर्ष का विधेय, मुख्य पद** (Major term) **कहलाता है। निष्कर्ष का उद्देश्य अमुख्यपद** (Minor term) **कहलाता है तथा वह पद जो दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में आता है उसे मध्यम पद** (Middle term) **कहते**

हैं। मुख्य पद तथा अमुख्य पद चरम पद (Extremes) भी कहलाते हैं जिससे हम मध्यमपद को उनसे पृथक् कर सकें।

(१) मध्यम पद

मध्यम पद (Middle term) का सिलाजिज्म में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यह दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में आता है और दोनों के बीच में सम्बन्ध सूचक है। निष्कर्ष वाक्य ही दोनों चरम पदों में *सम्बन्ध स्थापित करने की सूचना देता है। अन्यथा* दोनों चरम पद परस्पर अपरचित रहते हैं। दोनों में परिचय या सम्बन्ध स्थापित करना मध्यम पद का काम है। जैसे दो व्यापारी एक दूसरे को सर्वथा नहीं जानते किन्तु दलाल दोनों को एकत्रित कर उनका सौदा करवा देता है। ठीक उसी प्रकार चरम पद अर्थात् मुख्य पद और अमुख्य पद एक दूसरे से सर्वथा असम्बन्धित रहते हैं किन्तु जब मध्यम पद उनके साथ जोड़ दिया जाता है तो यह दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर निष्कर्ष निकलवाने में सहायता करता है। इसका मध्यम पद नाम रखना इसलिये ही सार्थक है। इस प्रकार मुख्य वाक्य में मुख्य पद के साथ मध्यम पद की तुलना की जाती है और अमुख्य वाक्य में अमुख्य पद के साथ मध्यम पद की तुलना की जाता है और अन्ततः निष्कर्ष वाक्य में मुख्य पद और अमुख्य पद के बीच में सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। मध्यम पद यहाँ मध्यवर्ती इसलिये कहा जाता है कि यह दोनों का सम्बन्ध सूचक होता है और इसी के बल पर हम प्रतिज्ञा वाक्यों से निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। मध्यम पद की यह विशेषता है कि यह अपना दलाली का काम कर निष्कर्ष में से सर्वथा अलग हो जाता है अर्थात् इसका निष्कर्ष में दर्शन नहीं होता। इससे यह सिद्ध हो गया कि सिलाजिज्म में हम साक्षात् अर्थात् अनन्तर ही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाते किन्तु मध्यम पद के द्वारा पहुँचते हैं

यदि मध्यम पद इस प्रकार चरम पदों के साथ सम्बन्ध स्थापित न करे तो हमें निष्कर्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

जहाँ तक प्रतिज्ञा वाक्यों के स्वरूप का सम्बन्ध है **जिस प्रतिज्ञा वाक्य में मुख्य पद होता है उसे मुख्य वाक्य** (Major Premise) **कहते हैं और जिसमें अमुख्यपद होता है उसे अमुख्य वाक्य** (Minor Premise) **कहते हैं।** उदाहरणार्थ निम्नलिखित सिलाजिज्म में:—

(१) "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
(२) सब नेता मनुष्य हैं।
(३) सब नेता मरणधर्मा हैं।"

'मरणधर्मा' पद मुख्य पद है क्योंकि यह निष्कर्ष का विधेय है। **'नेता'** पद अमुख्य पद है क्योंकि यह निष्कर्ष का उद्देश्य है। तथा **'मनुष्य'** पद जो मुख्य वाक्य और अमुख्य वाक्य दोनों मे आया है किन्तु निष्कर्ष में नहीं आया है वह मध्यमपद है। प्रथम प्रतिज्ञा-वाक्य मुख्य वाक्य है क्योंकि इसमें मुख्य पद आया है और उसकी तुलना मध्यम पद के साथ की गई है। दूसरा प्रतिज्ञा-वाक्य अमुख्य वाक्य है क्योंकि इसमें अमुख्य पद आया है तथा इसकी मध्यम पद के साथ इसमे तुलना की गई है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि नियत[1] तार्किक[2] सिलाजिज्म के स्वरूप मे 'मुख्य वाक्य' पहले आता है 'अमुख्य वाक्य' दूसरे आता है तथा 'निष्कर्ष' तीसरे आता है। यहाँ हम मुख्य वाक्य का निम्नलिखित रूपों में वर्णन कर सकते हैं:—

(१) मुख्य वाक्य वह है जिसमें मुख्य पद आता है।

(२) मुख्य वाक्य वह है जिसमें मुख्य पद की मध्यम पद के साथ तुलना की जाती है।

---

1. Strict 2 Logical

(३) मुख्य वाक्य वह है जो नियत सिलाजिज्म में सर्व प्रथम रक्खा जाता है।

इस तरह अमुख्य वाक्य का भी हम निम्नलिखित रूपों में वर्णन कर सकते हैं :—

(१) अमुख्य वाक्य वह है जिसमें अमुख्य पद आता है।

(२) अमुख्य वाक्य वह है जिसमें अमुख्य पद की मध्यम पद के साथ तुलना की जाती है।

(३) अमुख्य वाक्य वह है जो नियत सिलाजिज्म में दूसरे स्थान पर आता है।

यहाँ यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि मध्यम पद के लिये हम भविष्य में 'म' प्रयोग करेंगे और अमुख्य पद के लिये 'ल' तथा मुख्य पद के लिये 'बि' का प्रयोग किया जायगा।

(४) सिलाजिज्म के प्रकार

सिलाजिज्म दो प्रकार का है—(१) शुद्ध और (२) मिश्र। शुद्ध सिलाजिज्म में अंशरूप[1] वाक्य उसी प्रकार के सम्बन्ध के होते हैं। यदि सभी वाक्य निरपेक्ष या नियत (Categorical) वाक्य हों तो सिलाजिज्म शुद्ध निरपेक्ष या नियत (Pure Categorical) कहलाता है और यदि सब हेतुहेतुमद् वाक्य हों तो सिलाजिज्म शुद्ध हेतुहेतुमद् (Pure Hypothetical) कहलाता है और यदि सब वैकल्पिक वाक्य हों तो सिलाजिज्म शुद्ध वैकल्पिक (Pure Disjunctive) कहलाता है। मिश्र सिलाजिज्म (Mixed Syllogism) में अंशरूप वाक्य भिन्न भिन्न सम्बन्धों के होते हैं। मिश्र सिलाजिज्म तीन प्रकार के होते हैं —

---

1 Constituent.

(१) हेतुहेतुमद् निरपेक्ष, (२) वैकल्पिक-निरपेक्ष, (३) उभयतः-पाश या उभय-सम्भव।

(१) हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष (Hypothetical categorical) सिलाजिज्म में मुख्य वाक्य हेतुहेतुमद् होता है, अमुख्य वाक्य, निरपेक्ष होता है और निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है।

(२) वैकल्पिक-निरपेक्ष (Disjunctive categorical) सिलाजिज्म में मुख्य वाक्य वैकल्पिक होता है, अमुख्य वाक्य निरपेक्ष होता है और निष्कर्ष निरपेक्ष होता है।

(३) उभय सम्भव (Dilemma) सिलाजिज्म में मुख्य वाक्य मिश्र हेतुहेतुमद् वाक्य होता है, अमुख्य वाक्य वैकल्पिक होता है और निष्कर्ष या तो निरपेक्ष होता है या वैकल्पिक वाक्य होता है।

(५) शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म के सिद्धान्त

सिलाजिज्म के कुछ अटल सिद्धान्त हैं जिनको हम इस प्रकार के तर्क का आधार कह सकते हैं। इसके बिना सिलाजिज्म के द्वारा हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। ये सिलाजिज्म के स्वतः सिद्ध[1] सिद्धान्त कहलाते हैं।

सिद्धान्त (१) दो पद जिनका एक, और उसी एक पद से मेल बैठता है, उनका आपस में भी मेल बैठता है जैसे,

"लोहा सबसे सस्ती धातु है।
लोहा सबसे लाभदायक धातु है।
सबसे सस्ती धातु सबसे लाभदायक धातु है।

इस उदाहरण में 'सबसे सस्ती धातु' और 'सबसे लाभदायक धातु' इन दोनों पदों का 'लोहा' पद के साथ मेल बैठता है अतः इन

1 Self-evident.

दोनों का आपस में भी मेल बैठ जायगा। यहाँ मेल पूर्ण अनुरूपता के साथ है किन्तु यह सर्वत्र सम्भव नहीं है। जैसे

सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
नागार्जुन मनुष्य है।
नागार्जुन मरणधर्मा है।'

इस उदाहरण में 'मरणधर्मा' और 'नागार्जुन' इन दोनों पदों का मनुष्य के साथ आंशिक मेल बैठता है अतः मरणधर्मा और नागार्जुन' इन दोनों का भी मेल बैठ जाता है।

सिद्धान्त (२) दो पद जिनमें से एक और उसी एक पद से एक का मेल बैठता है और दूसरे का नहीं बैठता, उनका आपस में मेल नहीं बैठ सकता। जैसे

कोई मनुष्य अमर नहीं है।
नागार्जुन मनुष्य है।
नागार्जुन अमर नहीं है।"

इस उदाहरण में 'नागार्जुन' पद का 'मनुष्य' पद के साथ मेल बैठता है किन्तु अमर पद का 'मनुष्य' पद के साथ मेल नहीं बैठता इसलिये नागार्जुन' और अमर' इन दो पदों का आपस में मेल नहीं बैठता। वास्तव में विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि ये दोनों सिद्धान्त अरस्तू के सिद्धान्त के उप-सिद्धान्त हैं। अरस्तू ने सिलाजिज्म के लिये अपने सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का इस प्रकार वर्णन किया है :—

(६) अरस्तू का सिद्धान्त

'सब के विषय में वक्तव्य और किसी के विषय में नहीं' (Dictum de omni et nullo) अर्थात् ऐसा कथन करना जो सबके विषय में लागू हो और किसी के विषय में लागू न हो। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है :—

(१) द्रव्यार्थ में ग्रहण किये हुए एक पद के विषय में चाहे विधिरूप से या निषेध रूप से जो कुछ विधान किया गया है वह विधान उसी प्रकार हर एक वस्तु के विषय में, जो उसके अन्तर्गत हैं, किया जा सकता है।

(२) द्रव्यार्थ में ग्रहण किये हुए एक सामान्य के विषय में जो कुछ सत्य है वह उस सामान्य के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के विषय में सत्य हो सकता है तथा जो कुछ एक द्रव्यार्थ में ग्रहण किये हुए सामान्य के विषय में सत्य नहीं है वह उस सामान्य के अन्तर्गत व्यक्तियों के विषय में भी सत्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—यह स्पष्ट है कि जो कुछ मनुष्य जाति के विषय में सत्य है वह उस जाति के अन्तर्भूत प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह नागार्जुन हो, अक्षपाद हो या समन्तभद्र हो, सत्य होगा तथा जो कुछ सब मनुष्यों के विषय में सत्य नहीं है, वह उस जाति के अन्तर्भूत प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कोई क्यों न हो सत्य नहीं हो सकता। यदि मरणधर्म सब मनुष्य जाति के लिये लागू है तो वह नागार्जुन वगैरह के लिये अवश्य लागू होगा। यदि पूर्णत्व सब मनुष्यों में नहीं पाया जाता तो नागार्जुन वगैरह मे पूर्णत्व नहीं पाया जा सकता। इससे मालूम पड़ता है कि यह अरस्तू का सिद्धान्त कितने महत्त्व का है। आगे चलकर यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा कि यह सिद्धान्त केवल प्रथम आकृति (First Figure) न ही सरल विधि से लागू हो सकता है अन्य आकृतियों में सरल विधि से लागू नहीं हो सकता। यही कारण था कि अरस्तू महोदय ने केवल प्रथम आकृति को ही पूर्ण आकृति माना और अन्य आकृतियों को अपूर्ण माना। वास्तव मे अरस्तू ने तो केवल तीन ही आकृतियों को अर्थात् प्रथम, द्वितीय और तृतीय को स्वीकार किया था। चतुर्थ आकृति को तो गेलेन-(Galen) महोदय ने, जो १३०-२०० ई० पू० हुए हैं, पीछे से उनके

माग सम्मिलित कर दिया था। अरस्तू के सिद्धान्तानुसार तो द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ—ये तीनों ही आकृतियाँ अपूर्ण माननी चाहिये। क्योंकि जो सिद्धान्त अरस्तू ने शिवामिग्म के लिये स्थिर किया है वह उनमें से किसी में सरल रीति से नहीं लगता। अतः प्रथम आकृति ही शुद्ध और निर्दोष आकृति माननी चाहिये।

(७) लेम्बर्ट के सिद्धान्त

यह पहले बतलाया जा चुका है कि अरस्तू प्रथम आकृति को ही ठीक समझता था। अन्य आकृतियाँ उसके सिद्धान्त के अनुसार ठीक न थीं। क्योंकि उसका सिद्धान्त पहली आकृति में ही सरल रीति से लागू होता था अन्य में नहीं। किन्तु लेम्बर्ट (Lambert) आदि कुछ तार्किक ऐसे हुए हैं जिनका विचार है कि चारों ही आकृतियाँ मौलिक और ठीक हैं और प्रत्येक का नियामक सिद्धान्त पृथक् पृथक् है। अतः अरस्तू के सिद्धान्त के अतिरिक्त लेम्बर्ट ने द्वितीय तृतीय और चतुर्थ आकृति के नियमन के लिये तीन अन्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं और वे ये हैं—

भेद का सिद्धान्त (Dictum de Diverso)। यदि एक पद किसी तीसरे में अन्तर्भूत है और दूसरा उससे पृथक् कर दिया गया है तो वे दोनों आपस में एक दूसरे से पृथक् कर दिये जायँगे।

'निदर्शन का सिद्धान्त (Dictum de Exemplo)। दो पद जिनमें साधारण अंश पाया जाता है और जिनका आपस में आंशिक रूप से मेल है। अर्थात् यदि एक के अन्दर अंश पाया जाता है और दूसरे के अन्दर नहीं पाया जाता तो वे आंशिक रूप से आपस में एक दूसरे से भेद रखते हैं।

---

1 Part.

परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त (Dictum de Reciproco)। वेल्टन (Welton) महोदय ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है। जिस किसी प्रकार किसी पद के विषय में किसी पद की विधि की गई है या सामान्य रूप से निषेध किया गया है, उसी प्रकार उसका विशेष रूप से भी उसी गुण के साथ किसी वस्तु का विधान किया जा सकता है जिसको विधि उस विधेय के साथ की गई है, तथा जिस किसी प्रकार उसके बारे में सामान्य रूप से किसी विधेय की विधि की गई है उसका उसी प्रकार सामान्य रूप से, जिसका सामान्य रूप से उस विधेय के साथ निषेध किया गया है, निषेध भी किया जा सकता है।

ये तीन नियम प्रथम आकृति को छोड़कर अन्य आकृतियों को प्रमाण कोटि में लाने के उद्देश्य से लेम्बर्ट महोदय ने बनाए हैं। इनके प्रयोग से अवशिष्ट तीन आकृतियों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

(८) निरपेक्ष सिलाजिज्म के साधारण नियम तथा उनके भंग से पैदा होने वाले दोषों का वर्णन

सिलाजिज्म एक प्रकार का सान्तरानुमान है। इसके साधारण नियम निम्नलिखित हैं—

नियम (१) प्रत्येक सिलाजिज्म के तीन और तीन ही पद होने चाहिये।

वास्तव में देखा जाय तो यह सिलाजिज्म का नियम ही नहीं है। इस नियम से तो हम यह निश्चित कर सकते हैं कि अमुक अनुमान सिलाजिज्म है या नहीं। सिलाजिज्म में तीन पद होते हैं (१) मुख्य पद (२) अमुख्य पद और (३) मध्यम पद। इनमें से प्रत्येक पद दो बार आता है। यदि इस नियम का पालन न किया जाय तो चार पद का दोष

(Fallacy of four terms) हो जायगा। तार्किकों ने इसका नाम चतुष्पद दोष रक्खा है। जैसे,

> "सब मनुष्य मरणशील हैं।
> सब हाथी स्थूल जीव हैं।"

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यहाँ हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। क्योंकि चार पद होने से इनमें कोई मध्यम पद की तरह मुख्य पद और अमुख्य पद के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला नहीं है। इससे भी अधिक रोचक उदाहरण यह है:—

> "मेरा हाथ कुर्सी को छूता है
> कुर्सी जमीन को छूती है
> मेरा हाथ जमीन को छूता है।"

यहाँ पर भी चार पद हैं—मेरा हाथ—जो कुर्सी को छूता है—कुर्सी—जो जमीन को छूती है अतः यहाँ कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

इस नियम की मुख्य सार्थकता तो यह है कि यह नियम तीनों पदों के विषय में किसी प्रकार के द्वयर्थक शब्दों के प्रयोग को रोकता है। यदि कोई भी पद दो अर्थ में प्रयोग किया जायगा तो वहाँ संदिग्ध-पद-दोष (Fallacy of Equivocation) हो जायगा। यथार्थ में द्वयर्थक या अनेकार्थक शब्द उतने ही पद हैं जितने अर्थों में उनका प्रयोग किया गया है। प्रत्येक अर्थ एक स्वतन्त्र पद का निर्माण करता है। किन्तु तीनों पद संदिग्धार्थ में प्रयुक्त हो सकते हैं और इस प्रकार से तीन प्रकार के पृथक् पृथक् दोषों को जन्म दे सकते हैं। वे ये हैं:—(१) संदिग्ध मुख्य पद (२) संदिग्ध अमुख्य पद और (३) संदिग्ध मध्यम पद। अब प्रत्येक के उदाहरण दिये जायेंगे।

संदिग्ध मुख्य पद:—

"कोई धैर्यवान पशु भागता नहीं है।
घोडा धैर्यवान पशु है।
∴ घोडा भागता नहीं है।"

इस उदाहरण में सदिग्ध मुख्य पद (Ambiguous Major) दोष है क्योंकि 'भागता है' पद दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। मुख्य वाक्य मे 'भागता है' का अर्थ है डर से भागना। किन्तु निष्कर्ष मे 'भागना' का अर्थ है सामान्य भागना जैसे 'घोड़े भागा करते हैं।' यह दोष मुख्य पद के सदिग्धार्थ से उत्पन्न होता है।

संदिग्ध अमुख्य पद:—

"कोई मनुष्य उडनेवाला नहीं है।
सब द्विज मनुष्य हैं।
कोई द्विज उडनेवाला नहीं है।"

इस उदाहरण में सदिग्ध अमुख्य पद (Ambiguous Minor) का दोप है क्योंकि द्विज पद, दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। अमुख्य वाक्य में द्विज शब्द का अर्थ है 'ब्राह्मण' तथा निष्कर्ष में द्विज शब्द का अर्थ 'पक्षी' है। यहाँ यह दोप अमुख्य पद को सदिग्धार्थ में प्रयोग करने से हुआ है।

संदिग्ध मध्यम पद:—

"सब आचार्य पडित होते है।
यह ब्राह्मण आचार्य हैं।
∴ यह ब्राह्मण पडित है।"

इस उदाहरण मे सदिग्ध मध्यमपद (Ambiguous Middle) का दोप है क्योंकि मध्यम पद आचार्य, दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। मुख्य वाक्य मे तो आचार्य का अर्थ है 'आचार्य, परीक्षा पास' तथा अमुख्य वाक्य में आचार्य का अर्थ है केवल 'कर्म करानेवाला'।

अतः यहाँ मध्यम पद को संदिग्धार्थ में प्रयोग करने से यह उदाहरण दोषयुक्त कहा जाता है।

नियम (२) प्रत्येक सिलाजिज्म में तीन और तीन ही वाक्य होने चाहिये।

यह नियम भी सिलाजिज्म का नहीं है। किन्तु यह निश्चित करता है कि सिलाजिज्म के लिये तीन ही वाक्यों की आवश्यकता है। यदि कम होंगे तो वह अनन्तरानुमान होगा या वाक्य मात्र होगा। यदि अधिक होंगे तो वह अनुमान-माला होगी। अतः यह आवश्यक है कि सिलाजिज्म में तीन ही वाक्य होने चाहिये न कम न अधिक।

नियम (३) मध्यम पद कम से कम वाक्यों में एक बार अवश्य द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये।

यह पहले दर्शाया जा चुका है कि मुख्य पद और अमुख्य पद के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये मध्यम पद की आवश्यकता है। किन्तु यह सम्बन्ध तबतक स्थापित नहीं हो सकता जब तक मध्यम पद कम-से-कम एक बार द्रव्यार्थ में ग्रहण न किया जाय। अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार भी दोनों चरम पद जब तक मध्यम पद के साथ सम्बन्धित न हो जाँय तबतक उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वास्तव में मध्यम पद दोनों का संयोजक है। यदि मध्यम पद के एक भाग की मुख्य पद के साथ तुलना की जाय और उससे सर्वथा भिन्न भाग को अमुख्य पद के साथ तुलना की जाय तो कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जैसे

"सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब हाथी मरणधर्मा हैं।"

इन दो वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इस नियम के पालने से अद्रव्यार्थी मध्यम पद दोष होता। जैसे

(१) "सब धार्मिक मनुष्य प्रसन्नचित होते हैं।
सब धनिक प्रसन्नचित्त होते हैं।
∴ सब धनिक धार्मिक मनुष्य होते हैं।"

(२) "सब ग्रह गोल है।
चक्र गोल है।
चक्र ग्रह है।"

(३) "सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब जानवर मरणधर्मा हैं।
सब जानवर मनुष्य हैं।"

ये तीनों तर्क अद्रव्यार्थी मध्यमपद के दोप से युक्त हैं क्योंकि नियम के अनुसार मध्यमपद कम से कम एक वार अवश्य द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये, और इन तीनों अनुमानों में यह स्पष्ट है कि मध्यम पद दोनों वाक्यों में विधेय होने से द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है। सामान्य-वाक्य केवल उद्देश्य को द्रव्यार्थ में लेते हैं,' विधेय को नहीं।

नियम ४—कोई भी पद निष्कर्प में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता जब तक कि वह प्रतिज्ञा वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण न किया गया हो।

सिलाजिज्म विशेषानुमान का प्रकार है अत. इसमें निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्यों से अधिक सामान्य नहीं हो सकता। इसलिये जो पद अपने पूर्ण द्रव्यार्थ में वाक्य में ग्रहण नहीं किया गया है वह निष्कर्ष में पूर्ण द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। **इस नियम** के भग करने से **अनियमित मुख्यपद** (Illicit Major) **तथा अनियमित अमुख्यपद** (Illicit Major) ये दो दोष उत्पन्न होते है।

अनियमित मुख्यपद के उदाहरण—

(१) "सब हाथी चतुष्पद हैं।
कोई कुत्ते हाथी नहीं हैं।
कोई कुत्ते चतुष्पद नहीं हैं।"

(२) "सब हिन्दू आर्य हैं।
कोई अँगरेज हिन्दू नहीं है।
कोई अँगरेज आर्य नहीं हैं।"

(३) "जो कुछ सोचता है वह सचावान् है।
वह सोचता नहीं है।
वह सचावान नहीं है।"

इन सब अनुमानों की परीक्षा करने पर हम देखेंगे कि इनमें मुख्य-पद निष्कर्ष में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है किन्तु मुख्य-वाक्य में वह व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः ये उदाहरण अनियमित मुख्य पद (Illicit Major) के दोष से युक्त हैं।

अनियमित अमुख्यपद के उदाहरण:—

(१) "कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
सब मनुष्य जानदार हैं।
सब जानदार पूर्ण नहीं हैं।"

(२) "सब मनुष्य मरणशील हैं।
सब मनुष्य समझदार हैं।
सब समझदार जीव मरणशील हैं।"

(३) "सब जड़ पदार्थों में वज़न होता है।
सब जड़ पदार्थ विस्तारवाले होते हैं।
सब विस्तारवाले पदार्थों में वज़न होता है।"

नियम ५—दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

किसी निषेधात्मक वाक्य की पर्यालोचना करने से प्रतीत होगा कि निषेधात्मक वाक्य में विधेय का उद्देश्यके साथ निषेध किया जाता है। यदि दोनों ही प्रतिज्ञा-वाक्य निषेधात्मक हों तो इसका अर्थ यह हुआ कि मध्यम-पद का मुख्यपद और अमुख्यपद से कोई सम्बन्ध हीनहीं है। यदि मध्यमपद दोनों से ही सम्बन्धित नहीं है तो इससे यही सिद्ध हुआ कि दोनों पदों अर्थात् मुख्यपद और अमुख्यपद के बीच में कोई साधारण सम्बन्ध नहीं है। निष्कर्ष तभी सम्भव हो सकता है जब कम-से-कम एक चरम पद मध्यमपद के साथ सम्बन्धित हो और उस सम्बन्ध के आधार पर हम चरम पद के साथ चाहे मेल में, चाहे भेद में, किसी परिणाम पर पहुँच सकें। अन्यथा कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

निम्नलिखित दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

"कोई मनुष्य चतुष्पद नहीं है।
कोई चतुष्पद समझदार नहीं है।
(कोई निष्कर्ष नहीं)"

"कोई भी भारतीय स्त्री के अपमान को सहन नहीं कर सकता।
रामकृष्ण स्त्री के अपमान को सहन नहीं कर सकता।
रामकृष्ण भारतीय है। (ग़लत निष्कर्ष)"

नियम ६—यदि एक वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होना चाहिये। तथा निषेधात्मक निष्कर्ष के लिये एक वाक्य अवश्य निषेधात्मक होना चाहिये।

नियम ५ हमें यह बतला चुका है कि दोनों प्रतिज्ञा-वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते। कम से कम एक वाक्य अवश्य विध्यात्मक होना चाहिये जिससे निष्कर्ष निकाला जा सके। नियम ६ यह कहता है कि यदि एक वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक वाक्य यही द्योतित करता है कि मध्यमपद के साथ

एक चरम पद का कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा दूसरा वाक्य जो विध्यात्मक है उसमें मध्यम पद का अन्य चरम पद के साथ सम्बन्ध है। इससे यही ध्वनित होता है कि दोनों चरम पदों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे,

> "कोई पूर्ण मनुष्य मरणधर्मा नहीं है।
> सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
> कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।"

इस उदाहरण में दो प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक है।

इस नियम का विपरीत नियम भी सत्य है। निषेधात्मक निष्कर्ष के लिये कम से कम एक प्रतिज्ञा वाक्य अवश्य निषेधात्मक होना चाहिये। यदि निष्कर्ष निषेधात्मक है तो इसका अर्थ है कि चरम पदों[1] में कोई सम्बन्ध नहीं। यह तभी हो सकता है जब हम कम से कम एक प्रतिज्ञा-वाक्य को निषेधात्मक रक्खें जिससे यह प्रतीत हो जाय कि मध्यम पद का चरम पदों में से एक के साथ सम्बन्ध नहीं है, और एक विध्यात्मक वाक्य हो जो यह बतलाये कि मध्यम पद का चरम पदों में से एक के साथ कुछ सम्बन्ध है। इसलिये निषेधात्मक निष्कर्ष के लिये कम से कम एक वाक्य का निषेधात्मक होना आवश्यक है। उपर्युक्त उदाहरण में निष्कर्ष निषेधात्मक है; इसलिये प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक वाक्य भी निषेधात्मक है।

नियम ७—यदि दोनों प्रतिज्ञा वाक्य विध्यात्मक हों तो निष्कर्ष भी नियम से विध्यात्मक ही होगा। तथा विध्यात्मक निष्कर्ष के लिये यह आवश्यक है कि दोनों ही प्रतिज्ञा वाक्य विध्यात्मक हों।

---

1 Extremes.

यदि दोनों ही वाक्य विध्यात्मक हों तो इसका अर्थ यह है कि मध्यम-पद का दोनों ही चरम पदों के साथ सम्बन्ध है। इससे हम यही अनुमान कर सकते हैं कि दोनों चरम पदों में आपस में सम्बन्ध है। जैसे,

"सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब राजा मनुष्य हैं।
सब राजा मरणधर्मा हैं।"

इस उदाहरण में दोनों ही प्रतिज्ञा-वाक्य विध्यात्मक हैं, अतः निष्कर्ष भी विध्यात्मक है।

इस नियम का विपरीत नियम भी सत्य होता है। अर्थात् यदि हम निष्कर्ष विध्यात्मक चाहते हैं तो उसके लिये प्रतिज्ञा वाक्यों का विध्यात्मक होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि दोनों प्रतिज्ञा वाक्य विध्यात्मक न हों तो या तो दोनों ही निषेधात्मक होंगे या उनमें से एक निषेधात्मक होगा। यदि दोनों निषेधात्मक हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता (नि० ५)। **यदि एक वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष नियम से निषेधात्मक होगा** (नि० ६)। इसलिए विध्यात्मक निष्कर्ष के लिये दोनों प्रतिज्ञा-वाक्य विध्यात्मक ही होने चाहिये। उपर्युक्त उदाहरण में निष्कर्ष विध्यात्मक है। इसलिये दोनों प्रतिज्ञा-वाक्य भी विध्यात्मक ही हैं। विध्यात्मक दोनों वाक्यों से ही विध्यात्मक निष्कर्ष निकल सकता है।

नियम (८)—यदि दोनों प्रतिज्ञा वाक्य विशेष हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

इस नियम की सिद्धि इस प्रकार की जा सकती है। मान लिया जाय दोनों वाक्य विशेष हैं तो उनके सम्भवनीय संयोग निम्नलिखित हो सकते हैं—'ई ई', 'ई ओ', 'ओ ई', 'ओ ओ' इनमें से

प्रत्येक संयोग पर विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि इन संयोगों से कोई निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता है।

'ई ई'—इस संयोग से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि 'ई' वाक्य में न तो उद्देश्य और न विधेय, व्याप्यार्थ में ग्रहण किये जाते हैं। यदि दोनों ही प्रतिज्ञा वाक्य 'ई' वाक्य हों तो मध्यम पद किसी में भी व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जायगा। नियम १ के अनुसार मध्यम-पद कम से कम एक बार अवश्य व्याप्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि दोनों ही वाक्य 'ई' वाक्य हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता है।

'ई ओ'—यह संयोग भी निष्कर्ष निकालने के लिये निरर्थक है क्योंकि यदि एक वाक्य 'ई' हो और दूसरा 'ओ' तो इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों वाक्यों में एक पद ही व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है। नियम १ के अनुसार मध्यम पद एक बार अवश्य व्याप्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। व्याप्यार्थ में ग्रहण किया हुआ यह मध्यम पद ही हो सकता है। जब एक वाक्य निषेधात्मक है तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। इसलिये निष्कर्ष में विधेय पद व्याप्यार्थ में ग्रहण किया जायगा और वह प्रतिज्ञा-वाक्य में नहीं किया गया है। इसलिये अनियमित मुख्य-पद का दोष होगा। और यदि वह प्रतिज्ञा वाक्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है तो अव्याप्यार्थी मध्यम-पद[1] का दोष होगा।

'ओ ई'—जो तर्क 'ई ओ' के विषय में दिये हैं वही तर्क इस संयोग में भी लगाए जा सकते हैं। यहाँ पर भी अनियमित मुख्य-पद या अव्याप्यार्थी मध्यम-पद का दोष होगा।

'ओ ओ'—इस संयोग से स्पष्ट है कि कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। क्योंकि नियम ५ के अनुसार गदो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

---

1 Undistributed Middle.

इससे यह सिद्ध हुआ कि दो विशेष वाक्यों से निष्कर्ष निकालना असम्भव है।

नियम ६—यदि एक वाक्य विशेष हो तो निष्कर्ष भी विशेष होगा।

इस नियम की सिद्धि की परीक्षा इस प्रकार करनी चाहिये। यदि एक वाक्य विशेष है तो दूसरा वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। तब सम्भवनीय सयोग निम्नलिखित होंगे। 'आ ई' 'ई आ' 'आ ओ' 'ओ आ' 'ए ई' 'ई ए' 'ए ओ' 'ओ ए'। इन आठ संयोगों में से 'ए ओ' और 'ओ ए' तो दृष्टिपात करने से ही अलग किये जा सकते है क्योंकि दोनों वाक्य निषेधात्मक हैं (नियम ५)। अवशिष्ट ६ योगों का विचार करना चाहिये।

'आ ई' और 'ई आ'—यदि एक वाक्य 'आ' हो और दूसरा वाक्य 'ई' हो तो इससे यही अर्थ निकला कि केवल एक पद ही द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है और वह मध्यम-पद होना चाहिये। यदि निष्कर्ष सामान्य होता है तो एक या अधिक पद के द्रव्यार्थ में ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ेगी। तथा इससे कई दोषों के होने की सम्भावना है, अतः इसमें निष्कर्ष विशेष ही होना चाहिये।

'आ ओ' और 'ओ आ'—यदि एक वाक्य 'आ' हो और दूसरा वाक्य 'ओ' हो तो इसका अर्थ यह है कि दोनों वाक्यों में केवल दो पद ही द्रव्यार्थ में लिये गये हैं। इन दोनों पदों में से एक मध्यम-पद होना चाहिये। यहाँ निष्कर्ष में, द्रव्यार्थ में ग्रहण करने के लिये, एक पद ही बचा। क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से केवल इसका विधेय ही द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा सकता है। यह दिखलाया जा चुका है कि एक ही पद द्रव्यार्थ में लेने के लिये बचा है

और वह मुख्य पद हो सकता है। अतः अमुख्य पद के प्रध्यार्थ में न ग्रहण करने से यह निश्चित है कि निष्कर्ष विशेष ही होगा।

'प ई' 'ई ए'—इन दो वाक्यों में केवल दो पद ही प्रध्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं। इनमें एक तो मध्यम-पद होना चाहिये तथा दूसरा मुख्य-पद होना चाहिये। क्योंकि निष्कर्ष को निषेधात्मक होना है, इसलिये निष्कर्ष में उद्देश्य प्रध्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् निष्कर्ष कोई हो सकता है तो वह 'ओ' होगा और वह विशेष वाक्य है। जहाँ तक 'ई ए' का सम्बन्ध है हम इसका नियम १० में विचार करेंगे क्योंकि इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

इस नियम से यह भी स्पष्ट है यदि निष्कर्ष सामान्य हो तो दोनों प्रतिज्ञा-वाक्यों का सामान्य होना आवश्यक है क्योंकि यदि एक भी वाक्य विशेष होगा तो निष्कर्ष अवश्य ही विशेष होगा। अतः सामान्य निष्कर्ष के लिये प्रतिज्ञा-वाक्यों का सामान्य होना अत्यावश्यक है।

इस नियम का विपरीत नियम सत्य नहीं है—अर्थात् यदि निष्कर्ष विशेष हो तो यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिज्ञा-वाक्यों में से एक वाक्य नियम से विशेष होना चाहिये। यह हो सकता है कि दोनों वाक्य सामान्य हों और निष्कर्ष विशेष हो।

नियम १०—विशेष मुख्य-वाक्य से तथा निषेधात्मक अमुख्य वाक्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

यदि अमुख्य-वाक्य निषेधात्मक हो तो मुख्य-वाक्य अवश्य विध्यात्मक होना चाहिये और निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये जब निष्कर्ष निषेधात्मक है तो इसका अर्थ है कि मुख्य-पद प्रध्यार्थ में ग्रहण किया गया है। चूँकि मुख्य-वाक्य विधिवाचक विशेष वाक्य है अतः उसमें कोई पद प्रध्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिये यदि हम उसमें निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेंगे तो निश्चय से अनियमित

मुख्यपद का दोष होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि 'ई ए' से हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

परीक्षा करने पर यह प्रतीत होगा कि अन्तिम चार नियम प्रथम छः नियमों से निकले हुए उपनियम (Corollaries) हैं। इन चार नियमों का उल्लंघन करने से अन्य नियम भी उल्लंघित हो जाते हैं। अतः तार्किक लोग प्रथम छः नियमों को प्रधान नियम मानते हैं तथा अन्य चार नियमों को अप्रधान नियम मानते हैं।

संक्षेप में सब नियमों के बारे में यह कहा जा सकता है कि प्रथम २ नियम तो सिलाजिज्म की बनावट से सम्बन्ध रखते हैं। तीसरा और चौथा नियम पदों को द्रव्यार्थ मे ग्रहण करने से सम्बन्ध रखते हैं। पाँचवाँ, छठा और सातवाँ नियम अंगीभूत वाक्यों के गुण से सम्बन्ध रखते हैं। आठवाँ और नवाँ नियम अंगीभूत वाक्यों के परिमाण से सम्बन्ध रखते हैं। अन्तिम दसवाँ नियम अंगीभूत वाक्यों के गुण और परिमाण दोनों से सम्बन्ध रखता है।

(६) सिलाजिज्म की आकृति

आकृति (Figure) सिलाजिज्म का वह रूप है जिसका निर्णय, वाक्यों में चरम पदों के साथ मध्यमपद के सम्बन्ध द्वारा, उसके स्थान से किया जाता है।

यह हम जान चुके हैं कि मध्यम-पद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में आता है किन्तु इसका स्थान सब सिलाजिज्मों में एक-सा नहीं होता। उक्त दो प्रतिज्ञा वाक्यों में मध्यम-पद के स्थान की दृष्टि से चार योग बन सकते हैं। अतः तार्किकों ने सिलाजिज्म की चार आकृतियाँ स्वीकार की हैं।

प्रथम आकृति (First figure)—

(१) प्रथम आकृति में मध्यम-पद मुख्य-वाक्य में उद्देश्य होता है तथा अमुख्य-वाक्य में विधेय होता है। जैसे

म वि

उ म

उ वि
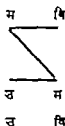
(२) द्वितीय आकृति (Second figure)—

द्वितीय आकृति में मध्यम पद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में विधेय के रूप में आता है। जैसे

वि म

उ म

उ वि
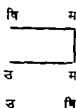
(३) तृतीय आकृति (Third figure)—

तीसरी आकृति में मध्यम पद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में उद्देश्य के स्थान में आता है। जैसे

म वि

म उ

उ वि
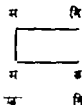
(४) चतुर्थ आकृति (Fourth figure)—

चौथी आकृति में मध्यम-पद मुख्य वाक्य में विधेय रहता है और अमुख्य-वाक्य में उद्देश्य रहता है। जैसे

उ वि
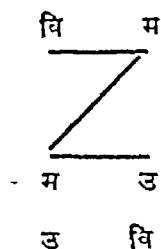
(१०) सिलाजिज्म की अवस्था

अवस्था (Mood) के भाषा में अनेक अर्थ हैं किन्तु तर्क-शास्त्र में इसका, विशेष अर्थ में, प्रयोग किया गया है। अवस्था सिलाजिज्म का वह रूप है जिसका निर्णय, वाक्यों के अङ्गीभूत गुण और परिमाण के द्वारा किया जाता है। यह हम जानते हैं कि वाक्य ४ प्रकार के ही हैं और सिलाजिज्म मे केवल दो ही प्रतिज्ञा-वाक्य होते हैं। इसीलिये गणित की प्रक्रिया के अनुसार सम्भवनीय केवल १६ अवस्थाएँ पहली आकृति में हो सकती हैं। तथा क्योंकि आकृतियाँ ४ हैं इसलिये १६ × ४ = ६४ सम्भवनीय अवस्थाएँ हो सकती हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

१ आ आ	५ ए आ	६ ई आ	१३ ओ आ
२ आ ए	६ ए ए	१० ई ए	१४ ओ ए
३ आ ई	७ ए ई	११ ई ई	१५ ओ ई
४ आ ओ	८ ए ओ	१२ ई ओ	१६ ओ ओ

१६ × ४ = ६४

इस प्रकार यदि वाक्यों के गुण और परिमाण का विचार किया जाय और निश्चय का ध्यान न दिया जाय तो प्रत्येक आकृति में १६ तथा चारों आकृतियों में ६४ अवस्थाएँ हो सकती हैं। जो तार्किक लोग अवस्था का विशद अर्थ ग्रहण करते हैं वे केवल दो वाक्यों के गुण और परिमाण का ही विचार नहीं करते किन्तु उनके साथ-साथ निश्चय का भी विचार करते हैं। उनके अनुसार ६४ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था की ४ अवस्थाएँ और हो सकती हैं। इस प्रकार ६४×४=२५६ अवस्थाएँ होंगी।

इनके अतिरिक्त कुछ तार्किक ऐसे हैं जो कहते हैं कि हम केवल सत्य अवस्थाओं को जानने के लिये तय्यार हैं और असत्य अवस्थाओं को हम अवस्थाओं के नाम से पुकारने के लिये तय्यार ही नहीं हैं। अभी हम निर्णय करेंगे कि कौन-सी सत्य अवस्थाएँ हैं और कौन-सी मिथ्या। इस प्रकार निर्णय करने पर केवल १६ अवस्थाएँ सत्य सिद्ध होती हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

आ आ, ए आ, आ ई—प्र आकृति।

ए आ आ ए, ए ई आ ओ—द्वि आकृति।

आ आ, ई आ, आ ई ए आ ओ आ, ए ई—तृ आकृति।

आ आ आ ए, ई आ, ए आ ए ई—च आकृति।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपयुक्त १६ सत्य अवस्थाओं में से ए आ और ए ई साधारण अवस्थाएँ हैं जो सब आकृतियों में पाई जाती हैं और सत्य निश्चय पैदा करती हैं। यदि हम तीनों वाक्य का विचार करें तो २४ सत्य अवस्थाएँ होंगी। वे निम्नलिखित हैं :—

आ आ आ आ आ इ, ए आ ए ए आ ओ, आ ई ई ए ई ओ—प्र आकृति।

ए आ ए, ए आ ओ आ ए ए, आ ए ओ, ए ई ओ, आ ओ ओ—द्वि आकृति।

आ आ ई, ई आ ई, आ ई ई, ए आ ओ, ओ आ ओ, ए ई ओ—तृ० आकृति।

आ आ ई, आ ए ए, आ ए ओ, ई आ ई, ए आ ओ, ए ई ओ—च० आकृति।

यहाँ पर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि ए आ ओ और ए ई ओ सब आकृतियों में सत्य अवस्थाएँ हैं।

(११) सत्य अवस्थाओं का निर्णय

यह हम बतला चुके है कि अवस्था से हमारा अभिप्राय सिलाजिज्म के उस रूप से है जिसका निर्णय वाक्यों के गुण और परिमाण से किया जाता है। प्रत्येक आकृति में १६ अवस्थाएँ होती हैं। वे निम्नलिखित हैं —

आ आ	ए आ	ई आ	ओ आ
आ ए	ए ए	ई ए	ओ ए
आ ई	ए ई	ई ई	ओ ई
आ ओ	ए ओ	ई ओ	ओ ओ

इन पर दृष्टपात करने से तथा सिलाजिज्म के १० नियमों का ध्यान रखने से हमें प्रतीत होगा कि ए ए, ए ओ, ओ ए और ओ ओ योगों से किसी आकृति में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि इनमें दोनों वाक्य निषेधात्मक हैं (नि० ५)। तथा ई ई, ई ओ और ओ ई से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता क्योंकि दोनों वाक्य विशेष हैं (नि० ८)। इसी प्रकार ई ए से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि (नियम १०) के अनुसार विशेष मुख्य वाक्य तथा निषेधात्मक अमुख्य वाक्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इस प्रकार सम्भवनीय १६ अवस्थाओं में से ८ तो किसी आकृति में कोई निष्कर्ष नहीं निकालतीं। अब हमें यह देखना है कि अवशिष्ट

आठ—आ आ, आ ए, आ ई, आ ओ, ए आ ए ई, ई आ और ओ आ में से किस आकृति में कौन सत्य होती हैं और कौन मिथ्या। सर्व प्रथम पहली आकृति की सत्य अवस्थाओं पर विचार करेंगे।

(१२) प्रथम आकृति की सत्य अवस्थायें और नियम

यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रथम आकृति में मध्यम पद मुख्य-वाक्य में उद्देश्य होता है तथा अमुख्य-वाक्य में विधेय होता है।

१ आ आ सब 'म' 'वि' हैं। आ सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
सब 'उ' 'म' हैं। आ सब नेता मनुष्य हैं।
सब 'उ' 'वि' हैं। आ सब नेता मरणधर्मा हैं।

इस उदाहरण में दोनों वाक्य विध्यात्मक हैं इसलिये निष्कर्ष भी विध्यात्मक ही होना चाहिये। मध्यम-पद मुख्य वाक्य में व्याप्त्यर्थ में ग्रहण किया गया है निष्कर्ष 'आ' निकालने से हम कोई सिलाजिज्म के नियम का भंग नहीं करते क्योंकि अमुख्य-पद, जो निष्कर्ष में व्याप्त्यर्थ में ग्रहण किया गया है वह अमुख्य-वाक्य में भी व्याप्त्यर्थ में ग्रहण किया गया है। अतः आ आ से 'आ' निष्कर्ष प्रथम आकृति में निकलता है और यह अवस्था बार्बरा (Barbara) कहलाती है।

२ आ ए सब 'म' 'वि' हैं। 'आ'
कोई 'उ' म नहीं है। 'ए'
(कोई निष्कर्ष नहीं)। ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। क्योंकि दोनों में से एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। जब निषेधात्मक निष्कर्ष होगा तब उसका विधेय व्याप्त्यर्थ में ग्रहण किया जायगा जो कि मुख्य वाक्य में व्याप्त्यर्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः अनियमित मुख्य-पद का दोष होगा। इसलिये 'आ ए' प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं हो सकती।

३ आ ई सब 'म' 'वि' हैं। आ सब मनुष्य समझदार हैं।
कुछ 'उ' 'म' हैं। ई कुछ जानवर मनुष्य हैं।
. कुछ 'उ' 'वि' हैं। ई कुछ जानवर समझदार हैं।

इस उदाहरण में दोनों वाक्य विध्यात्मक हैं और एक वाक्य विशेष है अतः निष्कर्ष विशेष ही होना चाहिये अर्थात् 'ई' होना चाहिये। मध्यम पद मुख्य-वाक्य में द्रव्यार्थ मे ग्रहण किया गया है। निष्कर्ष मे कोई पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'आ ई' से प्रथम आकृति में 'ई' सत्य निष्कर्ष मिलता है और यह सत्य अवस्था दारीई (Darıı) कहलाती है।

४. आ ओ सब 'म' 'वि' हैं। आ
कुछ 'उ' 'म' नहीं। ओ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक ही होगा। जब निष्कर्ष निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष का विधेय द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जायगा। किन्तु निष्कर्ष का विधेय अर्थात् मुख्य पद मुख्य-वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है अतः 'आ ओ' प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं हो सकती।

५ ए आ कोई 'म' 'वि' नहीं हैं। ए कोई जानदार अमर नहीं है।
सब 'उ' 'म' हैं। आ सब मनुष्य जानदार है।
. कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ए कोई मनुष्य अमर नहीं है।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। यदि निष्कर्ष 'ए' निकालते हैं तो किसी सिलाजिज्म के नियम का भग नहीं होता। मध्यम-पद मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है तथा निष्कर्ष में जो मुख्य पद और

मनुष्य-पद प्रव्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं वे अपने अपने प्रतिज्ञा वाक्यों में प्रव्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार 'ए आ' से प्रथम आकृति में 'ए' रूप निष्कर्ष निकाला गया है। इसको केलारेन्ट (Celarent) अवस्था कहते हैं।

ऐ ए ई कोई म' 'वि' नहीं है। ए कोई चतुष्पद मनुष्य नहीं है।
कुछ 'उ' 'म' हैं। ई कुछ जानवर चतुष्पद हैं।
कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ओ कुछ जानवर मनुष्य नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये और एक विशेष-वाक्य है अतः निष्कर्ष विशेष होना चाहिये। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म के किसी नियम का भंग नहीं होता। मध्यमपद तो मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है और मुख्य-पद जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है वह मुख्य वाक्य में भी द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। अतः ए ई से 'ओ' निष्कर्ष प्रथम आकृति में सही निकाला गया है और इसे फेरीओ अवस्था (Ferio) कहते हैं।

ओ ई आ कुछ 'म' 'वि' हैं।
सब 'उ' 'म' हैं।
(निष्कर्ष नहीं)

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि मध्यम-पद किसी भी वाक्य में एक बार भी द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'ई आ' से हम कोई निष्कर्ष प्रथम आकृति में नहीं निकाल सकते।

ओ आ कुछ म' 'वि' नहीं हैं। ओ
सब 'उ' म' हैं। आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में भी कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि मध्यम पद किसी भी वाक्य में एक बार भी द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है। इस प्रकार 'ओ आ' से प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं बन सकती।

इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम आकृति में केवल चार योग ही सत्य निष्कर्ष पैदा कर सकते है और वे निम्नलिखित है :—

१ आ आ आ बारबारा (Barbara)

२ ए आ ए केलारेण्ट (Celarent)

३ आ ई ई दारीई (Darii)

४ ए ई ओ फेरीओ (Ferio)

उपर्युक्त सत्य अवस्थाओं को सिद्धियों से निम्नलिखित नियम प्रथम आकृति के होते हैं जिन्हें ध्यानपूर्वक समझना चाहिये :—

(१) मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिए।

(२) अमुख्य वाक्य अवश्य विध्यात्मक होना चाहिये।

(१) मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। यदि मुख्य वाक्य सामान्य न हो तो यह विशेष होगा। प्रथम आकृति में मुख्य वाक्य में मध्यम-पद उद्देश्य है। यदि वह विशेष हो तो मध्यम-पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जायगा। नियम ३ के अनुसार मध्यम पद कम से कम एक बार अवश्य द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। यदि यह मुख्यपद में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है तो अमुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। प्रथम आकृति मे मध्यम पद अमुख्य वाक्य में विधेय होता है और उसे यहाँ अवश्य ही द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। यह तब हो सकता है जब अमुख्य वाक्य निषेधात्मक हो क्योंकि केवल निषेधात्मक वाक्य ही अपने विधेय को द्रव्यार्थ में ग्रहण करते हैं। यदि अमुख्य वाक्य निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष अवश्य ही निषेधात्मक होना चाहिये। अतः मुख्य वाक्य

अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये। यह हम पहले मान चुके हैं कि मुख्य वाक्य विशेष है और हमें अब यह प्रतीत होता है कि वह विध्यात्मक होना चाहिये। मुख्य वाक्य यदि विशेष विध्यात्मक वाक्य होता है तो वह मुख्यपद को प्रत्यार्थ में ग्रहण नहीं करता जो निषेधात्मक निष्कर्ष में प्रत्याय में ग्रहण किया गया है। यदि हम यह मान लें कि मुख्य वाक्य विशेष है तो *अनियमित मुख्य-वाक्य का* दोष हो जायगा। अतः मुख्य वाक्य विशेष नहीं हो सकता। वह सामान्य ही होना चाहिये।

(२) अमुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये।

यदि अमुख्य वाक्य विध्यात्मक न होगा तो वह निषेधात्मक होगा। यदि अमुख्य वाक्य नियमात्मक होगा तो निष्कर्ष अवश्य ही निषेधात्मक होगा और मुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये। प्रथम आकृति में मुख्य पद मुख्य वाक्य में विधेय है जो विधिवाचक होने के कारण वहाँ प्रत्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु निष्कर्ष निषेधात्मक होने के कारण मुख्य-पद वहाँ प्रत्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यह मानने पर कि अमुख्य वाक्य निषेधात्मक है तो अनियमित-मुख्य-पद का दोष हो जायगा। अतः अमुख्य वाक्य आवश्यक ही विध्यात्मक होना चाहिये।

यह हम पहले बतला चुके हैं कि अरस्तू ने प्रथम आकृति को ही ठीक और सही आकृति माना। इसकी कुछ विशेषतायें हैं। उन्हें बतलाते हैं:—

(१) अरस्तू का सिद्धान्त— 'सबके लिये और किसीके लिये नहीं" इस आकृति में ही बड़ी आसानी से लागू होता है।

(२) प्रथम आकृति में ही केवल 'आ' वाक्य का निष्कर्ष निकलता है अन्य में नहीं।

(३) प्रथम आकृति में ही चारों प्रकार के वाक्य अर्थात् आ ए ई ओ सिद्ध होते हैं।

(४) प्रथम आकृति में न तो मुख्यपद और न अमुख्यपद अपने स्थान परिवर्तन की हानि उठाता है क्योंकि अमुख्यपद तो उद्देश्य है और मुख्यपद विधेय है—वाक्य में भी और निष्कर्ष में भी ।

ये विशेषताएँ हैं जिनके कारण अरस्तू ने इसको ही सत्य और सबसे उत्तम आकृति माना है ।

(१३) द्वितीय आकृति की सत्य अवस्थाएँ और नियम

द्वितीय आकृति में मध्यम पद दोनों वाक्यों में विधेय होता है । अब हम द्वितीय आकृति में ८ अवस्थाओं के सत्यासत्य का निर्णय करेंगे ।

(१) आ आ—सब 'वि' 'म' हैं । आ
सब 'उ' 'म' हैं । आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं है । क्योंकि मध्यम पद इसमें द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है । अत 'आ आ' से द्वितीय आकृति में कोई सत्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता ।

(२) आ ए सब 'वि' 'म' हैं । आ सब धातुएँ तत्व हैं ।
कोई 'उ' 'म' नहीं है । ए कोई मिश्र तत्व नहीं हैं ।
कोई उ' 'वि' नहीं है । ए कोई मिश्र धातुएँ नहीं हैं ।

यहाँ इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये । यदि हम 'ए' निष्कर्ष निकालें तो सिलाजिज्म का कोई नियम भग नहीं होता, क्योंकि मध्यम पद तो अमुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है । मुख्य पद और अमुख्य पद जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किये गये हैं वे अपने वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण किये जा चुके हैं । अतः 'आ ए' से द्वितीय आकृति में 'ए' सत्य निष्कर्ष निकाला गया है तथा इसे **कामेस्ट्रेस** (Camestres) सत्य अवस्था कहते हैं ।

(३) आ ई सब 'वि 'म' है।　　आ
　　　कुछ 'ठ' म' है।　　ई -
　　　(कोई निष्कर्ष नहीं)　×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि मध्यम-पद दोनों ही वाक्यों में व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'आ ई' कोई निष्कर्ष द्वितीय आकृति में, पैदा नहीं कर सकता है।

(४) आ ओ सब वि' 'म' हैं।　　आ सब अश्व चतुष्पद हैं।
　　　कुछ ठ 'म नहीं हैं।　ओ कुछ जानवार चतुष्पद नहीं हैं।
　　　कुछ 'ठ' 'वि नहीं है। ओ　कुछ जानवार अश्व नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष और निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष अवश्य ही विशेष और निषेधात्मक होना चाहिये। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म का कोई नियम भग नहीं होता। क्योंकि मध्यम पद अमुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में लिया गया है और जो निष्कर्ष का विधेय व्याप्यार्थ में लिया गया है वह भी मुख्य वाक्य मे व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इसलिये 'आ ओ' से द्वितीय आकृति में 'ओ सत्य निष्कर्ष निकालता है। इसे बारोको (Baroco) सत्य अवस्था कहते हैं।

(५) ए आ कोई वि' म' नहीं है। ए कोई पूर्णजीव मरण धर्मा नहीं है।
　　　सब 'ठ' 'म' है। आ सब मनुष्य मरणधर्मा हैं।
　　　सब 'ठ' 'वि' नहीं है। ए　कोई मनुष्य पूर्ण जीव नहीं है।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये। 'ए' निष्कर्ष निकालने के लिये हमें मध्यम-पद, मुख्य-पद और अमुख्य-पद को व्याप्यार्थ में लेना चाहिये। मध्यम-पद तो मुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया गया है तथा मुख्य-पद और अमुख्य-पद भी अपने-अपने वाक्यों में व्याप्यार्थ में ग्रहण किये गये

हैं। इस प्रकार 'ए आ' से द्वितीय आकृति मे 'ए' सत्य निष्कर्ष निकलता है। इसे **केसारे** (Cesare) सत्य अवस्था कहते हैं।

(६) **ए ई** कोई 'वि' 'म' नहीं है। ए कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
कुछ 'उ' 'म' हैं। ई कुछ जीव पूर्ण है।
कुछ 'उ' वि' नहीं हैं। ओ कुछ जीव मनुष्य नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक प्रतिज्ञा वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। तथा एक वाक्य विशेष है अतः विशेष होना चाहिये। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म का एक भी नियम भंग नहीं होता। मध्यम-पद मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में लिया गया है और मुख्य पद जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है वह मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इसलिये 'ए ई' से द्वितीय आकृति में 'ओ' निष्कर्प सत्य निकलता है। इस अवस्था को **फेस्तीनो** (Festino) कहते हैं।

(७) **ई आ** कोई 'वि' 'म' नहीं है। ई
सब 'उ' 'म' हैं। आ
(कोई निष्कर्ण नहीं) ×

इस उदाहरण में मध्यम पद दोनों वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है, अत. कोई निष्कर्ण नहीं निकल सकता।

ओ आ कुछ 'वि' 'म' नहीं हैं। ओ
सब 'उ' 'म' हैं। आ
(कोई निष्कर्ण नहीं) ×

इस उदाहरण मे एक वाक्य विशेष और निषेधात्मक है, इसलिये निष्कर्ष भी विशेष और निषेधात्मक होना चाहिये। यदि निषेधात्मक विशेष निष्कर्ण होगा तो वह विधेय को द्रव्यार्थ में ग्रहण करेगा और वह मुख्य-वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'ओ आ' से द्वितीय आकृति में कोई निष्कर्ण नहीं निकल सकता।

इस प्रकार द्वितीय आकृति में केवल ४ योग ही सत्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं और वे निम्नलिखित हैं :—

(१) ए आ ए केसारे (Cesare)
(२) आ ए ए कामेस्ट्रेस (Camestres)
(३) ए ई ओ फेस्टीनो (Festino)
(४) आ ओ ओ बारोको (Baroco)

द्वितीय आकृति के विशेष नियम निम्नलिखित हैं :—

१ मुख्य वाक्य सामान्य ही होना चाहिये।

२. दोनों वाक्यों में से एक वाक्य निषेधात्मक होना चाहिये।

नियम १—यदि मुख्य वाक्य सामान्य न हो तो वह विशेष होगा। द्वितीय आकृति में मुख्य-पद मुख्यवाक्य में उद्देश्य है। यदि मुख्य पद विशेष हो तो मुख्य-पद प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं किया जायगा। इसलिये वह निष्कर्ष में भी प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि निष्कर्ष में वह विधेय पद है। अतः निष्कर्ष अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये क्योंकि केवल विध्यात्मक वाक्य ही अपने उद्देश्य को प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं करते। जब निष्कर्ष विध्यात्मक होगा तो दोनों प्रतिज्ञा वाक्य भी विध्यात्मक ही होने चाहिये जिससे कि उनके विधेय प्रव्याप्त में ग्रहण किये जा सकें। द्वितीय आकृति में दोनों वाक्यों में मध्यम पद विधेय होता है। इसलिये वह एक बार भी प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः यदि मुख्य वाक्य को विशेष बनाया जाय तो अप्रव्याप्त मध्यम-पद का दोष होगा। इस हेतु से मुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

नियम २—द्वितीय आकृति में मध्यम पद दोनों वाक्यों में विधेय है। यह हम जानते हैं कि विधि वाक्य अपने विधेय को कभी प्रव्याप्त में ग्रहण नहीं करते किन्तु मध्यम-पद को कम से कम एक बार

अवश्य ही द्रव्यार्थ मे ग्रहण करना चाहिये। अतः यह आवश्यक है कि दोनों मे से एक निषेधात्मक वाक्य हो।

(१४) तृतीय आकृति की सत्य अवस्थाएँ और नियम

तृतीय आकृति में मध्यम पद दोनों वाक्यों में उद्देश्य होता है। अब हम ८ अवस्थाओं का इसमें विचार करते हैं और देखते हैं कि कौन-कौन सत्य सिद्ध होती हैं।

(१) **आ आ** सब 'म' 'वि' है। आ सब मनुष्य समझदार हैं।
सब 'म' 'उ' है। आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
. कुछ 'उ' 'वि' है। ई . कुछ मरणशील समझदार हैं।

इस उदाहरण में दोनो वाक्य विधिवाचक हैं इसलिये निष्कर्ष भी विध्यात्मक ही होना चाहिये। यदि हम 'आ' निष्कर्ष निकालते हैं तो हमें अमुख्य पद को अमुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण करना पड़ेगा और यह वहाँ द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः इस योग से 'आ' निष्कर्ष निकालना असम्भव है। यदि हम 'ई' निष्कर्ष निकालें तो सिलाजिज्म के किसी नियम का भग नहीं होता। क्योंकि मध्यम-पद तो दोनों वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है तथा निष्कर्ष में कोई पद अयुक्त रीति से द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है अतः 'आ आ' से हमें तृतीय आकृति में 'ई' निष्कर्ष मिलता है। यह सत्य अवस्था **दाराप्ति** (Darapti) कहलाती है।

(२) **आ ए** सब 'म' 'वि' हैं। आ
कोई 'म' 'उ' नहीं हैं। ए
(कोई निष्कर्ष नहीं) ;

इस उदाहरण मे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ण निषेधात्मक होना चाहिये। जब

निषेधात्मक निष्कर्ष होगा तो वह विधेय को व्याप्यार्थ में ग्रहण करेगा जो कि मुख्य-पद है और वह मुख्य वाक्य मे व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। अतः इस योग से कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं।

(३) आ ई सब 'म' 'वि' हैं। आ सब बीमारियाँ दुखद हैं।
कुछ 'म' 'उ' हैं। ई कुछ बीमारियाँ रोकने योग्य हैं।
कुछ 'उ' 'वि' हैं। ई कुछ रोकने योग्य वस्तुएँ दुखद हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष है तथा दोनों वाक्य विधि-वाचक हैं। अतः निष्कर्ष विशेष विधि वाचक वाक्य होगा। जब हम इस योग से 'ई' निष्कर्ष निकालते हैं तब सिलाजिज्म के किसी नियम का भंग नहीं होगा क्योंकि मध्यम-पद तो एक बार मुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में लिया ही जा चुका है। तथा निष्कर्ष में किसी पद को अनुचित रीति से व्याप्यार्थ में लिया ही नहीं गया है। इससे सिद्ध हुआ कि 'आ ई' से हमें सत्य निष्कर्ष 'ई' मिलता है। इस सत्य आकार को दार्तासी (Datisi) कहते हैं।

(४) आ ओ सब 'म 'वि हैं। आ
कुछ 'म' उ' नहीं हैं। ओ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं। यदि कोई निष्कर्ष निकाला भी जाय तो वह निषेधात्मक होगा और इस कारण निष्कर्ष का विधेय जो कि मुख्य पद है उसे व्याप्यार्थ में लेना पड़ेगा। किन्तु वह मुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में नहीं लिया गया है। अतः इस योग से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

(५) ए आ कोई 'म' वि नहीं है। ए कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
सब 'म' उ' हैं। आ सब मनुष्य समझदार हैं।

∴ कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ओ ∴ कुछ समझदार जीव पूर्ण नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। यदि हम 'ए' निष्कर्ष निकालें तो अमुख्य पद निष्कर्ष मे द्रव्यार्थ में हो जायगा और यह अमुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण किया नहीं गया है। यदि हम 'ओ' निष्कर्ष निकालें तो किसी सिलाजिज्म के नियम का भग नहीं होता है। तथा मध्यम-पद दोनों वाक्यों मे द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। मुख्य पद जो निष्कर्ष मे द्रव्यार्थ में लिया गया है वह मुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। इस प्रकार 'ए आ' से हम 'ओ' निष्कर्ष तृतीय आकृति में निकाल सकते हैं। इस सत्य अवस्था को **फेलाप्टोन** (Felapton) कहते हैं।

(६) ए कोई 'म' 'वि' नहीं है। ए कोई आक्रामक युद्ध न्यायपूर्ण नहीं है।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं। ई कुछ आक्रामक युद्ध सफल होते हैं।
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ओ ∴ कुछ सफल बातें न्यायपूर्ण नहीं होती हैं।

इस उदाहरण में क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है और दूसरा विशेष वाक्य है इसलिये यदि कोई निष्कर्ष हो सकता है तो वह निषेधात्मक विशेष हो सकता है। जब हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म का कोई नियम भग नहीं होता क्योंकि मध्यम-पद तो मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया जा चुका है तथा मुख्य पद जो निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है वह भी मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है। अत. तृतीय आकृति में 'ए ई' से 'ओ' सत्य अवस्था निकल सकती है इसको **फेरीसोन** (Ferison) कहा जाता है।

(७) ई सब कुछ 'म' 'बि' हैं। ई   कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं।
सब 'म' 'उ' हैं। आ   सब मनुष्य मरणशील हैं।
कुछ 'उ' 'बि' हैं। ई   कुछ मरणशील जीव बुद्धिमान हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष है इसलिये निष्कर्ष भी विशेष होगा। और दोनों वाक्य विधिवाचक हैं अतः निष्कर्ष विध्यात्मक ही होगा। यदि हम इससे 'ई' निष्कर्ष निकालें तो हम सिलाजिज्म का कोई नियम भंग नहीं करते। अतः यह सिद्ध है कि तृतीय आकृति में 'ई आ' से ई निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इसे तार्किक लोग डीसामीस (Disamis) कहते हैं।

(८) ओ सब कुछ 'म' 'बि' नहीं हैं। ओ कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं।
सब 'म' 'उ' हैं।   आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
कुछ 'उ' 'बि' नहीं हैं। ओ   कुछ मरणशील जीव बुद्धिमान नहीं हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष और निषेधात्मक है इसलिये निष्कर्ष नियम से 'ओ' ही होगा। जब हम 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म के किसी नियम का भंग नहीं होता। इस तरह 'ओ आ' से हमें 'ओ' निष्कर्ष मिलता है। इसे बोकार्डो (Bocardo) कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तृतीय आकृति में छः योग सत्य आकृतियाँ प्रदान करते हैं और वे निम्नलिखित हैं:—

(१) आ आ ई दारप्ती (Darapti)
(२) ई आ ई डीसामीस (Disamis)
(३) आ ई ई दातीसी (Datisi)
(४) ए आ ओ फैलाप्टोन (Felapton)
(५) ओ आ ओ बोकार्डो (Bocardo)
(६) ए ई ओ फेरीसोन (Ferison)

तृतीय आकृति के निम्नलिखित विशेष नियम हैं जिनका विशेष-रूप से अध्ययन करना चाहिये :—

(१) अमुख्य वाक्य अवश्य विधिवाचक होना चाहिये ।

(२) निष्कर्ष अवश्य विशेष होना चाहिये ।

नियम १—**अमुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये ।** यदि अमुख्य वाक्य विध्यात्मक न हो तो यह निषेधात्मक होना चाहिये । यदि अमुख्य वाक्य निषेधात्मक हो तो मुख्य वाक्य अवश्य ही विध्यात्मक होना चाहिये और निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिये । तृतीय आकृति में मुख्य-पद मुख्य वाक्य में विधेय है । क्योंकि मुख्य वाक्य विध्यात्मक है अत. मुख्य-पद तो द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है, किन्तु मुख्य-पद निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है क्योंकि वह निषेधात्मक है । इसलिये यदि हम अमुख्य वाक्य को निषेधात्मक रखते हैं तो **अनियमित[1]-मुख्य-पद का दोष होता है** । अत. यह आवश्यक है कि अमुख्य वाक्य विध्यात्मक ही होना चाहिये ।

नियम २—**निष्कर्ष अवश्य विशेष होना चाहिये** । तृतीय आकृति में अमुख्य-पद अमुख्य वाक्य में विधेय होता है । विशेष नियम १ के अनुसार अमुख्य-पद विध्यात्मक है । विध्यात्मक वाक्य इसके विधेय को द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करता । अत अमुख्य-पद अमुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है और इसीलिये निष्कर्ष में भी द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता । अमुख्य-पद निष्कर्ष का उद्देश्य है और केवल विशेष वाक्य ही अपने उद्देश्यों को द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करते । इसलिये यह आवश्यक है कि निष्कर्ष

---

1 Illicit major

विशेष ही होना चाहिये। अन्यथा हम अनियमित-अमुख्य-पद[1] का दोष पैदा करेंगे।

चतुर्थ आकृति की सत्य अवस्थायें और नियम

यह हम जानते हैं कि चतुर्थ आकृति में मध्यम-पद मुख्य वाक्य में विधेय होता है तथा अमुख्य वाक्य में उद्देश्य होता है। अब यहाँ हम विचार करेंगे कि कौन-कौन आठ अवस्थाओं में से इस आकृति में सत्य हो सकती है :—

(१) आ आ सब 'मि' 'म' है। आ सब मनुष्य जानवर हैं।
सब 'म' 'उ' हैं। आ सब जानवर मरणशील हैं।
सब 'उ' 'वि' है। ई सब मरणशील कुछ मनुष्य हैं।

इस उदाहरण में दोनों ही वाक्य विध्यात्मक हैं इसलिये निष्कर्ष विध्यात्मक ही होगा। यदि हम 'आ' निष्कर्ष निकालते हैं तो अमुख्य-पद निष्कर्ष में व्याप्यार्थ में ग्रहण किया जायगा जब कि वह अमुख्य वाक्य में व्याप्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है। यदि हम 'ई' निष्कर्ष निकालते हैं तो सिलाजिज्म के किसी नियम का उल्लंघन नहीं होता। अतः 'आ आ' से सत्य निष्कर्ष 'ई' ही निकल सकता है और इस अवस्था को ब्रामानटीप (Bramantip) कहते हैं।

(२) आ ए सब 'वि' 'म' हैं। आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
कोई 'म' 'उ' नहीं है। ए कोई मरणशील पूर्ण नहीं हैं।
कोई 'उ' 'वि' नहीं है। ए कोई पूर्ण जीव मनुष्य नहीं है।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक होने से निष्कर्ष निषेधात्मक होना चाहिये। 'ए' निष्कर्ष निकालने में सिलाजिज्म का कोई नियम खंडित नहीं होता। इसलिये 'आ ए' से हम 'ए' निष्कर्ष निकाल सकते

---

1. Illicit minor

है। चतुर्थ आकृति में इस अवस्था को **कामेनेज़** (Camenes) कहते हैं।

(३) आ ई सब 'वि' 'म' हैं। आ
कुछ 'म' 'उ' हैं। ई
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण मे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। क्योंकि मध्यम-पद एक भी वाक्य मे द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है।

(४) आ ओ सब 'वि' 'म' है। आ
कुछ 'म' 'उ' नहीं हैं। ओ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण में भी कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि इसमें भी मध्यम-पद एक बार भी द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है।

(५) ए आ कोई 'वि' 'म' नहीं हैं। ए कोई चतुष्पद मनुष्य नहीं है।
सब 'म' 'उ' है। आ सब मनुष्य जानवर हैं।
कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं। ओ कुछ जानदार चतुष्पद नहीं हैं।

इस उदाहरण में क्योंकि एक वाक्य निषेधात्मक है अतः निष्कर्ष अवश्य ही निषेधात्मक होना चाहिये। यदि हम इस योग से 'ए' निष्कर्ष निकालें तो हमें अमुख्य-पद को द्रव्यार्थ में लेना होगा जो अमुख्य वाक्य मे द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है। यदि हम इससे 'ओ' निष्कर्ष निकालते हैं तो हम किसी सिलाजिज्म के नियम का भग नहीं करते हैं। अतः 'ए आ' से चतुर्थ आकृति मे 'ओ' निष्कर्ष निकलता है। इस सत्य अवस्था को **फेसापो** (Fesapo) कहते हैं।

(६) ए ई सब 'वि' 'म' नहीं है। ए कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है।
कुछ म' 'उ' है। ई कुछ पूर्ण जीव समझदार जीव है।
कुछ 'उ' वि नहीं है। ओ कुछ समझदार जीव मनुष्य नहीं है।

इस उदाहरण में एक वाक्य निषेधात्मक है और दूसरा विशेष वाक्य है अतः निष्कर्ष विशेष वाक्य निषेधात्मक होगा। 'ओ' निष्कर्ष निकालने में हम सिलाजिज्म के किसी नियम का भंग नहीं करते। इसलिये ए ई से चतुर्थ आकृति में हम केवल 'ओ' निष्कर्ष ही निकाल सकते हैं। इस सत्य अवस्था को फ्रेसीसोम (Fresison) कहा जाता है।

(७) ई आ कुछ 'वि' म' है। ई कुछ जानदार मनुष्य हैं।
सब 'म 'उ' है। आ सब मनुष्य मरणशील हैं।
कुछ उ' 'वि' है। ई कुछ मरणशील जीव जानदार हैं।

इस उदाहरण में एक वाक्य विशेष है और दोनों वाक्य विधिवाचक हैं; अतः निष्कर्ष अवश्य ही विधिवाचक विशेष होना चाहिये। यदि हम 'ई' निष्कर्ष निकालते हैं तो हम सिलाजिज्म के किसी नियम का उल्लंघन नहीं करते। इसलिये 'ई आ' से हमें चतुर्थ आकृति में 'ई' निष्कर्ष मिलता है। और इस सत्य अवस्था को डीमारीस (Dimaris) कहा जाता है।

(८) आ ओ कुछ 'वि 'म' नहीं है। ओ
सब 'म' 'उ है। आ
(कोई निष्कर्ष नहीं) ×

इस उदाहरण से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। क्योंकि एक

वाक्य निषेधात्मक है। अत. निष्कर्ष भी निषेधात्मक ही होना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि निष्कर्ष मे मुख्य-पद को द्रव्यार्थ में लेना पड़ेगा जो मुख्य वाक्य मे नहीं लिया गया है। अत इस योग से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्थ आकृति में निम्नलिखित सत्य अवस्थाएँ हैं।

(१) आ आ ई   ब्रामान्टीप (Bramantip)
(२) आ ए ए   कामेनेज़ (Camenes)
(३) ई आ ई   डीमारीस (Dimaris)
(४) ए आ ओ   फेसापो (Fesapo)
(५) ए ई ओ   फ्रेसीसोन (Fresison)

चतुर्थ आकृति के विशेष नियम निम्नलिखित हैं। इनका ध्यान-पूर्वक अध्ययन करना चाहिये :—

(१) यदि मुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो अमुख्य वाक्य सामान्य होना चाहिये।

(२) यदि मुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो निष्कर्ष विशेष होना चाहिये।

(३) यदि दोनों में से कोई निषेधात्मक हो तो मुख्य वाक्य अवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

नियम १—चतुर्थ आकृति में मध्यम पद मुख्य वाक्य में विधेय होता है। अतः यदि मुख्य वाक्य विध्यात्मक हो तो उसका विधेय द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। मध्यम-पद कम से कम एक बार अवश्य द्रव्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। चतुर्थ आकृति में मध्यम-पद अमुख्य वाक्य का उद्देश्य है। विशेष वाक्य अपने उद्देश्यों को द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करते। अत. यदि हमें मध्यम-पद को द्रव्यार्थ

में ग्रहण करता है तो ग्रमुख्य वाक्य ग्रवश्य ही सामान्य होना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि मुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो ग्रमुख्य वाक्य ग्रवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

नियम २—यदि ग्रमुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो निष्कर्ष विशेष होना चाहिये। चतुर्थ ग्राकृति में ग्रमुख्य पद ग्रमुख्य वाक्य में विधेय होता है। यदि ग्रमुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो ग्रमुख्य पद ग्रभ्यार्थ में नहीं लिया जा सकता और वह निष्कर्ष में भी ग्रभ्यार्थ में नहीं लिया जा सकता। यहाँ निष्कर्ष ग्रमुख्य-पद का उद्देश्य है और विशेष वाक्य अपने उद्देश्यों को ग्रभ्यार्थ में ग्रहण नहीं करते। ग्रतः निष्कर्ष इस ग्रवस्था में ग्रवश्य ही विशेष होना चाहिये।

नियम ३—यदि दोनों में से एक भी वाक्य निषेधात्मक हो तो मुख्य वाक्य ग्रवश्य ही सामान्य होना चाहिये। यदि दोनों में से एक वाक्य निषेधात्मक है तो निष्कर्ष ग्रवश्य ही निषेधात्मक होगा। और उसका विधेय ग्रभ्यार्थ में ग्रहण किया जायगा। ग्रर्थात् मुख्य पद ग्रभ्यार्थ में ग्रहण करना चाहिये। चतुर्थ ग्राकृति में मुख्य-पद मुख्य वाक्य में उद्देश्य है और यह हम जानते हैं कि केवल सामान्य वाक्य ही ग्रपने उद्देश्यों को ग्रभ्यार्थ में ग्रहण करते हैं। ग्रतः इस ग्रवस्था में मुख्य वाक्य ग्रवश्य ही सामान्य होना चाहिये।

संक्षेप में चार ग्राकृतियों की ग्रवस्थाओं के पर्यालोचन के बाद यह निश्चित हो चुका है कि यदि हम ग्रवस्था (Mood) से यही समझते हैं कि यह एक प्रकार का सिलाजिज्म का रूप है जो ग्रङ्गी-भूत प्रतिज्ञा वाक्यों के गुण और परिमाण से निश्चित किया जाता है तो हम ६४ सम्भवनीय ग्रवस्थाओं में से केवल ११ ग्रवस्थाओं में सत्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक ग्राकृति में सम्भवनीय ग्रवस्थायें १६ होती हैं; उनमें से प्रथम

आकृति में चार अवस्थाएँ ठीक हैं, द्वितीय आकृति मे चार अवस्थाएँ ठीक हैं, तृतीय आकृति में छः अवस्थाएँ ठीक हैं और चतुर्थ आकृति मे पाँच अवस्थाएँ ठीक होती हैं।

(१६) सिलाजिज्म के अन्य प्रकार

उपर्युक्त विवेचन ने सिलाजिज्म के कुछ अन्य प्रकार भी हमे बतलाए हैं और वे निम्नलिखित हैं —

(१) मौलिक (Fundamental)
(२) निर्बल (Weakened)
(३) सबल (Strengthened)

मौलिक (Fundamental) **सिलाजिज्म वह है जिसमें कोई भी पद आवश्यकता से अधिक द्रव्यार्थ में ग्रहण न किया गया हो।** अर्थात् जिसमें चरम पदों में से कोई पद, वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया हो जब तक कि निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया हो। तथा मध्यमपद जिसमें एक बार से अधिक द्रव्यार्थ मे ग्रहण न किया गया हो। सिलाजिज्म के नियमानुसार मध्यमपद कम से कम एक बार द्रव्यार्थ में अवश्य ग्रहण करना चाहिए और निष्कर्ष में कोई पद द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिये जब तक कि वह प्रतिज्ञा वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण न किया जाय। इस दृष्टि से यदि हम १६ अवस्थाओं पर विचार करें तो हमें प्रतीत होगा कि दाराप्ती (Darapti) तृ० आ० फेलाप्टोन तृ० आ० और फेसापो (Fesapo) च० आ० में मध्यमपद दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है तथा एक अवस्था में अर्थात् ब्रामानटीप (Bramantip) च० आ० में मुख्य-पद मुख्य वाक्य में द्रव्यार्थ मे ग्रहण किया गया है किन्तु निष्कर्ष में द्रव्यार्थ मे ग्रहण नहीं किया गया है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि दाराप्ती, फेलाप्टोन और फेसापो में मध्यम पद आवश्यकता से अधिक द्रव्यार्थ में ग्रहण

किया गया है और दामानटीप में मुख्य-पद व्यर्थ में प्रव्याप्त में ग्रहण किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार प्रव्याप्त में ग्रहण करना निष्कर्ष के लिये आवश्यक नहीं है। यदि मध्यम-पद दो बार के सिवाय एक बार ही दारासी फेलाप्टोन और फेसापो में ग्रहण किया गया होता तब भी पर्याप्त था और यदि दामानटीप में मुख्य पद न भी प्रव्याप्त में ग्रहण किया होता तब भी हमें यथेष्ट निष्कर्ष मिल ही जाता।

इस प्रकार १९ सत्य अवस्थाओं में से १५ अवस्थाएँ मौलिक (Fundamental) हैं और केवल ४ अर्थात् दारासी फेलाप्टोन दामानटीप और फेसापो अमौलिक हैं क्योंकि इनमें पदों का प्रव्याप्त में ग्रहण करना आवश्यकता से अधिक है जिसकी, सत्य निष्कर्ष निकालने में कोई आवश्यकता नहीं है।

निर्बल (Weakened) सिलाजिज्म वह है जिसमें हम विशेष निष्कर्ष निकालते हैं यद्यपि प्रतिज्ञा वाक्यों के अनुसार सामान्य निष्कर्ष निकल सकता है। इसको समाविष्ट अवस्था भी कहते हैं। उदाहरणार्थ हम देख चुके हैं कि 'आ आ' के योग से प्रथम आकृति में 'आ' निष्कर्ष निकलता है और इस अवस्था को बारबारा कहते हैं। जहाँ 'आ' निष्कर्ष निकलता है वहाँ 'ई' भी निकल सकता है क्योंकि सामान्य के सत्य में विशेष का सत्य अन्तर्भूत रहता है। इसी प्रकार जहाँ निष्कर्ष 'ए' निकाला जाता है वहाँ 'ओ' भी निकल सकता है। इस प्रकार जहाँ कहीं सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है वहाँ विशेष निष्कर्ष भी निकल सकता है। इसलिये जहाँ सामान्य प्रतिज्ञा वाक्यों से विशेष निष्कर्ष निकाला जाता है वह सिलाजिज्म का निर्बल रूप कहलाता है क्योंकि इस अवस्था में निष्कर्ष निर्बल हो गया है।

यह हम पहले देख चुके हैं कि २४ अवस्थाओं में से केवल १९

अवस्थाएँ ऐसी हैं जो सत्य हैं। इन १६ में से केवल ५ अवस्थाएँ हैं जिनमें सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है। वे हैं (१) बारबारा (२) केलारेण्ट (५) केसारे (४) कामेस्ट्रेस (५) कामेनेज़। ये सब सिलाजिज़्में निर्बल बनाई जा सकती हैं यदि इनसे विशेष निष्कर्ष निकाला जाय। इनके निर्बल रूप ये होंगे:—(१) बारबारी (Barbari) आ आ ई (२) केलारोन्ट (Celaront) ए आ ओ (३) केजारो (Cesaro) ए आ ओ (४) कामेस्ट्रोज़ (Camestres) आ ए ओ और (५) कामेनोज़ (Camenos) आ ए ओ। तृतीय आकृति में सारे निष्कर्ष विशेष है अत उसमें कोई निर्बल रूप हो ही नहीं सकता। जितने निर्बल रूप हैं वे सब प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ आकृतियों मे ही पाए जाते हैं।

सबल (Strengthened) सिलाजिज़्म वह है जिसमें प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक वाक्य आवश्यकता से अधिक सबल होता है। यद्यपि निष्कर्ष उससे कम बलवाले ही वाक्य से निकल सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि दो में से एक वाक्य सामान्य के स्थान पर विशेष हो तब भी निष्कर्ष सही निकल सकता है। जैसे, दाराप्ती (Darapti)

सब 'म' 'वि' हैं।
सब 'म' 'उ' हैं।
कुछ 'उ' 'वि' हैं।

इस उदाहरण में मुख्य वाक्य जो सामान्य है यदि उसके स्थान पर विशेष वाक्य रख दिया जाय तो वही निष्कर्ष सरलता से निकल सकता है। जैसे

कुछ 'म 'वि' हैं।
सब 'म' 'उ' हैं।
. कुछ 'उ' 'वि' हैं।

इस अवस्था का दूसरा नाम रखा गया है और उसे डीसामीस (Disamis) कहते हैं। इसी प्रकार इस उदाहरण में भी दिये हुए अमुख्य वाक्य के स्थान पर जो कि 'आ' वाक्य है यदि हम तत्संगत 'ई' वाक्य ले लें तो भी वही निष्कर्ष निकल आयगा। इसको हम दाटीसी (Datisi) कहेंगे।

इससे स्पष्ट है कि ये सब सिलाजिज्म्स जो मौलिक नहीं हैं अर्थात् दाराप्ती फेलाप्टोन ब्रामानटीप और फेसापो उनको सबल बनाया गया है। दाराप्ती का परीक्षण हम अभी कर चुके हैं। फेलाप्टोन (ए आ) में मुख्य वाक्य जो कि 'ए' वाक्य है आवश्यकता से अधिक बलवान है जिसकी निष्कर्ष के लिये आवश्यकता नहीं। यदि मुख्य वाक्य 'ओ' भी हो तो वही निष्कर्ष निकल सकता है। यह होगा बोकार्डो (Bocardo)। ब्रामानटीप में भी मुख्य 'आ' है उसके स्थान में हम सरलतापूर्वक 'ई' वाक्य ले सकते हैं और यह होगा डीमारीस (Dimaris)। तथा फेसापो में अमुख्य वाक्य जो 'आ' है उसके स्थान पर 'ई' लिया जा सकता है और यह होगा फ्रेसीसोन (Fresison)। इससे यह सिद्ध हो गया कि सबल वाक्यों को बदल कर उनके स्थान पर निर्बल वाक्य रखने से भी वही निष्कर्ष निकल सकता है।

यहाँ पर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त ४ अवस्थाओं के अतिरिक्त जो कि सबल सिलाजिज्म हैं सब समाविष्ट अवस्थाएँ भी केवल कामेनीस को छोड़कर सबल सिलाजिज्म हैं। जहाँ तक कि कामेनीस का सम्बन्ध है इसमें कोई वाक्य अनावश्यक रूप से बलवान नहीं बनाया गया है जिसकी कि आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि उसके स्थान पर हम तत्संगत विशेष वाक्य ग्रहण करते हैं तो निष्कर्ष भी नहीं निकलेगा। जैसे

सब 'वि' 'म' हैं। आ
कोई 'म' 'उ' नहीं है। ए कामेनोज़
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है। ओ (Camenos)

इस उदाहरण में यदि हम मुख्य वाक्य में 'आ' के स्थान में 'ई' वाक्य लें या अमुख्य वाक्य में 'ए' के स्थान पर 'ओ' लें तो हम देखेंगे कि कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। अत: कामेनोज को सबल सिलाजिज्म कहना युक्त नहीं है।

यह ध्यान देना चाहिये कि कामेनोज में अमुख्य पद 'उ' अनावश्यक रीति से द्रव्यार्थ मे ग्रहण किया गया है। यह अमुख्य वाक्य में तो द्रव्यार्थ में ग्रहण किया गया है किन्तु निष्कर्ष में द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया गया है इसलिये इसे मौलिक सिलाजिज्म नहीं कहा जा सकता। मौलिक सिलाजिज्म मे कोई भी पद अनावश्यक रूप से द्रव्यार्थ में ग्रहण नहीं किया जाता। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कामेनोज मौलिक सिलाजिज्म नहीं माना जा सकता किन्तु इसको सबल सिलाजिज्म कह सकते हैं।

अवशिष्ट समाविष्ट अवस्थाएँ अर्थात् बारबारी (आ आ ई—प्र० आ०) केलारोण्ट (ए आ ओ—प्र० आ०) केसारो (ए आ ओ—द्वि० आ०) सब सबल सिलाजिज्म हैं। बारबारी में अमुख्य वाक्य निर्बल बनाया जा सकता है और वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है—आ ई ई-प्र० आ०—दारीई। फेलारोण्ट में अमुख्य वाक्य को निर्बल किया जा सकता है और वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है—ए ई ओ—फेरिओ। केसारो में अमुख्य वाक्य 'ई' हो सकता है और फिर भी निष्कर्ष 'ओ' ही निकाला जा सकता है—ए ई ओ—फेस्तीनो। तथा कामेस्ट्रोस में अमुख्य वाक्य 'ओ' हो सकता है और वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है—आ ओ ओ—बारोको।

इस प्रकार यदि हम सब समाविष्ट अवस्थाओं का विचार करें तो हम कह सकते हैं कि सबल सिलाजिज्म आठ प्रकार की हैं:—

बारबारी फेलारोएन्ट—प्र० आ
केसारो कामेस्टेस—द्वि० आ
दाराप्ती फेलाप्टोन—तृ० आ
ब्रामान्टीप फेसापो—च० आ

यदि फिर हम समाविष्ट अवस्थाओं को विचार में लें अर्थात् वे अवस्थाएँ जो मौलिक नहीं हैं। ये संख्या में ५ हैं:—दाराप्ती फेलाप्टोन, ब्रामान्टीप, फेसापो और कामेनोस।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि एक सिलाजिज्म इसलिये सबल कहलाती है क्योंकि दोनों में से एक वाक्य इसका सबल कर दिया जाता है तथा अन्य सिलाजिज्म निर्बल इसलिये कहलाती है क्योंकि इसका निष्कर्ष निर्बल होता है। सबल सिलाजिज्म में दोनों में से एक वाक्य *निर्बल बनाया जा सकता है तथा निर्बल सिलाजिज्म में निष्कर्ष अधिक* सबल भी हो सकता है।

(१७) शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म तथा शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म।

अब निरपेक्ष या निश्चित सिलाजिज्म के बयान के अनन्तर शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म तथा शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म का बयान करते हैं। जिसमें तीनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं उसे शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म कहते हैं। उसी प्रकार शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म उसे कहते हैं जिसमें तीनों हेतुहेतुमद् वाक्य हों तथा शुद्ध वैकल्पिक उसे कहते हैं जिसमें तीनों ही वाक्य वैकल्पिक हों।

जहाँ तक शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म का सम्बन्ध है उसमें तीनों ही वाक्य हेतुहेतुमद् होते हैं। अब हम कह चुके हैं कि हेतुहेतुमद् वाक्यों में उसी प्रकार गुण और परिमाण का भेद पाया जाता है जैसा कि

निरपेक्ष वाक्य में। अत यह सर्वथा सम्भव है कि हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म के उतने और वैसे ही रूप हो सकते हैं जितने कि निरपेक्ष सिलाजिज्म के। उदाहरणार्थ,

यदि क ख है तो ग घ है।
यदि घ ङ है तो क ख है।
∴ यदि घ ङ है तो ग घ है।

शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म के बारे में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसमें तीनों ही वाक्य वैकल्पिक होते हैं और सब वैकल्पिक वाक्य विधिवाचक ही होते हैं। अत जो नियम गुण से सम्बन्ध रखते हैं उनका यहाँ बिलकुल उपयोग नहीं होता है। तथा शुद्ध वैकल्पिक वाक्य इतने दुर्लभ हैं कि उनके विशेष विवेचन करने की आवश्यकता ही नहीं। इसके अतिरिक्त शुद्ध हेतुहेतुमद् तथा वैकल्पिक वाक्यों से बनाए हुए अनुमानों के रूप व्यवहार में भी कम आते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१ सिलाजिज्म क्या है स्पष्ट समझाइये। सिलाजिज्म की रचना क्या है? इसके कितने भेद हैं?

२ अरस्तू का सिलाजिज्म के विषय में मूल सिद्धान्त क्या है? इसका स्पष्ट विवेचन करो। यह प्रथम आकृति के लिये ही क्यों उपयुक्त समझा गया है?

३. सिलाजिज्म मध्यम पद का क्या स्थान है? मध्यम पद का कम से कम एक बार द्रव्यार्थ मे ग्रहण करना क्यों आवश्यक है?

४. सिलाजिज्म के कितने अवयव होते हैं? उनके नाम क्या हैं और क्यों?

५ सिलाजिज्म में कितने पद प्रयुक्त होते हैं? यदि कम या ज्यादा प्रयोग किये जायँ तो क्या आपत्ति होगी?

६. सिलाजिज्म के विषय में लेम्बर्ट के क्या सिद्धान्त हैं? उनका स्पष्ट विवेचन करो।

७ संक्षेप में सिलाजिज्म के नियमों का उदाहरणपूर्वक वर्णन करो।

८. सिद्ध करो :—
   (क) दो निषेध वाक्यों से कोई निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता।
   (ख) यदि एक वाक्य विशेष हो तो निष्कर्ष अवश्य विशेष होगा।
   (ग) दो विशेष वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।
   (घ) विशेष मुख्य वाक्य से और निषेधात्मक अमुख्य वाक्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

९. आकृति और अवस्था का लक्षण लिखकर यह बतलाओ कि कितनी अवस्थाएँ सत्य होती हैं? अरस्तू के प्रथम आकृति को ही क्यों सत्य माना?

१० यदि किसी सिलाजिज्म के वाक्य ग़लत हैं तो क्या उनसे निकाला हुआ निष्कर्ष भी ग़लत होगा? उदाहरण देकर समझाओ।

११ निम्नलिखित को उदाहरण देकर समझाओ —
   सीसामीस, मामानट्रीप, बारोको दाराप्ती फ्रेसीसोन।

१२ सिद्ध करो कि प्रथम आकृति में मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये", द्वितीय आकृति में, "दोनों वाक्यों में से एक वाक्य निषेधात्मक होना चाहिये' और चतुर्थ आकृति में, 'यदि अमुख्य वाक्य विधिवाचक हो तो निष्कर्ष विशेष होना चाहिये"।

१३ मौलिक, निर्बल और सबल सिलाजिज्म किन्हें कहते हैं? प्रत्येक का उदाहरण देकर समझाओ।

१४ शुद्ध हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

१५ शुद्ध वैकल्पिक सिलाजिज्म किन्हें कहते हैं? उनका व्यवहार-जगत् में क्यों विशेष उपयोग नहीं होता?

१६ उन अवस्थाओं को बतलाओ जिनमें 'ओ' वाक्य का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

१७ प्रथम आकृति के नियमों को सिद्ध करो।

अध्याय १३

१—रूपान्तरकरण

रूपान्तरकरण (Reduction) का शाब्दिक अर्थ है रूप का परिवर्तन कर देना। कुछ तार्किक लोग इस शब्द को बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयोग करते हैं—अर्थात् रूपान्तरकरण का अर्थ है कि किसी भी आकृति की अवस्थाओं को अन्य आकृतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन कर देना। इस लक्षण के अनुसार तो किसी भी आकृति के रूप, अन्य-अन्य आकृतियों के रूपों में बदले जा सकते हैं अर्थात् प्रथम आकृति की अवस्थाओं को द्वितीय मे और द्वितीय की अवस्थाओं को तृतीय मे और तृतीय की अवस्थाओं को चतुर्थ में परिवर्तन किया जा सकता है।

किन्तु तर्कशास्त्री लोग साधारण रूप से रूपान्तरकरण का अर्थ बहुत सकुचित रूप में करते हैं। उनके अनुसार रूपान्तरकरण का अर्थ है द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आकृतियों की अवस्थाओं को प्रथम आकृति की अवस्थाओं में बदल देना। यह हमे विदित ही है कि अरस्तू ने प्रथम आकृति को ही पूर्ण आकृति माना था और उसका सिद्धान्त 'सबके लिए और किसी के लिए नहीं' भी प्रथम आकृति में ही ठीक रूप से लागू होता है। यह सिद्धान्त या तो अनुलोम विधि से या प्रतिलोम विधि से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आकृतियों में सर्वथा लागू नहीं होता है—इसी हेतु से उसे अपूर्ण कहा जाता है। यदि किसी प्रक्रिया से अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं को पूर्ण आकृति की

अवस्थाओं में परिवर्तित कर दिया जाय तो अरस्तू के सिद्धान्त को उनमें भी लागू किया जा सकता है। वास्तव में रूपान्तरकरण की प्रक्रिया से द्वितीय तृतीय, चतुर्थ आकृतियों की अवस्थाओं की अपूर्णता दूर की जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं—क्योंकि प्रथम आकृति को छोड़कर अन्य आकृतियों में अरस्तू का सिद्धान्त नहीं लगता। अतः अन्य आकृतियों को प्रथम आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित कर हम उन्हें पूर्ण बना सकते हैं और कह सकते हैं कि उनमें निकाले हुए निष्कर्ष प्रथम आकृति के निष्कर्षों के समान हैं और उपयुक्त हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुख्य उद्देश्य रूपान्तरकरण का द्वितीय तृतीय और चतुर्थ आकृतियों की क्षमता सिद्ध करना है। अतः रूपान्तरकरण का निर्दोष लक्षण यह होगा कि रूपान्तरकरण वह प्रक्रिया है जिसमें अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं को पूर्ण आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित करना होता है तथा सिद्ध करना होता है कि अपूर्ण आकृतियों का अवस्थाएं भी सत्य और सही हैं।

२—रूपान्तरकरण के भेद

यह रूपान्तरकरण २ प्रकार से होता है :—(१) अनुलोम विधि से और (२) प्रतिलोम विधि से।

(१) अनुलोम विधि से रूपान्तरकरण (Direct Reduction) वह प्रक्रिया है जिसमें अपूर्ण आकृतियों की अवस्थायें अनुलोम विधि से प्रथम आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित कर दी जाती हैं। इस प्रक्रिया में परिवर्तन (Conversion) प्रतिमुखीकरण (Obversion) और विरुद्ध भाव (Contra position) या वाक्यों का परिवर्तन आदि विधियों की आवश्यकता पड़ती है। इसको अनुलोम इसलिये कहते हैं क्योंकि दिया हुआ निष्कर्ष

वाक्यों से निकाला जाता है और वह भी जो सिलाजिज्म में दिये हुए वाक्य हैं उनसे निकाला जाता है।

(२) प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण (Indirect Reduction) वह प्रक्रिया है जिसमें पूर्ण आकृति की सहायता से सिद्ध किया जाता है कि अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं के निष्कर्ष के आत्यन्तिक विरुद्ध वाक्य असत्य हैं, इसलिये निर्दिष्ट निष्कर्ष सत्य होने चाहिये।

३—रूपान्तरकरण की आवश्यकता

अरस्तू के समय में अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं की सत्यता को सिद्ध करने के लिये रूपान्तरकरण ही एक उपाय था, किन्तु आजकल तो अन्य भी बहुत से उपाय माने गये हैं। हम आजकल सिलाजिज्म के साधारण नियमों को लगाकर देख सकते हैं कि अमुक अवस्था ठीक है या नहीं। तथा सिलाजिज्म के विशेष नियमों को लगाकर भी देखा जा सकता है कि सिलाजिज्म सत्य है या नहीं। अत जैसी रूपान्तरकरण की आवश्यकता अरस्तू के समय में थी वैसी आजकल नहीं है। आजकल हम इसे बहुतों में से एक प्रक्रिया समझते हैं जिसके द्वारा अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं की सत्यता सिद्ध की जा सकती है। यद्यपि इसका महत्त्व घट गया है तथापि इसे सर्वथा अयुक्त नहीं समझा जा सकता। वास्तव में अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं को पूर्ण आकृति की अवस्थाओं में परिवर्तित करने से यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न आकृतियों की अवस्थाएँ भिन्न भिन्न होनेपर भी वे सब एक ही विशुद्ध आकृति की अवस्थाएँ हैं और सब एक ही नियम के अलग अलग रूप हैं, अत रूपान्तरकरण से हम सिलाजिज्म के तर्क की एकता स्थापित करते हैं।

सांकेतिक श्लोक[1]

लगभग १३वीं शताब्दी में स्कूलमेनों (Schoolmen) के सत्य अवस्थाओं को कंठस्थ करने के लिये कुछ श्लोक तैयार किए थे जिनकी सहायता से उन्हें बहुत सरलता से याद किया जा सकता है। ये श्लोक मिथ्या शब्दों से बनाए हुए हैं जिनके द्वारा हमें ये संकेत मिलते हैं कि हम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आकृतियों की अवस्थाओं को प्रथम आकृति की अवस्थाओं में किस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं। यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रथम आकृति में ४ सत्य अवस्थाएँ हैं, ४ द्वितीय आकृति में हैं, ६ तृतीय आकृति में हैं तथा ५ चतुर्थ आकृति में हैं। निम्नलिखित ४ पंक्तियों का श्लोक, प्रत्येक पंक्ति के द्वारा प्रथम, द्वितीय तृतीय, चतुर्थ आकृतियों को क्रमानुसार प्रकट करते हैं :—

१ बारबारा केलारेण्ट दारीई फेरीओ
२ केसारे कामेस्ट्रेस फेस्तीनो बारोको
३ दाराप्ती डीसामीस दातीसी फेलाप्टोन
बोकार्डो फेरीसोन
४ ब्रामान्टीप कामेनीस डीमारीस फीसापो
फ्रेसीसोन

Barabara Celarent Darii Ferio
Cesare Camestres Festino Baroco
Darapti Disamis Datisi Felapton
Bocardo Ferison
Bramantip Camenes Dimares Festino
Fresison

1 Mnemonic lines.

इनमें कुछ सांकेतिक अक्षर हैं उनको हमें समझना चाहिये। प्रत्येक शब्द में ३ स्वर है। पहला स्वर मुख्य वाक्य के लिये अभिप्रेत है, दूसरा स्वर दूसरे वाक्य के लिये, तथा तीसरा स्वर तीसरे वाक्य के लिये है। इस प्रकार स्वर इन शब्दो में क्रमशः मुख्य वाक्य, अमुख्य वाक्य तथा निष्कर्ष को द्योतित करते हैं। प्रत्येक शब्द एक अवस्था का प्रतीक है। जैसे बारबारा मे 'आ आ आ' तीन स्वर है। फेलारेण्ट में 'ए आ ए' तीन स्वर हैं, इत्यादि। इनमे तीनों स्वर तीन वाक्यों के द्योतक हैं।

प्रथम आकृति की अवस्थाओं के शुरू के चार वर्ण अंग्रेजी भाषा के है वे निम्नलिखित है :—

१ ब (B)
२ क (C)
३. द (D)
४ फ (F)

यहाँ केवल बारोको और बोकार्दो को छोडकर अपूर्ण आकृतियों की अवस्थाओं के शुरू के वर्ण यह बतलाते हैं कि वह अवस्था प्रथम आकृति मे उसी वर्ण से शुरू होनेवाली अवस्था मे बदल सकती है। जैसे, 'ब' ब्रामान्टीप में यह बतलाता है कि इसको बारबारा मे परिवर्तन करना है। 'क' केसारे मे यह बतलाता है कि यह फेलारेण्ट में बदलना है। 'द' दाराती में यह द्योतित करता है कि इसको दारीई मे बदलना है। तथा 'फ' फेस्तीनो में यह बतलाता है कि इसको हमें फीरीओ मे बदलना है, इत्यादि।

'स' (S) पहले आए कुछ स्वर के अनुसार उस वाक्य के साधारण परिवर्तन को बतलाता है।

'प' (P) पहले आए हुए स्वर के अनुसार उस वाक्य के परिमित परिवर्तन को बतलाता है।

जब 'स' और 'प' तीसरे स्वर के बाद आते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि नवीन सिलाजिज्म के निष्कर्ष को अवश्यानुसार चाहे साधारण रीति से या परिमित रूप से परिवर्तन करना है।

म' (M) विपर्यास बतलाता है अर्थात् वाक्यों को अदल-बदल कर डालना चाहिये। दी हुई सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य नवीन सिलाजिज्म का प्रथम आकृति में अमुख्य वाक्य हो जाता है और दी हुई सिलाजिज्म का अमुख्य वाक्य, नवीन सिलाजिज्म का प्रथम आकृति में मुख्य वाक्य हो जाता है।

क' (K) पूर्वगत वाक्य का अभिमुखीकरण बतलाता है। अतः क स' दोनों दो प्रक्रियाओं के द्योतक हैं अर्थात् पहले अभिमुखीकरण करना चाहिये पश्चात् साधारण परिवर्तन करना चाहिये—यानी मिश्रप्रमाण करना चाहिये। स क' भी उसी प्रकार दो प्रक्रियाओं का द्योतक है अर्थात् पहिले साधारण परिवर्तन करना चाहिये और पश्चात् अभिमुखीकरण करना चाहिये। यदि 'स क' तृतीय स्वर के बाद आवें तो इसका अर्थ यह है कि नवीन सिलाजिज्म का निष्कर्ष साधारण रीति से प्रथम परिवर्तित करना चाहिये और पश्चात् उसका अभिमुखीकरण करना चाहिये।

'क (C) बतलाता है कि सिलाजिज्म प्रतिलोम से परिवर्तित होगा। बारोको और बोकार्डो ही दो ऐसी सिलाजिज्म हैं जिनमें वर्ण 'क' (C) आता है। अन्य तार्किकों ने उनको प्रतिलोम विधि से परिवर्तित किया है। यह सम्भव है कि इनको अनुलोम विधि से भी परिवर्तित किया जा सकता है तब इनको फाक्सोको (Faksoko) और डोक्सा

मोस्क या डोक्साम्रोस्क (Doksamosk or Doksamrosk) क्रमानुसार कहा जावेगा। इनके अतिरिक्त अन्य वर्ण 'र' वगैरह निरर्थक हैं और केवल उच्चारणार्थ प्रयोग किये गये हैं।

५—अपूर्ण अवस्थाओं का अनुलोम रूपान्तरकरण

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाएँ

(१) **केसारे** (Cesare) — **केलारेएट** (Celarent)

ए	कोई 'वि' 'म' नहीं।	स	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
आ	सब 'उ' 'म' हैं।		सब 'उ' 'म' हैं	आ
ए	कोई 'उ' 'वि' नहीं है।		कोई 'उ' 'वि' नहीं है।	ए

(२) **कामेस्ट्रेस** (Camestres) — (**केलारेएट** Celarent)

आ	सब 'वि' 'म' है		कोई 'म' 'उ' नहीं है।	ए
ए	कोई 'उ' 'म' नहीं है।		सब 'वि' 'म' हैं।	आ
ए	कोई 'उ' 'वि' नहीं है।		कोई 'वि' 'उ' नहीं है।	ए
			परिवर्तन से	
			कोई 'उ' 'वि' नहीं है।	

(३) **फेस्तीनो** (Festino) — **फीरीओ** (Ferio)

ए	कोई 'वि' 'म' नहीं है।	स	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
ई	कुछ 'उ' 'म' हैं।		कुछ 'उ' 'म' हैं।	ई
ओ	कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।		कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	ओ

बारोको (Baroco)=**फाक्सोको** (Faksoko) **फीरीओ** (Ferio)

आ	सब 'वि' 'म' हैं।	क स	कोई 'अ-म' 'वि' नहीं है।	ए
ओ	कुछ 'उ' 'म' नहीं हैं।	क	कुछ 'उ' 'अ-म' नहीं हैं।	ई
ओ	कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।		कुछ 'उ' 'वि' नहीं है	ओ

(२) तृतीय आकृति की अवस्थाएँ

(१) दाराप्ती (Darapti)			**दारीई (Darii)**	
आ	सब 'म 'वि हैं।		सब 'म' 'वि हैं।	आ
आ	सब 'म' 'उ' हैं।	प	कुछ उ' 'म' हैं।	ई
ई	कुछ 'उ' 'वि' हैं।		कुछ 'उ' 'वि हैं।	ई
(२) दीसामस (Disamis)			**दारीई (Darii)**	
ई	कुछ 'म' 'वि' हैं।		सब 'म 'उ' हैं।	आ
आ	सब 'म 'उ' हैं।		कुछ 'वि' म' हैं।	ई
ई	कुछ 'उ वि' हैं।		कुछ 'वि 'उ' हैं।	ई
			परिवर्तन से	
			कुछ 'उ' 'वि हैं।	
(३) दातीसी (Datisi)			**दारीई (Darii)**	
आ	सब म 'वि हैं।		सब म' वि' हैं।	आ
ई	कुछ 'म उ' हैं।	स	कुछ उ' म' हैं।	ई
ई	कुछ 'उ' 'वि' है।		कुछ 'उ' 'वि हैं।	ई
(४) फेलाप्टोन (Felapton)			**फेरीओ (Ferio)**	
	कोई 'म' वि' नहीं है।		कोई म 'वि' नहीं है।	
	सब म' 'उ' हैं।	प	कुछ 'उ म है।	
	कुछ 'उ' वि' नहीं हैं।		कुछ उ' वि नहीं है।	
(५) बोकार्दो (Bocardo)			**दोक्सामोस्क (Doksamosk)**	
			दारीई (Darii)	
ओ	कुछ म' 'वि' नहीं हैं।		सब म' उ हैं।	आ
आ	सब म' 'उ नहीं हैं।		कुछ 'अवि' म हैं।	ई
ओ	कुछ उ' वि नहीं हैं।		कुछ 'अवि 'उ' हैं।	ई
			परिवर्तन से	
			कुछ 'उ' अवि हैं।	
			अभिमुखीकरण से	
			कुछ उ' 'वि' नहीं हैं।	

(६) फेरीसोन (Ferison) — फेरीओ (Ferio)

ए	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
ई	कुछ 'म' 'उ' है। स	कुछ 'उ' 'म' हैं।	ई
ओ	कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	ओ

(३) चतुर्थ आकृति की अवस्थाएँ

(१) ब्रामान्टीप (Bramantip) — बारबारा (Barbara)

आ	सब 'वि' 'म' है।	सब 'म' 'उ' है।	आ
आ	सब 'म' 'उ' है।	सब 'वि' 'म' हैं।	आ
ई	कुछ 'उ' 'वि' हैं।	कुछ 'वि' 'उ' हैं।	आ
		परिवर्तन से	
		कुछ 'उ' 'वि' है।	

(२) कामेनेज (Camenes) — केलारेण्ट (Celarent)

आ	सब 'वि' 'म' हैं।	कोई 'म' 'उ' नहीं है।	ए
ए	कोई 'म' 'उ' नहीं हैं।	सब 'वि' 'म' हैं।	आ
ए	कोई 'उ' 'वि' नहीं हैं।	कोई 'वि' 'उ' नहीं हैं।	ए
		परिवर्तन स	
		कोई 'उ' 'वि' नहीं हैं।	

(३) दीमारीस (Dimaris) — दारीई (Darii)

ई	कुछ 'वि' 'म' हैं।	सब 'म' 'उ' हैं।	आ
आ	सब 'म' 'उ' हैं।	कुछ 'वि' 'म' हैं।	ई
ई	कुछ 'उ' 'वि' हैं।	कुछ 'वि' 'उ' हैं।	ई
		परिवर्तन से	
		कुछ 'उ' 'वि' है।	

(४) फेसापो (*Fesapo*)		फेरीओ (*Ferio*)	
ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।	ब	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
आ सब 'म' 'उ' हैं।	प	कुछ 'उ' 'म' हैं।	ई
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।		कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	ओ

(५) फ्रेसीसोन (*Fresison*)		फेरीओ (*Ferio*)	
ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।	ब	कोई 'म' 'वि' नहीं है।	ए
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।	ब	कुछ 'उ' 'म' हैं।	ई
ओ. कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।		कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	ओ

(६) अपूर्ण अवस्थाओं का प्रतिलोम रूपान्तरकरण

रूपान्तरकरण को हम प्रतिलोम विधि से करना तब कहते हैं जब हम प्रथम आकृति में एक नया सिलाजिज्म बनाते हैं जो मूल निष्कर्ष के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य की असत्यता को सिद्ध कर मूल निष्कर्ष की सत्यता को प्रतिस्थापित करता है। यदि मूल निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मिथ्या सिद्ध होता है तो मूल निष्कर्ष सिद्ध हो जायगा। इसको **मूर्खतापूर्ण परिवर्तन** (Reductio ad absurdum) भी कहते हैं क्योंकि यह इस कल्पना से आरम्भित होता है कि *दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य सही है; किन्तु* वास्तव में इस प्रकार की कल्पना असत्य या मूर्खतापूर्ण ठहरती है। इसको **असंभवनीय परिवर्तन** (Reductio ad impossible) भी कहते हैं।

यद्यपि प्रतिलोम रूपान्तरकरण का प्रयोग 'बारोको' (Baroco) और 'बोकार्डो' (Bocardo) के लिये ही आविष्कृत किया गया था किन्तु आजकल हम इसका प्रयोग किसी भी अपूर्ण अवस्थाओं के लिये कर सकते हैं। अब हम यहाँ प्रत्येक अपूर्ण अवस्था का रूपान्तरकरण प्रतिलोम विधि से करेंगे।

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाएँ—

(१) केसारे (Cesare)

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।
आ सब 'उ' 'म' हैं।
ए . कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि मान लिया जाय कि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कुछ 'उ' 'वि' है' (ई) अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर और मूल वाक्य को मुख्य वाक्य मानकर हम एक नया सिलाजिज्म बनाते हैं। जैसे,

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है। (मूल वाक्य)
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं। (मूल का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य)
ओ . कुछ 'उ' 'म' नहीं है। (नवीन निष्कर्ष)

यह 'फेरीओ' है। यह सत्य अवस्था प्रथम आकृति की है। क्योंकि इसमें 'वि' मध्यम पद है और वह मुख्य वाक्य में उद्देश्य है और अमुख्य वाक्य में विधेय है। अब यह स्पष्ट है कि यह नया निष्कर्ष मूल का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है जिसको सिलाजिज्म के नियमानुसार अवश्य ही सत्य मानना चाहिये। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि नवीन निष्कर्ष है अवश्य ही मिथ्या होगा। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है! यह मिथ्यापन तर्क की प्रक्रिया के कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह तो सत्य अवस्था 'फेरीओ' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल वाक्य में है। अत. इसका मिथ्या होना नवीन अमुख्य वाक्य के कारण है। या दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी पद जो कि मूल का निष्कर्ष है वह सत्य है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दिये हुए वाक्य के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य का हमने अमुख्य वाक्य के स्थान पर लिया है और मुख्य वाक्य को मूल शिलाविम्न से ले लिया है। यदि इसके विरुद्ध हम दिये हुए शिलाविम्न के निष्कर्ष को मुख्य वाक्य के स्थान में रक्खें और अमुख्य वाक्य को मूल शिलाविम्न में से लें तो हमको प्रथम आकृति में सत्य अवस्था नहीं मिल सकती। प्रतिलोम रूपान्तर में तथा अनुलोम रूपान्तर में दिये हुए शिलाविम्न को प्रथम आकृति के शिलाविम्न में परिवर्तित कर देना चाहिये। अतः दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य प्रतिलोम रूपान्तर में या तो मुख्य वाक्य या अमुख्य वाक्य के स्थान में रक्खा जा सकता है जिससे कि इसको लेकर और दिये हुए शिलाविम्न में से दूसरा वाक्य लेकर प्रथम आकृति में सत्य अवस्था बन जाय। कभी कभी ऐसा भी संभव है कि दिये हुए वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य इच्छानुसार चाहे मुख्य वाक्य के, चाहे अमुख्य वाक्य के, स्थान में लिया जा सकता है क्योंकि दोनों उदाहरणों में दिये हुए शिलाविम्न में से एक वाक्य को लेकर उसके साथ दूसरे को जोड़ कर हम प्रथम आकृति में एक सत्य अवस्था तैय्यार करते हैं।

(२) कामेस्ट्रेस (Camestres)

आ सब 'वि' 'म' हैं।
ए कोई 'उ' 'म' नहीं है।
ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष म हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर और मूल शिलाविम्न का मुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में नवीन शिलाविम्न तैय्यार करते हैं:—

आ सब 'वि' 'म' हैं।
ई कुछ 'उ 'वि' है।
ई . कुछ 'उ' 'म' हैं।

यहाँ 'वि' को मध्यम पद मानकर 'दारीई' नया सिलाजिज्म बनाया गया है। यह नवीन निष्कर्ष मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है जिसे हमें सत्य समझना चाहिये। अत नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है? यह मिथ्यापन तर्क प्रणाली का परिणाम तो नहीं हो सकता जो कि 'दारीई' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही मुख्य वाक्य है, इसलिये उसे तो सत्य ही मानना चाहिये। अतः नवीन निष्कर्ष का मिथ्या होना अमुख्य वाक्य के मिथ्या होने के कारण कहा जा सकता है। इस प्रकार नवीन अमुख्य वाक्य को असत्य सिद्ध करने से इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि मूल का निष्कर्ष है उसे सत्य समझना चाहिये।

(३) फेस्तीनो (Festino)

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।
ई कुछ 'उ' 'म' हैं।
ओ कुछ 'उ' 'म' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अवश्य सत्य होगा। उसको अमुख्य वाक्य बनाकर और मूल सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में नया सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं :—

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।
आ सब 'उ' 'वि' हैं।
ए . कोई 'उ' 'म' नहीं है।

यहाँ 'बि' को मध्यम-पद मानकर 'केसारेण्ट' नवीन सिलाजिज्म तैय्यार किया गया है। इसमें नवीन निष्कर्ष मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है अतः सत्य नहीं हो सकता। यह नवीन निष्कर्ष मिथ्या क्यों है ? इसका मिथ्या होना तर्क की प्रणाली के कारण तो नहीं हो सकता जो कि 'केसारेण्ट' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि यह तो वही है जो मूल वाक्य में है। अतः इसका मिथ्या होना नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो कि मिथ्या सिद्ध हो चुका है; अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि निष्कर्ष है अवश्य सत्य होना चाहिये।

(४) बारोको (Baroco)

आ सब 'बि' 'म' हैं। सब घोड़े चतुष्पद हैं।

ओ कुछ 'उ' 'म' नहीं है। कुछ जानदार चतुष्पद नहीं हैं।

ओ कुछ 'उ' 'बि' नहीं हैं। कुछ जानदार घोड़े नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य सत्य होना चाहिये। अर्थात् सब 'उ' 'बि' हैं' या सब जानदार घोड़े हैं' यह सत्य होना चाहिये। इसके अमुख्य वाक्य बनाने पर और मूल सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में एक नवीन सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं:—

आ सब 'बि' 'म हैं। सब घोड़े चतुष्पद हैं।

आ सब उ 'बि' हैं। सब जानवर घोड़े हैं।

आ सब 'उ' 'म हैं। सब जानवर चतुष्पद हैं।

यह तर्क 'बारबारा' है और 'बि' इनमें मध्यम पद है। नया निष्कर्ष जो कि मूल अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, मिथ्या है। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है ? इसका मिथ्या होना तर्क प्रणाली के कारण तो नहीं हो सकता क्योंकि यह बारबारा है और न

इसका मिथ्या होना नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल सिलाजिज्म मे है। अतः नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या प्रतीत होता है। अतः इसका जो आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, वह सत्य होना चाहिये।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये कि प्रतिलोम विधि से द्वितीय आकृति की अवस्थाओं का प्रथम आकृति की अवस्थाओं में रूपान्तर करने मे हमे दिये हुए निष्कर्ष का केवल आत्यन्तिक विरोधी पद नवीन सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य के स्थान में, सत्य अवस्था बनाने के लिये, लेना पड़ता है।

(२) तृतीय आकृति की अवस्थाएँ

(१) दाराप्ती (Darapti)

आ सब 'म' वि' है।
आ सब 'म' 'उ' है।
ई . कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम एक नया सिलाजिज्म प्रथम आकृति में बनाते हैं:—

ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
आ सब 'म' 'उ' है।
ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था 'केलारेण्ट' है। यह नवीन निष्कर्ष मूल मुख्य वाक्य का विरोधी वाक्य है, इसलिये मिथ्या होना चाहिये। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है?

यह मिथ्यापन तर्क की प्रणाली के कारण तो हो नहीं सकता

क्योंकि वह 'फैसारेवट' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल में है। अतः यह अवश्य नवीन मुख्य वाक्य के कारण होना चाहिये जो इस प्रकार मिथ्या सिद्ध हो चुका है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(२) दीसामीस (Disamis)

ई कुछ म' 'वि' है।
आ सब 'म' 'उ' है।
ई कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष मिथ्या हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और मूल सिलाजिज़्म के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम एक नवीन सिलाजिज़्म प्रथम आकृति में बनाते हैं:—

ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
आ सब म' 'उ' है।
ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और वह अवश्य 'फैसारेवट' है। यह नया निष्कर्ष मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, अतः यह मिथ्या होना चाहिये। इसका मिथ्या होना किसी तर्क-प्रणाली के कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि वह 'फैसारेवट' है और न वह नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल में है। अतः नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। इसलिये इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य—अर्थात् मूल का निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये

(३) दातीसी (Datisi)

आ   सब 'म' 'वि' हैं।
ई   कुछ 'म' 'उ' हैं।
ई   कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ' 'वि' नहीं हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर तथा मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर हम एक नवीन सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं :—

ए   कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
ई   कुछ 'म' 'उ' हैं।
ओ   कुछ 'म' 'वि' नहीं हैं।

इसमें 'उ' मध्यम पद है और अवस्था 'फेरीओ' है तथा नवीन निष्कर्ष जो मूल सिलाजिज्म के मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, मिथ्या होना चाहिये। इसके मिथ्या होने का क्या कारण है ? यह किसी तर्क-प्रणाली का तो दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वह 'फेरीओ' है जो कि प्रथम आकृति की सत्य अवस्था है। और न अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल में है। अत. इसकी असत्यता नवीन मुख्य वाक्य के कारण है—जिसकी इस प्रकार मिथ्या सिद्धि होने पर—उसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अर्थात् मूल का निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(४) फेलाप्तोन (Felapton)

ए   कोई 'म' 'वि' नहीं है।
आ   सब 'म' 'उ' हैं।
ओ   कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि इस उदाहरण में दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'सब उ 'वि हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। अब हम इसको मुख्य वाक्य मानकर तथा मूल सिलाजिज्म के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर एक नवीन सिलाजिज्म तैयार करते हैं:—

आ सब उ 'वि हैं।
आ सब म' 'उ' हैं।
आ सब 'म' वि' हैं।

इस उदाहरण में 'उ मध्यम पद है और सिलाजिज्म 'बारबारा' है। नवीन निष्कर्ष जो कि मूल सिलाजिज्म के मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, मिथ्या होना चाहिये। इसकी असत्यता किसी तर्क प्रणाली के कारण नहीं हो सकती जो कि 'बारबारा' है और न अमुख्य वाक्य के कारण ही सकती है क्योंकि वह तो वही है जो कि मूल में है। इसलिये इसका मिथ्यापन अवश्य ही नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो कि सब मिथ्या है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो कि मूल का निष्कर्ष है अवश्य सत्य होना चाहिये।

(५) बोकार्डो (Bocardo)

ओ कुछ 'म' वि' नहीं हैं। कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं।
आ सब म उ हैं। सब मनुष्य मरणशील हैं।
ओ कुछ उ' वि हैं। कुछ मरणशील बुद्धिमान नहीं हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य "सब 'वि हैं" अर्थात् "सब मरणशील बुद्धिमान हैं" यह सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर तथा दिये हुए

अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर हम नवीन सिलाजिज्म बनाते हैं।—

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
आ . सब 'म' 'वि' है।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था प्रथम आकृति में बारबारा है। यह नवीन निष्कर्ष जो मूल सिलाजिज्म के मुख्य-वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है, अवश्य मिथ्या होना चाहिये। इसका मिथ्या होना तर्क प्रणाली के कारण तो नहीं हो सकता क्योंकि वह 'बारबारा' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो कि वही है जो मूल सिलाजिज्म मे हैं, इसलिये नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत. इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य, अर्थात् मूल का निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(६) फेरीसोन (Ferison)

ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि दिया हुआ निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य, "सब 'उ' 'वि' है" अवश्य सत्य होगा। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और दिये हुए वाक्यों में से अमुख्य वाक्य लेकर हम एक नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैयार करते हैं।—

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ई कुछ 'म' 'वि' हैं।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था 'दारीई' है।

इस अवस्था के निष्कर्ष को परिवर्तित कर हमें निम्नलिखित निष्कर्ष मिलता है:—

कुछ 'म' 'ठ' हैं।

यह वाक्य 'कुछ 'म' 'ठ' हैं' मिथ्या है क्योंकि मूल अनुक्त वाक्य का यह आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। इसका मिथ्यापन कोई तर्क की प्रणाली की असत्यता के कारण नहीं है और न परिवर्तन के कारण है, क्योंकि परिवर्तन के किसी नियम का भंग नहीं किया गया है। अतः इसका मिथ्यापन 'कुछ 'ठ' 'म' है' इस वाक्य के मिथ्या होने के कारण है। इसलिये नवीन विलाविम्ब का 'कुछ 'ठ' 'म' है' यह निष्कर्ष ग़लत है। इसके मिथ्या होने का कारण क्या है। इसके मिथ्यापन का कारण मुख्य वाक्य तो हो नहीं सकता क्योंकि वह तो वही है जो मूल वाक्य में है और न इसका कारण तर्क प्रणाली ही हो सकता है क्योंकि यह प्रथम आकृति की ठीक ठीक अवस्था है। इसलिये इसका मिथ्यापन नवीन अनुक्त वाक्य के कारण हो सकता है जिसको हम मिथ्या सिद्ध कर चुके हैं। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मूल निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(३) डीमारीस (Dimaris)

ई कुछ 'वि' 'म' हैं।
आ सब 'म' 'ठ' हैं।
ई कुछ 'ठ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'ठ' 'वि' नहीं हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और दिया हुआ अनुक्त वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति से नवीन विलाविम्ब तैय्यार करते हैं।

ए   कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

आ   सब 'म' 'उ' हैं।

ए   कोई 'म' 'वि' नहीं है।

इस उदाहरण मे 'उ' मध्यम पद है और अवस्था केलारेण्ट है इसको भी परिवर्तित करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।

कोई 'वि' 'म' नहीं है।

नये निष्कर्ष का यह परिवर्तित रूप मिथ्या है क्योंकि यह दिये हुए मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। अत नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। नवीन निष्कर्ष की असत्यता नवीन मुख्य वाक्य की असत्यता के कारण से है। इसकी असत्यता तर्क की प्रणाली से नहीं पैदा हुई है क्योंकि वह प्रथम आकृति में 'केलारेण्ट' अवस्था है, तथा नवीन अमुख्य वाक्य वही है जो मूल सिलाजिज्म में था। इसलिये नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत मूल का निष्कर्ष, जो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है सत्य होना चाहिये।

(४) फेसापो (Fesapo)

ए   कोई 'वि' 'म' नहीं है।

आ   सब 'म' 'उ' हैं।

ओ .   कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'सब 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं :—

आ   सब 'उ' 'वि' हैं।

आ   सब 'म' 'उ' हैं।

आ   सब 'म' 'वि' हैं।

यह नवीन निष्कर्ष मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य होने के कारण मिथ्या है। इसका मिथ्या होना किसी तर्क प्रणाली के कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि यह 'दारीई' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि यह तो वही है जैसा कि मूल अमुख्य वाक्य है। अतः नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अतः इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अर्थात् मूल का निष्कर्ष सत्य है।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जब हम तृतीय आकृति की अवस्थाओं का रूपान्तर करते हैं तब हमें प्रथम आकृति में सत्य अवस्था लाने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य नये सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य बनाना पड़ता है।

(४) चतुर्थ आकृति की अवस्थायें—

(१) ब्रामान्टीप (Bramantip)

आ सब 'वि' 'म' हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य न हो तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'उ 'वि' नहीं है सत्य नहीं हो सकता। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर हम एक नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं।

ए कोई 'उ 'वि' नहीं हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ए कोई 'म' 'वि नहीं हैं।

यह 'सेलारेण्ट' है और इसमें मध्यम पद 'उ' है। इसका परिवर्तित कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है—

कोई 'वि' 'म' नहीं है।

इस उदाहरण में 'कोई 'वि' 'म' नहीं है यह मूल मुख्य वाक्य का विरोधी वाक्य है और यह मिथ्या होना चाहिये। यह वाक्य जो मिथ्या सिद्ध किया गया है वह नवीन निष्कर्ष का परिवर्तित रूप है। अत, इसका मिथ्या होना या तो परिवर्तन के नियमों को भग करने के कारण से है या परिवर्त्य के असत्य होने के कारण से है। किन्तु यहाँ परिवर्तन के नियम ठीक तौर से पालन किये गये हैं, इसलिये परिवर्त्य अर्थात् नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। यदि नवीन निष्कर्ष मिथ्या है तो इसके मिथ्या होने का कारण क्या है? इसका मिथ्या होना तर्क की प्रणाली के कारण तो हो नहीं सकता जो कि 'केलारेण्ट' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जो वही है जो कि मूल निष्कर्ष है। वह मिथ्या सिद्ध हो चुका है, इसलिये इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अर्थात् मूल का निष्कर्ष सत्य होना चाहिये। अतः सिद्ध है कि दिया हुआ सिलाजिज्म ठीक है।

(२) कामेनेस (Camenes)

आ सब 'वि' 'म' हैं।
ए कोई 'म' 'उ' नहीं है।
ए . कोई 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य "कुछ 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होगा। इसको अमुख्य वाक्य बनाकर और दिये हुए मुख्य वाक्य को मुख्य वाक्य मानकर हम सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं —

आ सब 'वि' 'म' हैं।
ई कुछ 'उ' 'वि' हैं।
ई कुछ 'उ' 'म' हैं।

इस उदाहरण में 'वि' मध्यम पद है और 'दा री ई' अवस्था है।

इस अवस्था के निष्कर्ष को परिवर्तित कर हमें निम्नलिखित निष्कर्ष मिलता है:—

कुछ 'म' 'ठ' हैं।

यह वाक्य 'कुछ 'म 'ठ' हैं' मिथ्या है क्योंकि मूल अमुख्य वाक्य का यह आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। इसका मिथ्यापन कोई तर्क की प्रणाली की असत्यता के कारण नहीं है और न परिवर्तन के कारण है, क्योंकि परिवर्तन के किसी नियम का भंग नहीं किया गया है। अत इसका मिथ्यापन 'कुछ ठ 'म' है इस वाक्य के मिथ्या होने के कारण है। इसलिये नवीन सिलाजिज्म का 'कुछ ठ' म' है यह निष्कर्ष गलत है। इसके मिथ्या होने का कारण क्या है? इसके मिथ्यापन का कारण मुख्य वाक्य तो हो नहीं सकता क्योंकि यह तो वही है जो मूल वाक्य में है और न इसका कारण तर्क प्रणाली ही हो सकता है क्योंकि यह प्रथम आकृति की दारीई अवस्था है। इसलिये इसका मिथ्यापन नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जिसको हम मिथ्या सिद्ध कर चुके हैं। अत इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य, मूल निष्कर्ष अवश्य सत्य होना चाहिये।

(३) दीमारीस (Dimaris)

ई कुछ 'वि' 'म' हैं।
आ सब 'म' ठ' हैं।
ई कुछ 'ठ' 'वि हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'कोई 'ठ' वि' नहीं है' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य बनाकर और दिया हुआ अमुख्य वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति के नवीन सिलाजिज्म तैय्यार करते हैं।

ए कोई 'उ' 'वि' नहीं है।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ए कोई 'म' 'वि' नहीं है।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था केलारेण्ट है इसको भी परिवर्तित करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।

. कोई 'वि' 'म' नहीं है।

नये निष्कर्ष का यह परिवर्तित रूप मिथ्या है क्योंकि यह दिये हुए मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। अत नवीन निष्कर्ष मिथ्या है। नवीन निष्कर्ष की असत्यता नवीन मुख्य वाक्य की असत्यता के कारण से है। इसकी असत्यता तर्क की प्रणाली से नहीं पैदा हुई है क्योंकि वह प्रथम आकृति में 'केलारेण्ट' अवस्था है, तथा नवीन अमुख्य वाक्य वही है जो मूल सिलाजिज्म में था। इसलिये नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत भूल का निष्कर्ष, जो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है सत्य होना चाहिये।

(४) फेसापो (Fesapo)

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'सब 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। इसको मुख्य वाक्य मानकर और मूल के अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं .—

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
आ सब 'म' 'उ' हैं।
आ सब 'म' 'वि' हैं।

ए कोई 'मि' 'म' नहीं है।	(मूल मुख्य वाक्य)
मा सब 'ठ' 'वि' है।	(दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य)
ऐ कोई 'ठ' 'म' नहीं है।	फेसारेस्ट के अनुसार
ए कोई म' ठ नहीं है।	परिवर्तन द्वारा

यह अन्तिम वाक्य 'कोई 'म' ठ नहीं है' मूल के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है और इसलिये मिथ्या है। इसके मिथ्यापन का कारण क्या है? इसका मिथ्यापन परिवर्तन के कारण तो हो नहीं सकता। अतः 'कोई 'ठ' 'म' नहीं है' यह वाक्य मिथ्या है। इसकी असत्यता किसी गलत तर्क-प्रणाली से नहीं हो सकती क्योंकि यह फेसारेस्ट है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकती है क्योंकि यह वही है जो कि मूल में मुख्य वाक्य है। अतः नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या है। इसलिये मूल का निष्कर्ष सत्य होना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में एक नवीन सिलाजिज्म बना सकते हैं चाहे हम उसे मुख्य वाक्य बनावें या अमुख्य वाक्य बनावें, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में दिये हुए सिलाजिज्म में उनको जोड़कर हम प्रथम आकृति में नवीन अवस्थाओं को तैय्यार करते हैं और उनसे उनकी सत्यता सिद्ध की जाती है।

संक्षेप में याद करने के लिये हमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाओं को और कामेनेस (च ध्रा) को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अमुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(२) तृतीय आकृति का और चतुर्थ आकृति की अवस्थाओं को (फामेनेज को छोड़कर) प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(३) 'फेसापो' और 'फ्रेसीसोन' को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य या तो मुख्य वाक्य के रूप में या अमुख्य वाक्य के रूप में लिया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

१ रूपान्तरकरण किसे कहते हैं? तर्कशास्त्र में इसका क्या अर्थ ग्रहण किया जाता है? उदाहरण देकर समझाओ।

२ अनुलोम-विधि से और प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण करने से क्या अभिप्राय है? दोनों विधियों का एक-एक उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

३, निम्नलिखित तर्कों का प्रथम आकृति मे रूपान्तरकरण करो।—

(क) कोई तारे ग्रह नहीं है।
सब तारे जीवित पदार्थ हैं।
. कुछ जीवित पदार्थ तारे नहीं है।

(ख) सब सेनेट के सदस्य मनुष्य हैं।
सब सेनेट के सदस्य दार्शनिक नहीं हैं।
. सब मनुष्य दार्शनिक नहीं हैं।

(ग) सब सूर्य स्वतः प्रकाश हैं।
कुछ तारे स्वतः प्रकाश नहीं हैं।
कुछ तारे सूर्य नहीं हैं।

४ निम्नलिखित के उदाहरण दो और उनको अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विधियों से रूपान्तरकरण करो:—

इस उदाहरण में मध्यम पद 'उ' है और अवका प्रथम आकृति में 'बारबारा' है। इसको परिवर्तित कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।

कुछ 'वि' 'म' हैं।

इसमें 'कुछ 'वि' 'म' हैं' यह वाक्य मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी है अतः इसको मिथ्या होना चाहिये। यह वाक्य जो मिथ्या सिद्ध किया गया है नवीन निष्कर्ष का परिवर्तित रूप है। अतः इसका मिथ्यापन या तो परिवर्तन के नियमों का उल्लंघन करने से होना चाहिये या परिवार्य के मिथ्यापन से होना चाहिये। किन्तु हम देखते हैं कि यहाँ परिवर्तन के नियमों का पूर्णतया पालन किया गया है। इसलिये परिवार्य 'सब 'म' 'वि हैं'' जो कि नवीन निष्कर्ष है, असत्य है। यदि नवीन निष्कर्ष मिथ्या है तो इसके मिथ्या होने का क्या कारण है? यह तर्क-प्रणाली से पैदा हुआ तो नहीं प्रतीत होता जो कि बारबारा है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकता है क्योंकि यह तो वही है जो कि मूल का अमुख्य वाक्य है। अतः इसका मिथ्या होना नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकता है जिसको मिथ्या सिद्ध किया जा चुका है। इसलिये मूल सिलाजिज्म का निष्कर्ष जो इसका आत्यन्तिक विरोधी पद है अवश्य सत्य होना चाहिये। इस हेतु से, दिया हुआ सिलाजिज्म सत्य होना चाहिये।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दिये हुए निष्कर्ष के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य को अमुख्य वाक्य मानकर भी हम प्रथम आकृति में सत्य सिलाजिज्म बना सकते हैं।

(५) फ्रेसीसोम (Fresison)

प कोई 'वि' 'म' नहीं है।
ई कुछ म' 'उ हैं।
ओ कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य 'सब 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होना चाहिये। इस आत्यन्तिक विरोधी वाक्य को मुख्य वाक्य मानकर और दिये हुए अमुख्य वाक्य को अमुख्य वाक्य लेकर हम नवीन सिलाजिज्म प्रथम आकृति में तैय्यार करते हैं।

आ सब 'उ' 'वि' हैं।
ई कुछ 'म' 'उ' हैं।
ई ∴ कुछ 'म' 'वि' हैं।

इस उदाहरण में 'उ' मध्यम पद है और अवस्था प्रथम आकृति में 'दा री ई' है। इसको परिवर्तित कर यह निष्कर्ष निकाला गया है।

कुछ 'वि' 'म हैं।

यह अन्तिम वाक्य मूल मुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है। इसका मिथ्यापन परिवर्त्य के मिथ्यापन से तो हो सकता नहीं क्योंकि उसमें परिवर्तन के सब नियमों का पालन किया गया है। इसलिये नवीन निष्कर्ष मिथ्या होना चाहिये। इस नवीन निष्कर्ष की असत्यता तर्क-प्रणाली से तो पैदा नहीं हुई है क्योंकि वह 'दा री ई' है और न नवीन अमुख्य वाक्य के कारण हो सकती है क्योंकि वह भी वही है जो कि मूल का अमुख्य वाक्य है। यह नवीन मुख्य वाक्य मिथ्या है। अत: इसका आत्यन्तिक विरोधी वाक्य जो दिया हुआ निष्कर्ष है वह अवश्य सत्य होना चाहिये। 'फ़े सिसोन' को हम चाहें तो दूसरी प्रकार से भी प्रतिलोम विधि द्वारा सत्य सिद्ध कर सकते हैं। इसके लिये हम दिये हुए निष्कर्ष 'सब 'उ' 'वि' हैं' के आत्यन्तिक विरोधी वाक्य को नवीन सिलाजिज्म का अमुख्य वाक्य मानकर और मुख्य वाक्य को (कोई 'वि' 'म' नहीं है) दिये हुए सिलाजिज्म से लेकर निम्नलिखित सिलाजिज्म बनाते हैं:—

ए कोई 'वि' 'म' नहीं है।	(मूल मुख्य वाक्य)
आ सब 'उ' 'वि' है।	(दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य)
ऐ कोई 'उ' म' नहीं है।	केसारेंट के अनुसार
ए कोई 'म' 'उ नहीं है।	परिवर्तन द्वारा

यह अन्तिम वाक्य 'कोई म' उ नहीं है मूल के अमुख्य वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य है और इसलिये मिथ्या है। इसके मिथ्यापन का कारण क्या है? इसका मिथ्यापन परिवर्तन के कारण तो हो नहीं सकता। अतः 'कोई 'उ' 'म' नहीं है' यह वाक्य मिथ्या है। इसकी असत्यता किसी गलत तर्क-प्रणाली से नहीं हो सकती क्योंकि यह 'केसारेंट' है और न नवीन मुख्य वाक्य के कारण हो सकती है क्योंकि यह वही है जो कि मूल में मुख्य वाक्य है। अतः नवीन अमुख्य वाक्य मिथ्या है। इसलिये मूल का निष्कर्ष सत्य होना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि *दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक* विरोधी वाक्य लेकर हम प्रथम आकृति में एक नवीन सिलाजिज्म बना सकते हैं चाहे हम उसे मुख्य वाक्य बनायें या अमुख्य वाक्य बनायें, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में दिये हुए सिलाजिज्म से उनको जोड़कर हम प्रथम आकृति में नवीन अवस्थाओं को तैय्यार करते हैं और उनसे उनकी सत्यता सिद्ध की जाती है।

संक्षेप में याद करने के लिये हमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) द्वितीय आकृति की अवस्थाओं को और 'बामेबेअ' (च ध्रा) को *प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए* निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य अमुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(२) तृतीय आकृति की और चतुर्थ आकृति की अवस्थाओं को (कामेनेज़ को छोड़कर) प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए निष्कर्ष का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य मुख्य वाक्य के रूप में लेना पड़ता है।

(३) 'फेसापो' और 'फ़ेसीसोन' को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने के लिये दिये हुए वाक्य का आत्यन्तिक विरोधी वाक्य या तो मुख्य वाक्य के रूप में या अमुख्य वाक्य के रूप में लिया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

१ रूपान्तरकरण किसे कहते हैं ? तर्कशास्त्र मे इसका क्या अर्थ ग्रहण किया जाता है ? उदाहरण देकर समझाओ।

२. अनुलोम-विधि से और प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण करने से क्या अभिप्राय है ? दोनों विधियों का एक-एक उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

३, निम्नलिखित तर्कों का प्रथम आकृति में रूपान्तरकरण करो:—

(क) कोई तारे ग्रह नहीं है।
सब तारे जीवित पदार्थ हैं।
कुछ जीवित पदार्थ तारे नहीं है।

(ख) सब सेनेट के सदस्य मनुष्य हैं।
सब सेनेट के सदस्य दार्शनिक नहीं हैं।
∴ सब मनुष्य दार्शनिक नहीं हैं।

(ग) सब सूर्य स्वतः प्रकाश हैं।
कुछ तारे स्वतः प्रकाश नहीं हैं।
∴ कुछ तारे सूर्य नहीं हैं।

४. निम्नलिखित के उदाहरण दो और उनको अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विधियों से रूपान्तरकरण करो:—

दारासी, फारोको, बोकार्डो और सेलोन।

५. किसी अपूर्ण आकृति की २ अवस्थाओं को लो और उनका अनुलोम और प्रतिलोम विधि से प्रथम आकृति में रूपान्तर करण करो।

६. निम्नलिखित तर्क का अनुलोम विधि से:—

सब धातुएँ तत्त्व हैं।

कोई मिश्र पदार्थ तत्त्व नहीं है।

कोई मिश्र पदार्थ धातु नहीं है।

और निम्नलिखित तर्क को प्रतिलोम विधि से रूपान्तरकरण करो —

कुछ मनुष्य बुद्धिमान नहीं हैं।

सब मनुष्य समझदार हैं।

कुछ समझदार जीव बुद्धिमान नहीं हैं।

७. वह तरीका बतलाओ जिससे अवस्थाओं की सत्यता का निर्णय किया जाता है। बोकार्डो का अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विधियों से रूपान्तरकरण करो।

८. कामेस्ट्रेस में एक सिलाजिज्म बनाओ और उसको अनुलोम और प्रतिलोम विधि से रूपान्तरित करो।

९. अनुलोम और प्रतिलोम रूपान्तरकरण की विधियों में कौन सी प्रशस्त है? अपना अभिमत प्रकट करो।

१. मूर्खतापूर्ण परिवर्तन (Reductio ad absurdum) का क्या अभिप्राय है? इसको असम्भवनीय परिवर्तन (Reductio ad impossible) क्यों कहते हैं? समझाओ।

अध्याय १४

१—मिश्र सिलाजिज़्म

मिश्र सिलाजिज्म (Mixed Sylogism) वह है जिसके अङ्गीभूत वाक्य एक ही सम्बन्धवाले नहीं होते हैं। इसके तीन उपभेद हैं —(१) हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष अथवा केवल हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म (२) वैकल्पिक-निरपेक्ष अथवा केवल वैकल्पिक सिलाजिज्म और (३) उभयत: पाश (उभयसम्भव)।

२—हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज़्म

हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष (Hypothetical-Categorical) सिलाजिज्म एक प्रकार का मिश्र सिलाजिज्म है जिसमें मुख्य वाक्य हेतुहेतुमद्, अमुख्य वाक्य निरपेक्ष और निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। इसको केवल हेतुहेतुमद् सिलाजिज्म भी कहते हैं —

इस सिलाजिज्म के निम्नलिखित नियम हैं —

(१) हेतु के विधान से हेतुमद् का विधान किया जा सकता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

(२) हेतुमद् के निषेध से हेतु का निषेध किया जा सकता है किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

पहले प्रकार के सिलाजिज्म को **विधायक** (Constructive) या **विधि-प्रकार** (Modus Ponens) और दूसरे प्रकार के सिलाजिज्म को **विनाशक** (Destructive) या **निषेध प्रकार** (Modus Tollens) कहते हैं।

(१) विधि प्रकार या विधायक—

एक हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज्म को विधायक या विधि प्रकार का कहते हैं जब हम अमुख्य वाक्य में मुख्य वाक्य के हेतु का विधान करके निष्कर्ष में मुख्य वाक्य के हेतुमद् का विधान करते हैं। जैसे—

(१) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है।
यदि सूर्य निकलता है तो प्रकाश होता है।
'क' 'ख' है 'ग' 'घ' है।
सूर्य निकलता है प्रकाश होता है।

(२) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' नहीं है।
यदि विद्यालय बंद है तो राम नहीं आता है।
'क' 'ख' है 'ग' 'घ' नहीं है।
विद्यालय बंद है राम नहीं आता है।

(३) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' है।
यदि बिल्ली नहीं आती है तो चूहे खेलते हैं।
'क' 'ख' नहीं है 'ग' 'घ' है।
बिल्ली नहीं आती है चूहे खेलते हैं।

(४) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' नहीं है।
यदि अध्यापक नहीं है तो पढ़ाई नहीं होती है।
'क' 'ख' नहीं है 'ग' 'घ' नहीं है।
अध्यापक नहीं है पढ़ाई नहीं होती है।

(२) निषेध प्रकार या विनाशक—

एक हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को विनाशक या निषेध प्रकार का कहते हैं जब हम अमुख्य वाक्य में मुख्य वाक्य के हेतुमद् का निषेध करके, निष्कर्ष में मुख्य वाक्य के हेतु का निषेध करते हैं। जैसे:—

(१) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है	यदि सूर्य निकलता है तो प्रकाश होता है।
'ग' 'घ' नहीं है ∴ 'क' 'ख' नहीं है	प्रकाश नहीं होता है ∴ सूर्य नहीं निकलता है।
(२) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' नहीं है	यदि विद्यालय बद है तो राम नहीं आता है।
'ग' 'घ' है ∴ 'क' 'ख' नहीं है	राम आता है ∴ विद्यालय बद नहीं है।
(३) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' है	यदि बिल्ली नहीं आती है तो चूहे खेलते हैं।
'ग' 'घ' नहीं है ∴ 'क' 'ख' है	चूहे नहीं खेलते हैं ∴ बिल्ली आती है।
(४) यदि 'क' 'ख' नहीं है तो 'ग' 'घ' नहीं है	यदि अध्यापक नहीं है तो पढ़ाई नहीं होती है।
'ग' 'घ' है ∴ 'क' 'ख' है	पढ़ाई होती है ∴ अध्यापक है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि विधि प्रकार या विधायक और निषेध-प्रकार या विनाशक रूप, अमुख्य वाक्य के या निष्कर्ष के गुण से सम्बन्ध नहीं रखता, किन्तु केवल इससे रखता है कि अमुख्य वाक्य में हम हेतु का विधान करते है या मुख्य वाक्य में हेतुमद् का निषेध करते हैं, वह हेतु या हेतुमद् चाहे कुछ भी क्यों न हो।

(१) दोष —

यदि हम इन उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करते है तो हम या तो हेतुमद् के विधान का दोष अथवा हेतु के निषेध का दोष पैदा करते हैं। जैसे—

(१) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है। यदि वह आता है तो मैं जाऊँगा।

'क' 'ख' नहीं है 'ग' 'घ' नहीं है। वह नहीं आता है नहीं जाऊँगा।

यह सिलाजिज्म मिथ्या है और इस दोष का नाम हेतु का निषेध है। क्योंकि प्रमुख वाक्य में हमने हेतु का निषेध किया है और उसके बल पर हमने निष्कर्ष में हेतुमद् का निषेध किया है वह नियम के विरुद्ध है। यदि हम इस हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में बदल दें तो इसका रूप इस प्रकार होगा :—

सब अवस्थाएँ 'क की 'ख होती हुई 'घ' की अवस्थाएँ होती हुई 'ग' की अवस्थाएँ हैं।

यह अवस्था ख' की अवस्था होती हुई 'क की अवस्था नहीं है।

यह अवस्था 'घ' की अवस्था होती हुई 'ग' की अवस्था नहीं है

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि मुख्य पद घ' होती हुई ग' का अवस्था मुख्य वाक्य में व्याप्त में न लेकर निष्कर्ष में व्याप्त में लिया गया है। इसलिये इसमें अनियमित मुख्यपद का दोष होता है। इससे स्पष्ट है कि हेतु के निषेध का दोष शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में अनियमित मुख्य पद के बराबर है।

(२) यदि 'क' 'ख' है तो ग' 'घ' है यदि वर्षा होती है तो सुभिक्ष होता है।

'ग' 'घ' है 'क' 'ख' है सुभिक्ष होता है वर्षा होती है।

यह सिलाजिज्म दोषयुक्त है और दोष का नाम हेतुमद् का विधान

है, क्योंकि अमुख्य वाक्य में हमने निष्कर्ष का विधान किया है और उसीके बलपर हमने निष्कर्ष मे हेतु का विधान किया है जो नियम के विरुद्ध है।

यदि हम इस हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में, मुख्य वाक्य को निरपेक्ष के रूप मे बदलकर रख दें तो इसका रूप इस प्रकार होगा :—

(३) शुद्ध निरपेक्ष

सब अवस्थाएँ 'क' की 'ख' होती हुई, 'घ' की होती हुई 'ग' की अवस्थाएँ हैं।

यह अवस्था 'घ' की होती हुई 'ग' की अवस्था है।

. यह अवस्था 'ग' की होती हुई 'क' की अवस्था है।

इससे स्पष्ट है कि मध्यम पद 'घ' की होती हुई 'ग' की अवस्था को किसी भी वाक्य मे द्रव्यार्थ में नहीं लिया गया है। इसलिये यह अद्रव्यार्थी मध्यम पद का दोष आता है। इससे स्पष्ट है कि हेतुमद् के विधान का दोष और अद्रव्यार्थी मध्यम पद का दोष निरपेक्ष सिलाजिज्म मे बराबर है।

(४) निरपेक्ष सिलाजिज्म में परिवर्तन

हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म को, शुद्ध निरपेक्ष सिलाजिज्म में बदला जा सकता है और यह मुख्य वाक्यों को निरपेक्ष वाक्य में परिवर्तन करने से इस प्रकार हो सकता है। जैसे,

(१) यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है।	'क' की सब अवस्थाएँ 'ख' होती हुई, 'घ' होती हुई 'ग' की अवस्थाएँ हैं
'क' 'ख' है।	यह 'ख' होती हुई 'क' की अवस्था है।

'ग' 'घ' है।	'घ' होती हुई यह 'ग' की अवस्था है।
यदि वह आता है तो मैं आता हूं	उसकी सब आने की अवस्थाएँ मेरे आने की अवस्थाएँ हैं।
वह आता है।	यह उनके आने की अवस्था है।
मैं आता हूं।	यह उनके आने की अवस्था है।

५—वैकल्पिक-निरपेक्ष सिलाजिज्म

वैकल्पिक निरपेक्ष सिलाजिज्म (Disjunctive-Categorical) वह है जिसमें मुख्य वाक्य वैकल्पिक होता है अमुख्य वाक्य निरपेक्ष होता है और निष्कर्ष निरपेक्ष होता है। इसे केवल वैकल्पिक सिलाजिज्म भी कहते हैं।

इस प्रकार के सिलाजिज्म का निम्नलिखित नियम है:—

नियम—वैकल्पिक मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प को अमुख्य वाक्य में निषेध करने से हम मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प का निष्कर्ष में विधान कर सकते हैं। वास्तव में एक की असत्यता अन्य की सत्यता का द्योतक है। जैसे,

(१) या तो 'क' 'ख' है या 'ग' 'घ' है।	या तो वह चोर है या वह सत्पुरुष है।
'क' 'ख' नहीं है।	वह चोर नहीं है।
'ग' 'घ' है।	वह सत्पुरुष है।
(२) या तो 'क' 'ख' है या 'ग' 'घ' है।	या तो वह पापी है या वह धर्मात्मा है।

'ग' 'घ' नहीं है।	वह धर्मात्मा नहीं है।
क' 'ख' है।	∴ वह पापी है।

यूबर्वेग वगैरह कुछ ऐसे तार्किक भी हैं जो इसके विपरीत नियम को भी सत्य मानते हैं अर्थात् **मुख्य वाक्य के एक विकल्प का अमुख्य वाक्य में विधान करने पर हम दूसरे विकल्प का निष्कर्ष में निषेध भी कर सकते है।** जैसे,

(१) या तो 'क' 'ख' है या 'ग' 'घ' है।	या तो वह विद्वान् है या वह मूर्ख है।
'क' 'ख' है।	वह विद्वान है।
∴ 'ग' 'घ' नहीं है।	वह मूर्ख नहीं है।
(२) या तो 'क' 'ख' है या 'ग' 'घ' है।	या तो वह हिंसक है या वह अहिंसक है।
'ग' 'घ' है।	वह अहिंसक है।
'क' 'ख' नहीं है।	वह हिंसक नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि द्वितीय नियम सत्य है केवल उस अवस्था में जब विकल्प एक दूसरे के व्यवच्छेदक[1] हों (परिहारक हों) जैसे कि आत्यन्तिक विरोधी पद। अत साधारण रीति से पहले दो रूप (जिनमें एक विकल्प का निषेध करने पर जब हम दूसरे का विधान करते है) सत्य हैं, तथा तृतीय और चतुर्थ रूप केवल अपवाद रूपों मे सत्य हो सकते हैं।

६—उभयतः पाश (उभयसम्भव)

उभयत पाश का स्वरूप—उभयत. पाश (Dilemma) एक प्रकार का मिश्र सिलाजिज्म है जिसमें मुख्य वाक्य मिश्र

1. Mutually Exclusive.

या तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार चल सकता है या अन्य की इच्छानुसार।

किसी भी अवस्था में उसकी समालोचना होती है।

यह उभयतः पाश शुद्ध है क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष है। यह विधायक है क्योंकि अमुख्य वाक्य में हम मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करते हैं।

शुद्ध-विधायक उभयतः पाश का एक सुन्दर उदाहरण इँगलैण्ड के राजा हेनरी सप्तम (Henry VII) के अन्यायी कर्मचारी का है जिसके द्वारा वह अपराधियों को राजकोष[1] में अर्थदण्ड के रूप में बड़ी-बड़ी रकमों को देने के लिये बाध्य किया करता था। वह कहता था—

यदि अपराधी मितव्ययता[2] से रहता है तो उसने प्रचुर धन इकट्ठा किया होगा और यदि वह खुले हाथ खर्च करता है तो इससे प्रतीत होता है कि वह धनी है।

किन्तु वह या तो मितव्ययता से रहता है या खुले हाथ खर्च करता है।

उसके पास किसी भी अवस्था में प्रचुर धन है। (अर्थात् वह राजकोष में अधिक मात्रा में धन दे सकता है)। इसको एम्पसन की दुधारी (Empson s fork) कहते हैं।

(२) मिश्र विधायक—उभयतः पाश मिश्र-विधायक तब कहा जाता है जब इसमें वैकल्पिक अमुख्य वाक्य विकल्प से, भिन्न हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करता है। यह मिश्र इसलिये है क्योंकि इसमें निष्कर्ष वैकल्पिक होता है। जैसे

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ज' 'झ' है।

1 State treasury 2. Economy

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' है।

इस उभयत पाश का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण मुस्लिम सेनापति उमर खलीफा (Omar Caliph) का है जिसने अपने तर्क के बल पर अलक्षेन्द्रिया (Alexandria) के महान पुस्तकालय को जलवाकर खाक कर दिया था। उसका तर्क था —

यदि इस पुस्तकालय की पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो कुरान के रहते हुए इनकी कोई आवश्यकता नहीं है और यदि वे कुरान के विरुद्ध हैं तो अधर्म को फैलानेवाली हैं।

या तो वे पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं या उसके विरुद्ध।
या तो वे अनावश्यक हैं या अधर्म को फैलानेवाली हैं।

(२) **शुद्ध-विनाशक**—उभयत पाश शुद्ध-विनाशक तब कहलाता है जब असुख्य वाक्य विकल्प से, मिश्र हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमदों का निषेध करता है। इसे शुद्ध इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। जैसे,

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'क' 'ख' है तो 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' नहीं है या 'च' 'छ' नहीं है।
'क' 'ख' नहीं है।

यदि तुम्हे पढ़ना है तो तुम्हें कॉलिज जाना चाहिये और यदि तुम्हें पढ़ना है तो पुस्तकें खरीदना चाहिये।

या तो तुम कॉलेज नहीं जा सकते या पुस्तकें नहीं खरीद सकते।
तुम पढ़ नहीं सकते।

इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण दार्शनिक ज़ेनो (Zeno)

हेतुहेतुमद् वाक्य होता है अमुख्य वाक्य वैकल्पिक वाक्य होता है और जिसके विकल्प या तो मुख्य वाक्य के हेतु का विधान करते हैं या हेतुमद् का निषेध करते हैं और निष्कर्ष या तो निरपेक्ष होता है या वैकल्पिक होता है। अब हम उभयतः पाश के अङ्गीभूत तीनों वाक्यों की परीक्षा करते हैं—

(१) इसका मुख्य वाक्य मिश्र हेतुहेतुमद् वाक्य होता है अर्थात् इसमें दो हेतुहेतुमद् वाक्य मिले रहते हैं।

(२) इसका मुख्य वाक्य वैकल्पिक वाक्य होता है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म के नियमों के अनुसार हेतुहेतुमद् वाक्य के हेतु को हम अमुख्य वाक्य में विधान करके हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमद् का निष्कर्ष में निषेध करते हैं अथवा हेतुहेतुमद् के मुख्य वाक्य के हेतुमद् को निष्कर्ष में निषेध करके हम हेतुहेतुमद् वाक्य के हेतु का निष्कर्ष में निषेध करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उभयतः पाश वास्तव में दो हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्मों के योग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये वैकल्पिक अमुख्य वाक्य के दो विकल्प या तो हेतुओं का विधान करते हैं या हेतुमद् का निषेध करते हैं जिससे कि निष्कर्ष के अन्दर प्रथम अवस्था में, हेतुमदों का विधान हो सके और द्वितीय अवस्था में हेतुओं का निषेध हो सके।

(३) निष्कर्ष निरपेक्ष हो सकता है या वैकल्पिक। आजकल उभयतः पाश का साधारण बोलचाल में प्रयोग किया जाता है इसलिये इसका साधारण प्रयोग हमें इसके गूढ़ार्थ को स्पष्ट रूप से बतलाता है। साधारण बोलचाल में जब हम उभयतः पाश में फँस जाते हैं तब कहा जाता है कि हम दो शृंगों[1] के बीच में फँस गये हैं (यह उपमा बैल के सींगों

---

1 Horns of a bull

से ली गई है)। इसका अर्थ यह होता है कि हमारे लिये दो मार्ग खुले हुए हैं और हम दोनों में से किसी एक का भी आश्रयण करने से फँस जाते हैं। वास्तव मे हमारी दशा 'इधर कुँआ तो उधर 'खाई' वाली होती है या 'इधर दानव और उधर समुद्र' वाली होती है[1]। तर्क में भी इसी प्रकार दो विकल्पों मे से एक को ग्रहण करना पडता है और दोनों अवस्थाओं में सिवाय फँसने के और कोई रक्षा का मार्ग नहीं दीखता। इसलिये ही कहावत है कि 'हम तो दो विकल्पों में बुरी तरह फँसे'।

उभयत' पाश के रूप.—

उभयत पाश के दो रूप होते हैं (१) विधायक और (२) विनाशक तथा इन प्रत्येक के भी दो रूप होते है (१) शुद्ध और (२) मिश्र। इस प्रकार उभयत पाश के ४ रूप हो गये। (१) शुद्ध-विधायक (२) मिश्र-विधायक (३) शुद्ध-विनाशक और (४) मिश्र विनाशक ।

(१) **शुद्ध-विधायक** (Simple Constructive) उभयतः पाश शुद्ध-विधायक तब कहलाता है जब इसमें वैकल्पिक अमुख्य वाक्य विकल्प से मिश्र हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुओं का, विधान करता है। यह शुद्ध इसलिये कहलाता है कि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। जैसे —

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ग' 'घ' है। या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।

∴ 'ग' 'घ' है।

यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार चलता है तो उसकी समालोचना[2] होती है और यदि अन्य की इच्छानुसार चलता है तो भी समालोचना होती है।

---

(1) Between Scylla and Charybdis (2) Criticism

या तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार चल सकता है या अन्य की इच्छानुसार।

किसी भी अवस्था में उसकी समालोचना होती है।

यह उभयतः पाश शुद्ध है क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष है। यह विधायक है क्योंकि अमुख्य वाक्य में हम मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करते हैं।

शुद्ध-विधायक उभयतः पाश का एक सुन्दर उदाहरण इंगलैण्ड के राजा हेनरी सप्तम (Henry VII) के अन्यायी कर्मचारी का है जिसके द्वारा वह अपराधियों को राजकोष[1] में अर्थदण्ड के रूप में बड़ी-बड़ी रकमों को देने के लिये बाध्य किया करता था। वह कहता था—

यदि अपराधी मितव्ययता[2] से रहता है तो उसने प्रचुर धन इकट्ठा किया होगा और यदि वह खुले हाथ खर्च करता है तो इससे प्रतीत होता है कि वह धनी है।

किन्तु वह या तो मितव्ययता से रहता है या खुले हाथ खर्च करता है।

उसके पास किसी भी अवस्था में प्रचुर धन है। (अर्थात् वह राजकोष में अधिक मात्रा में धन दे सकता है)। इसको एम्पसन की कुदारी (Empson s fork) कहते हैं।

(२) मिश्र विधायक—उभयतः पाश मिश्र विधायक तब कहलाता है जब इसमें वैकल्पिक अमुख्य वाक्य विकल्प से, भिन्न हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुओं का विधान करता है। यह मिश्र इसलिये है क्योंकि इसमें निष्कर्ष वैकल्पिक होता है। जैसे

यदि 'क ख' है तो 'ग घ' है और यदि 'ध' 'ङ' है तो 'च' 'छ' है।

---

1 State treasury 2 Economy

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' है।

इस उभयत पाश का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण मुस्लिम सेनापति उमर खलीफा (Omar Caliph) का है जिसने अपने तर्क के बल पर अलक्षेन्द्रिया (Alexandria) के महान पुस्तकालय को जलवाकर खाक कर दिया था। उसका तर्क था —

यदि इस पुस्तकालय की पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो कुरान के रहते हुए इनकी कोई आवश्यकता नहीं है और यदि वे कुरान के विरुद्ध हैं तो अधर्म को फैलानेवाली हैं।

या तो वे पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं या उसके विरुद्ध।
. या तो वे अनावश्यक हैं या अधर्म को फैलानेवाली हैं।

(२) **शुद्ध-विनाशक** —उभयत पाश शुद्ध-विनाशक तब कहलाता है जब अमुख्य वाक्य विकल्प से, मिश्र हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमदों का निषेध करता है। इसे शुद्ध इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य होता है। जैसे,

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'क' 'ख' है तो 'च' 'छ' है।
या तो 'ग' 'घ' नहीं है या 'च' 'छ' नहीं है।
'क' 'ख' नहीं है।

यदि तुम्हे पढ़ना है तो तुम्हें कॉलिज जाना चाहिये और यदि तुम्हें पढ़ना है तो पुस्तकें खरीदना चाहिये।

या तो तुम कॉलेज नहीं जा सकते या पुस्तकें नहीं खरीद सकते।
. तुम पढ़ नहीं सकते।

इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण दार्शनिक ज़ेनो (Zeno)

का है जो अपने उभयतः पाश के द्वारा गति[1] की असम्भवता सिद्ध करना चाहता था। वह इस प्रकार है —

यदि भौतिक पदार्थ[2] घूमता है तो इसे वहीं घूमना चाहिये जहाँ वह है या जहाँ वह नहीं है।

किन्तु एक भौतिक पदार्थ जहाँ है वहाँ नहीं घूम सकता और न वहाँ जहाँ वह नहीं है।

एक भौतिक पदार्थ घूम नहीं सकता—अर्थात्—गति असम्भव है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि इस उदाहरण में अमुख्य वाक्य वैकल्पिक नहीं है। जो कुछ *विकल्प* है वह मुख्य वाक्य के दूसरे भाग में है।

(४) *मिश्र विनाशक*—उभयतः पाश *मिश्र विनाशक* तब कहा जाता है जब वैकल्पिक अमुख्य वाक्य *विकल्प से, मिश्र हेतुहेतुमद्* मुख्य वाक्य के हेतुमदों का निषेध करता है। यह मिश्र इसलिये कहा जाता है क्योंकि निष्कर्ष इसमें वैकल्पिक होता है। जैसे

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ज' 'झ' है।

या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' नहीं है।

या तो 'क' 'ख' नहीं है या 'च' 'छ' नहीं है।

यदि मनुष्य कर्तव्यनिष्ठ[3] है तो वह आज्ञाओं को पालन करेगा और यदि वह बुद्धिमान है तो वह उन्हें समझेगा।

या तो वह आज्ञाओं को पालन नहीं करता है या उन्हें समझता नहीं है।

या तो वह कर्तव्यनिष्ठ नहीं है या वह बुद्धिमान नहीं है।

---

1 Motion. 2. Body 3 Dutiful.

७—उभयतःपाश का खंडन

किसी उभयतःपाश के सर्वथा विरुद्ध उसी प्रकार का उभयतः-पाश रखकर ठीक उलटा निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को उभयतः-पाश का खडन[1] (Reb utting a dilemma) **कहते हैं।** जब हम किसी उभयतःपाश का खडन करते हैं तब हमें मुख्य वाक्य के हेतुमदों को बदल देना चाहिये और उनका गुण भी बदल देना चाहिये। यह नियम केवल मिश्र-विधायक उभयतःपाश में लागू हो सकता है। अब यहाँ हम सांकेतिक मिश्र विधायक उभयतःपाश का खडन करते हैं:—

प्रस्तुत-उभयत पाश

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ज' 'झ' है।

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।

. या तो 'ग' 'घ' है या 'ज' 'झ' है।

खडित रूप.—

यदि 'क' 'ख' है तो 'ज' 'झ' नहीं है और यदि 'च' 'छ' है ता 'ग' 'घ' नहीं है।

या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।

. या तो 'ज' 'झ' नहीं है या 'ग' 'घ' नहीं है।

अब हम कुछ प्रसिद्ध उदाहरणों को लेते हैं जिनमें जैसे को तैसा[1] उत्तर दिया गया है। दोनों प्रकार के जाल से बचने का यही ढंग है। जैसे,

प्रस्तुत-उभयत पाश—

यदि पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो वे निरर्थक हैं और यदि वे कुरान के अनुकूल नहीं है तो वे हानिकारक[2] हैं।

या तो पुस्तकें कुरान के अनुकूल है या नहीं हैं।

---

1 Tit for tat 5 Pernicious

या तो वे निरर्थक[1] हैं या हानिकारक हैं।

संक्षिप्त रूप—

यदि पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो वे हानिकारक नहीं हैं।
यदि वे कुरान के अनुकूल नहीं हैं तो वे निरर्थक नहीं हैं।
या तो पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं या उसके अनुकूल नहीं हैं।
या तो वे हानिकारक नहीं हैं या वे निरर्थक नहीं हैं।

एथेन्स नगर की एक माँ का उभयतःपाश जिसके द्वारा उसने अपने पुत्र को देश सेवा से रोकने के लिये प्रयत्न किया था, यह है—

यदि तुम न्याय-पूर्वक काम करोगे तो मनुष्य तुमसे घृणा करेंगे और यदि तुम अन्याय से कार्य करोगे तो देवता लोग तुमसे घृणा करेंगे।

या तो न्यायपूर्वक कार्य करो या अन्यायपूर्वक कार्य करो।

या तो मनुष्य तुमसे घृणा करेंगे या देवता लोग तुमसे घृणा करेंगे।

पुत्र ने माँ के उभयतःपाश का इस प्रकार खंडन किया और देश-सेवा को सर्वोत्कृष्ट कार्य सिद्ध किया।

यदि मैं न्यायपूर्वक कार्य करता हूँ तो देवता मुझसे घृणा नहीं करेंगे।

यदि मैं अन्यायपूर्वक काय करता हूँ तो मनुष्य मुझसे घृणा नहीं करेंगे।

या तो मैं न्याय पूर्वक कार्य करूँ या अन्यायपूर्वक कार्य करूँ।

या तो देवता लोग मुझसे घृणा नहीं करेंगे या मनुष्य मुझसे घृणा नहीं करेंगे।

प्रस्तुत-उभयतःपाश—

यदि मनुष्य अकेला है तो उसकी परवा करनेवाला कोई नहीं है

---

1 Useless.

(अतः दुखी है) यदि मनुष्य विवाहित[1] है तो उसे अपनी धर्म-पत्नी की परवा करनी होगी (अत दु खी होगा)।

या तो मनुष्य अकेला हो या विवाहित हो।

या तो उसकी कोई परवा करनेवाला नहीं है या उसे अपनी धर्म-पत्नी की परवा करनी होगी (अत. दु खी होगा)

इसका खंडन—

यदि मनुष्य अकेला है तो उसे अपनी धर्म पत्नी की परवा नहीं करनी पड़ेगी और यदि वह विवाहित है तो उसकी परवा करनेवाली उसकी धर्म पत्नी है (अत दोनों अवस्थाओं में सुखी है)।

या तो मनुष्य अकेला है या विवाहित है।

. या तो उसे अपनी स्त्री की परवाह नहीं करनी है या उसकी परवा करनेवाली धर्मपत्नी है (अत दोनों अवस्थाओं में सुखी है)।

अन्य प्रस्तुत-उभयत पाश—

इतिहास में यह एक प्रसिद्ध उभयतःपाश है इसे लिटिजिओसस (Litigiosus) कहते हैं। कहा जाता है कि प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्रोटेगोरास (Protegoras) ने युअथलस (Euathlus) को सुन्दर वाक्‌चातुरी[2] की कला को सिखाने के लिये यह शर्त रक्खी कि आधी फीस उसे उसी समय मिलनी चाहिये और आधी जीतने पर। इस कला को सीख लेने पर युअथलस ने बहुत दिनों तक विवाद नहीं किया और उसने फीस का आधा भाग देने से रोक लिया। प्रोटेगोरास ने आधी फीस न देने पर उसपर अभियोग[3] दायर किया और निम्न-लिखित उभयत.पाश उसके सामने रक्खाः—

यदि तुम अभियोग में हार गये तो न्यायालय की आज्ञा से तुम्हें

---

1 Married 2. Rhetoric. 3 Case

फीस देनी होगी यदि तुम जीत गये तो भी तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार फीस देनी होगी।

युअथलस ने निम्नलिखित उत्तर दिया—

यदि मैं अभियोग में हार गया तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार फीस नहीं दूँगा और यदि मैं जीत गया तो न्यायालय की आज्ञा से फीस नहीं देनी होगी।

८—उभयतःपाश का परीक्षण

तर्कशास्त्र की दृष्टि से किसी उभयतःपाश को सत्य होने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी रूपविषयक और विषय-विषयक सत्यता की परीक्षा की जाय। उभयतःपाश के नियमों के पालन करने से ही उसकी सत्यता सिद्ध नहीं हो जाती किन्तु इसकी वास्तविक सत्यता विषय की दृष्टि से सिद्ध होनी चाहिये।

रूपविषयक उभयतःपाश की शुद्धि।

यह हम देख चुके हैं कि उभयतःपाश दो हेतुहेतुमद् सिलाजिज्मों के योग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये परीक्षा करने के लिये कि अमुक उभयतःपाश शुद्ध है या नहीं हमें इसका दो हेतुहेतुमद् सिला जिज्मों में विश्लेषण कर देना चाहिये पश्चात् यह देखना चाहिये कि इनमें हेतुहेतुमद् सिलाजिज्मों के नियमों का पालन ठीक प्रकार हुआ है या नहीं। हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज्म के नियम हैं कि यदि प्रमुख्य वाक्य में हम हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतु का विधान करते हैं तो हम निष्कर्ष में हेतुमद् का विधान कर सकते हैं किन्तु विपरीत रूप से नहीं। तथा यदि अमुख्य वाक्य में हम हेतुहेतुमद् मुख्य वाक्य के हेतुमद् का निषेध करते हैं तो हम निष्कर्ष में उसके हेतु का निषेध कर सकते हैं किन्तु विपरीत रूप से नहीं।

यदि उभयतःपाश के विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि

उक्त नियमों का पालन किया गया है तो उभयत पाश रूप की दृष्टि से सत्य होगा। उदाहरणार्थ हम एक शुद्ध विधायक उभयतः पाश को लेते हैं —

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है और यदि 'च' 'छ' है तो 'ग' 'घ' है
या तो 'क' 'ख' है या 'च' 'छ' है।
∴ 'ग' 'घ' है।

इस उभयत पाश को हम अङ्गीभूत हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्मों में विश्लेषित कर इस प्रकार रखते हैं —

यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' है।	यदि 'च' 'छ' है तो 'ग' 'घ' है।
'क' 'ख' है।	'च' 'छ' है।
∴ 'ग' 'घ' है।	'ग' 'घ' है।

इन दोनों हेतुहेतुमद् सिलाजिज्मों के अमुख्य वाक्यों मे हेतुओं का विधान किया गया है और निष्कर्ष मे हेतुमद् का विधान किया गया है अत. प्रस्तुत उभयत.पाश ठीक है। इसका हम एक वास्तविक उदाहरण लेते हैः—

यदि एक मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं और यदि वह अन्य के विचारानुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं।

या तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करता है या अन्य के विचारानुसार कार्य करता है।

किसी भी अवस्था मे लोग उसकी समालोचना करते हैं।

इस उभयतःपाश को हम अङ्गीभूत हेतुहेतुमद-निरपेक्ष सिलाजिज्मों में विश्लेपित कर इस प्रकार रखते हैं —

(१) यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं।

यह अपनी इच्छानुसार कार्य करता है।
लोग उसकी समालोचना करते हैं।

(२) यदि मनुष्य अन्य के विचार के अनुसार कार्य करता है तो लोग उसकी समालोचना करते हैं।

मनुष्य अन्य के विचार के अनुसार कार्य करता है।
लोग उसकी समालोचना करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उभयतःपाश ठीक है क्योंकि इसमें प्रमुख्य वाक्य में हेतु का विधान करके निष्कर्ष में हेतुमद् का विधान किया है।

इसी प्रकार यदि हम मिश्रविभावक उभयतःपाश के उदाहरणों का विश्लेषण[1] करें या अन्य उदाहरणों का विश्लेषण करें तो हमें प्रतीत होगा कि रूप की दृष्टि से वे ठीक हैं क्योंकि इनमें हेतुहेतुमद् निरपेक्ष सिलाजिज्म के सम्पूर्ण नियमों का भलीभाँति पालन किया गया है। यदि इन नियमों का पालन किया जाय तो उभयतःपाश गलत होगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि यदि उभयतःपाश की रूपविषयक सत्यता का निर्णय करना है तो हमें उसके अन्तर्भूत हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष सिलाजिज्मों में उसका विश्लेषण कर लेना चाहिये और यह दिखलाना चाहिये कि इनमें उनके नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया गया है।

(२) विषय विषयक उभयतःपाश की शुद्धि—

उभयतःपाश का केवल रूप की दृष्टि से ठीक होना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु यह विषय की दृष्टि से भी ठीक होना चाहिये। अर्थात् जिन प्रतिज्ञावाक्यों से यह बना हुआ है वे ठीक होने चाहिये। यह प्रसिद्ध है कि उभयतःपाश सत्य होने की अपेक्षा असत्य अधिक होते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जहाँ

---

1 Analysis.

दोनों विकल्प एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हों। अधिकतर उदाहरणों में ऐसा होता है कि दोनों विकल्प पूर्ण रूप से एक दूसरे के विरुद्ध नहीं होते, किन्तु विरुद्ध की भाँति प्रतीत होते हैं। गहरी जाँच करनेपर यही प्रतीत होता है कि उनमें विषय-विषयक दोष भरे रहते हैं। एक उभयत पाश में विषय-विषयक दोष तब मालूम होते हैं जब उसमें हम प्रतिज्ञा वाक्यों को विषयगत दोषों से भरा हुआ पाते हैं। जब प्रतिज्ञा-वाक्य विषय की दृष्टि से दोष पूर्ण हैं तो उनसे निकाला हुआ निष्कर्ष अवश्य ही असत्य होगा। अत यह आवश्यक है कि एक उभयतः-पाश की विषय-विषयक परीक्षा कर ली जाय।

किसी उभयत-पाश की विषय विषयक अशुद्धि तीन प्रकार से दिखलाई जा सकती है:—

(१) मुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से ग़लत हो सकता है।

उभयत पाश का मुख्य वाक्य दो हेतुहेतुमद् वाक्यों को बनाता है। यदि परीक्षा करने पर यह मालूम होता है कि उक्त हेतुहेतुमद् वाक्यों के हेतुमद विषय की दृष्टि से हेतु से नहीं निकलते हैं तो स्पष्ट रूप से दिया हुआ मुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से गलत होगा। जब वाक्य मिथ्या है तो उससे निकाला हुआ निष्कर्ष भी अवश्य गलत होगा।

मिश्र विधायक उभयत पाश के उदाहरण में हेतुमद् हेतु से नहीं भी निकल सकता है। यदि पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो यह हम कैसे कह सकते हैं कि वे निरर्थक हैं, केवल इसी कारण से कि 'क्योंकि वे कुरान के अनुकूल हैं'। इसी प्रकार दूसरा हेतुहेतुमद् वाक्य—'यदि पुस्तकें कुरान के अनुसार नहीं हैं तो वे हानिकारक हैं' भी उसी प्रकार विषय की दृष्टि से ग़लत हो सकता है। यह हो सकता है कि एक किताब कुरान के अनुसार न हो और हानिकारक भी न हो। इस विधि से यह दिखलाया जा सकता है कि उभयतः पाश ग़लत है क्योंकि

इसका मुख्य वाक्य दो हेतुहेतुमद् वाक्यों से बना हुआ है और यह विषय की दृष्टि से मिथ्या है।

यह हम जानते हैं कि एक मनुष्य उभयतःपाश के दो शृङ्गों के बीच में फँसा हुआ रहता है। इसलिये उभयतःपाश की किसी क्रुद्ध बैल के दो शृङ्गों से उपमा दी जाती है और मनुष्य जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया गया है, उसकी एक अपराधी से तुलना की जाती है और वह क्रुद्ध बैल[1] के एक या दूसरे शृङ्ग का शिकार बना हुआ रहता है। इस प्रकार के उभयतः पाश की असत्यता सिद्ध करने के लिये उभयतःपाश को उसके सींगों से पकड़ना—कहते हैं। जिस मनुष्य के विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है वह बैल को सींगों से पकड़ कर दबाता है और दिखलाता है कि उभयतःपाश में दबाये हुए बैल की तरह, कोई शक्ति नहीं है। किन्तु यह केवल दिखावा है। क्योंकि इसी प्रकार उभयतःपाश की असत्यता भी बतलाई जा सकती है।

(२) अमुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से गलत हो सकता है। उभयतःपाश का अमुख्य वाक्य एक वैकल्पिक होता है। दो विकल्प रक्खे जाते हैं और मान लिया जाता है कि दोनों विकल्पों में विरोध पूर्ण है, और कोई सम्भावना वहाँ नहीं है। यदि यह मालूम हो कि और सम्भावनाएं भी हैं और उनकी अवहेलना की गई है तो अमुख्य वाक्य विषय की दृष्टि से मिथ्या होगा।

गुड़-विवादक उभयतःपाश के उदाहरण में जो विकल्प अमुख्य वाक्य में दिये गये हैं कि मनुष्य या तो अपनी इच्छानुसार कार्य करता है या अन्य के विचारानुसार कार्य करता है' वे सर्वथा एक दूसरे से विरुद्ध नहीं हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि मनुष्य का अपनी इच्छा का निर्णय कुछ अवस्थाओं में उसी प्रकार हो जैसा कि अन्य के निर्णयों का

1 Angry bull.

विचार। अतः यह कहा जा सकता है कि जैसा वैकल्पिक वाक्य में विरोध दिखलाया गया है, वह ठीक नहीं है। यह विधि जिससे हम उभयत पाश की विषय-सम्बन्धी असत्यता सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि दोनों विकल्प सर्वथा एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इस विधि को उभयत. पाश के दोनों सींगों से बचने का उपाय कहते हैं।

(३) तीसरी विधि—किसी उभयत. पाश की असत्यता सिद्ध करने के लिये हमें उभयतःपाश का खडन करना चाहिये अर्थात् उतना ही सबल विरुद्ध उभयत पाश रखकर उसके विरुद्ध निष्कर्ष निकाल कर उसकी असत्यता सिद्ध कर देनी चाहिये। जब किसी उभयतःपाश का खडन किया जाता है तब हम उससे विरुद्ध उभयत.पाश बनाते हैं और यह प्रस्तुत उभयत' पाश थोडी सी वकीली करने से बन जाता है। क्योंकि हम बड़ी आसानी से सर्वथा विरुद्ध विकल्प रखकर उसकी निर्बलता पर प्रकाश डाल सकते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार की निर्बलता दिखाकर हम सर्वथा किसी उभयत.पाश की असत्यता नहीं दिखलाते किन्तु केवल विरोधी पुरुष की अवस्था की निर्बलता दिखाने का प्रयत्न करते हैं। किसी उभयत पाश का किस प्रकार खडन किया जाता है यह पहले दिखलाया जा चुका है। पिष्ट-पेषण की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न

१ मिश्र सिलाजिज्म का स्वरूप क्या है? इसके कितने प्रकार होते हैं? प्रत्येक का उदाहरण दो।

२ विधि पकार (Modus Ponens) मिश्र सिलाजिज्म के लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

३ वैकल्पिक निरपेक्ष सिलाजिज्म का लक्षण लिखकर इस नियम को उदाहरणपूर्वक सिद्ध करोः—

"वैकल्पिक मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प को अमुख्य

वाक्य में निषेध करने से हम मुख्य वाक्य के किसी भी विकल्प को निष्कर्ष में विधान कर सकते हैं।'

४ यदि 'क' सत्य है तो 'ख' सत्य है।
यदि 'ग' सत्य है तो 'ख' सत्य नहीं है।
दिखलाइये इन वाक्यों से क्या निष्कर्ष निकलता है?
(क) यदि 'क' सत्य हो, और
(ख) यदि 'ग' सत्य हो।
इन निष्कर्षों में कौन सा नियम लागू होता है?

५. निम्नलिखित वक्तव्य की उदाहरण पूर्वक व्याख्या करो—
"क्या हेतुहेतुमद् और वैकल्पिक निरपेक्ष सिलाजिज्मों को निरपेक्ष सिलाजिज्मों के रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है?"

६. उभयतःपाश तर्क का स्वरूप लिखकर यह बतलाओ कि किन परीक्षणों द्वारा इसकी सत्यता का निर्णय किया जाता है?

७ एक उभयतःपाश बनाओ और इसके द्वारा यह सिद्ध करो कि 'मन निरर्थक है।

८. निम्नलिखित में क्या दोष हैं?
(क) यदि एक लड़का परिश्रमी है तो वह परीक्षा पास कर लेता है।
वह परीक्षा पास कर लेता है।
वह परिश्रमी है।
(ख) यदि एक व्यक्ति अपराधी है तो उसे सजा मिलेगी।
किन्तु वह अपराधी नहीं है।
उसे सजा नहीं मिलेगी।

९ सापेक्ष तर्कों की सत्यता की सिद्धि के लिये नियमों का उल्लेख करो और निम्नलिखित उभयतःपाश का खंडन करो—
"यदि एक शिष्य को पढ़ने का शौक है तो उसे प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं और यदि उसे पढ़ने का शौक नहीं है तो

भी प्रोत्साहन उसके लिये लाभप्रद नहीं है। वह या तो पढ़ने का शौकीन है या वह इसे नापसन्द करता है। अत. प्रोत्साहन या तो उसके लिये अनावश्यक है या यह लाभदायक नहीं।"

२०. उभयत पाश का लक्षण लिखकर निम्नलिखित वक्तव्य पर अपने समालोचनात्मक विचार प्रकट करोः—

"उभयत.पाश जन्य तर्क, सत्य की अपेक्षा असत्य अधिक होते हैं।"

२१ उभयतःपाश कितने प्रकार का होता है? निम्नलिखित उभयत.-पाश का खडन करो.—

'यदि मैं खेत को पार कर जाता हूँ तो मुझे बैल मिलता है और यदि गली में होकर जाता हूँ तो मुझे किसान मिलता है।'

या तो मुझे खेत पार कर जाना चाहिये या गली मे होकर जाना चाहिये।

या तो मुझे बैल मिलेगा या मुझे किसान मिलेगा।

२२ एक उभयतःपाश बनाओ और सिद्ध करो कि 'परीक्षाएँ सार्थक हैं' तथा उसका खडन भो करो।

२३ उभयत.पाश के खडन से आपका क्या अभिप्राय है? इस प्रकार खंडन करने के क्या नियम हैं? उदाहरण देकर नियमों का प्रयोग समझाओ।

२४ उभयत.पाश की विषय-विपयक सत्यता से आपका क्या अभिप्राय है? यह कितने प्रकार से सिद्ध हो सकता है? उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

२५ उभयतःपाश के सींगों के बीच से बचने का क्या मतलब है? उदाहरण देकर समझाओ।

———

अध्याय १५

संक्षिप्त सिलाजिज्म

संक्षिप्त सिलाजिज्म (Enthememe) एक प्रकार का सिलाजिज्म है जिसमें इसके अंगीभूत वाक्यों को दबा दिया जाता है। जब हम एक सिलाजिज्म को अपने पूर्ण रूप में रखते हैं तो इसमें ३ वाक्य होते हैं अर्थात् (१) मुख्य वाक्य[1], (२) अमुख्य वाक्य[2] और (३) निष्कर्ष[3]। साधारण रूप से तर्क करते समय यह कभी नहीं देखा जाता कि सिलाजिज्म के तीनों ही वाक्यों का प्रयोग किया जाय। तर्कशास्त्र की पुस्तकों को छोड़कर सामान्य व्यवहार में हमें कहीं भी सिलाजिज्म के तीनों वाक्यों का प्रयोग नहीं मिलता। यदि कोई ऐसा प्रयत्न भी करे तो लोग उसे केवल पंडिताई का नमूना समझते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति सदा संक्षिप्त रूप से व्यवहार करने की रही है। वह उतने ही वाक्य प्रयोग करना चाहता है जिसमें उसका अभिप्राय या तर्क स्पष्टरूप से दूसरे की समझ में आ जाय। यही कारण है कि हमें सिलाजिज्म का पूर्ण रूप व्यवहार में नहीं मिलता। प्रायः सिलाजिज्म का प्रयोग अधिकतर हमें संक्षिप्त सिलाजिज्म के रूप में मिलता है जिसमें सिलाजिज्म के कुछ वाक्य दबे रहते हैं। अतः संक्षिप्त सिलाजिज्म का अर्थ है अपूर्ण सिलाजिज्म या संकीर्ण सिलाजिज्म।

संक्षिप्त सिलाजिज्म के ४ क्रम[4] हैं —

(१) प्रथम क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है

---

1 Major premise. 2. Minor Premise. 3. Conclusion.
4 Order

जब हम सिलाजिज्म में से मुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं; किन्तु अमुख्य वाक्य और निष्कर्ष को पूर्ण रूप से प्रगट किये हुए रहते है। उदाहरणार्थ, गौतम मरणशील है क्योंकि वह मनुष्य ही तो है'। इसका पूर्ण रूप इस प्रकार होगा —

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
गौतम एक मनुष्य है।
∴ गौतम मरणशील है।"

उपर्युक्त उदाहरण मे 'सब मनुष्य मरणशील हैं' यह मुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अत' यह प्रथम क्रम का सक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(२) द्वितीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जब हम सिलाजिज्म में से अमुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं, किन्तु मुख्य वाक्य और निष्कर्ष को स्पष्ट रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'नागार्जुन मरणशील है और इसी प्रकार सब मनुष्य मरणशील हैं' इसका पूर्ण रूप यह है :—

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
नागार्जुन मनुष्य है।
वह मरणशील है।"

इस उदाहरण में 'नागार्जुन मनुष्य है' यह अमुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अत' यह द्वितीय क्रम का सक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(३) तृतीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जिसमें निष्कर्ष को अलग कर देते हैं किन्तु दोनों प्रतिज्ञा वाक्य पूर्ण रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य मरण-शील है क्योंकि समतभद्र मनुष्य ही तो है। यहाँ स्पष्ट रूप से निष्कर्ष को दबा दिया गया है। इसका रूप यह है .—

अध्याय १५

संक्षिप्त सिलाजिज्म

संक्षिप्त सिलाजिज्म (Enthememe) एक प्रकार का सिलाजिज्म है जिसमें इसके अंगीभूत वाक्यों को दबा दिया जाता है। जब हम एक सिलाजिज्म को अपने पूर्ण रूप में रखते हैं तो इसमें ३ वाक्य होते हैं अर्थात् (१) मुख्य वाक्य[1], (२) अमुख्य वाक्य[2] और (३) निष्कर्ष[3]। साधारण रूप से तर्क करते समय यह कभी नहीं देखा जाता कि सिलाजिज्म के तीनों ही वाक्यों का प्रयोग किया जाय। तर्कशास्त्र की पुस्तकों को छोड़कर सामान्य व्यवहार में हमें कहीं भी सिलाजिज्म के तीनों वाक्यों का प्रयोग नहीं मिलता। यदि कोई ऐसा प्रयत्न भी करें तो लोग उसे केवल पंडिताई का नमूना समझते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति सदा संक्षिप्त रूप से व्यवहार करने की रही है। वह उतने ही वाक्य प्रयोग करना चाहता है जिसमें उसका अभिप्राय या तर्क स्पष्टरूप से दूसरे की समझ में आ जाय। यही कारण है कि हमें सिलाजिज्म का पूर्ण रूप व्यवहार में नहीं मिलता। अतः सिलाजिज्म का प्रयोग अधिकतर हमें संक्षिप्त सिलाजिज्म के रूप में मिलता है जिसमें सिलाजिज्म के कुछ वाक्य दबे रहते हैं। अतः संक्षिप्त सिलाजिज्म का अर्थ है अपूर्ण सिलाजिज्म या संकीर्ण सिलाजिज्म।

संक्षिप्त सिलाजिज्म के ४ क्रम हैं —

(१) प्रथम क्रम[4] का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है

---

1 Major premise 2. Minor Premise 3. Conclusion

4 Order

जब हम सिलाजिज्म में से मुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं, किन्तु अमुख्य वाक्य और निष्कर्ष को पूर्ण रूप से प्रगट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, गौतम मरणशील है क्योंकि वह मनुष्य ही तो है'। इसका पूर्ण रूप इस प्रकार होगा '—

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
गौतम एक मनुष्य है।
∴ गौतम मरणशील है।"

उपर्युक्त उदाहरण में 'सब मनुष्य मरणशील हैं' यह मुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अतः यह प्रथम क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(२) द्वितीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जब हम सिलाजिज्म में से अमुख्य वाक्य को अलग कर देते हैं, किन्तु मुख्य वाक्य और निष्कर्ष को स्पष्ट रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'नागार्जुन मरणशील है और इसी प्रकार सब मनुष्य मरणशील हैं' इसका पूर्ण रूप यह है :—

"सब मनुष्य मरणशील हैं।
नागार्जुन मनुष्य है।
वह मरणशील है।"

इस उदाहरण में 'नागार्जुन मनुष्य है' यह अमुख्य वाक्य दबा दिया गया है। अत. यह द्वितीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म है।

(३) तृतीय क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जिसमें निष्कर्ष को अलग कर देते हैं किन्तु दोनों प्रतिज्ञा वाक्य पूर्ण रूप से प्रकट किये हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य मरण-शील है क्योंकि समंतभद्र मनुष्य ही तो है। यहाँ स्पष्ट रूप से निष्कर्ष को दबा दिया गया है। इसका रूप यह है .—

"मनुष्य मरणशील है।
धर्मसमद्र मनुष्य है।
धर्मसमद्र मरणशील है।"

इस उदाहरण में 'धर्मसमद्र मरणशील है' यह निष्कर्ष निकाल देने पर यह तृतीय क्रम के संक्षिप्त सिलाजिज्म का उदाहरण कहलायेगा।

(४) चतुर्थ क्रम का संक्षिप्त सिलाजिज्म वह कहलाता है जब एक ही वाक्य पूर्ण सिलाजिज्म के भाव को व्यक्त करने की शक्ति रखता है। यह प्रायः देखा जाता है कि साधारण बातचीत में या कथन में केवल एक वाक्य चाहे वह प्रतिज्ञा वाक्यों में से एक हो या निष्कर्ष हो प्रकट किया जाता है और अन्य वाक्य दबाए हुए रहते हैं और वे इतने स्पष्ट रहते हैं कि प्रकरणानुसार उनको परिपूर्ण किया जा सकता है उदाहरणार्थ जब महान कवि शेक्सपीयर[1] ने कहा निर्बलता तेरा नाम स्त्री है' (Frailty thy name is woman. H) यह एक वाक्य ही पूर्ण सिलाजिज्म की शक्ति रखता है। इसका पूर्ण रूप इस प्रकार होगा—

"सब स्त्रियाँ निर्बल होती हैं।
कार्डेट एक स्त्री है।
कार्डेट निर्बल है।"

इस वाक्य को स्पष्ट करने पर यह प्रतीत होता है कि शेक्सपीयर हेमलेट की माँ की ओर इशारा कर रहा था। प्रायः देखा जाता है कि जब हम किसी व्यक्ति के निधन पर शोक प्रकट करने के लिये जाते हैं तो कहते हैं हा कष्ट, मनुष्य मरणशील ही तो है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि अन्ततः मनुष्य को मरना आवश्यक है। इसका भी पूर्ण रूप बनाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई न्यायाधीश गलती करता

---

1 Shakespeare (A great poet of England).

है तो हम कहते हैं 'अन्ततो गत्वा,'[1] न्यायाधीश मनुष्य ही तो है' अथवा 'गलती करना मनुष्य का स्वभाव है' इत्यादि। इन सब वाक्यों को पूर्ण सिलाजिज्म के रूप मे रखकर इनकी अन्तर्हित शक्ति को प्रकट किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

१. सन्तिप्त सिलाजिज्म क्या है ? इसको अपूर्ण या सकीर्ण सिलाजिज्म क्यों कहते हैं ?

२ सन्तिप्त सिलाजिज्म का लक्षण लिखकर प्रथम क्रम और तृतीय-क्रम के उदाहरण दो।

३ चतुर्थ क्रम का सिलाजिज्म क्या है ? उदाहरण देकर समझाओ।

४ द्वितीय क्रम का सिलाजिज्म किस प्रकार का होता है ? उसका उदाहरण लिखकर उसको पूर्ण रूप में परिवर्तित करो।

५ 'सभी तो गलती करते हैं' इसका पूर्ण रूप बनाकर लिखो और बतलाओ यह किस क्रम का उदाहरण है ?

---

1. After all

अध्याय १६

१—मिश्र सिलाजिज्म अथवा तर्कमालाएँ

वर्धमान और हीयमान

तर्कमाला (Train of Reasoning) सिलाजिज्म की वह प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक सिलाजिज्में मिली रहती हैं और वे एक दूसरे से इस प्रकार मिली रहती हैं कि अन्त में मिलकर एक ही निष्कर्ष को निकालती हैं। जैसे,

(१) 'सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
(२) सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'क' 'घ' हैं।
(३) सब 'घ' 'च' हैं।
सब 'क' 'घ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।
(४) सब 'च' 'छ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।
सब 'क' 'छ' हैं।'

इस उदाहरण में ४ सिलाजिज्में इस प्रकार एक दूसरे से मिली हुई हैं कि एक का निष्कर्ष दूसरी का अमुख्य वाक्य बन जाता है जबतक कि अन्तिम निष्कर्ष सब 'क' 'छ' है निकलता है इसको

तर्कमाला, या **बहु-अवयव-घटित न्याय** (Polisyllogism) कहते हैं।

एक बहु-अवयव-घटित-न्याय अथवा तर्कमाला मे एक सिलाजिज्म, जिसका एक निष्कर्ष दूसरे में वाक्य की तरह प्रयोग किया जाता है तो वह उसके सम्बन्ध मे **पूर्वावयवघटित न्याय** (Pro syllogism) **कहलायेगा** तथा एक सिलाजिज्म जिसका एक वाक्य दूसरे सिलाजिज्म के निष्कर्ष की तरह प्रयोग किया जाता है तो वह दूसरे के सम्बन्ध में **पश्चादवयवघटित-न्याय** (Episyllogism) **कहलायेगा**।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूर्वावयव-घटित-न्याय और पश्चादवयवघटित न्याय ये दोनों पद सापेक्ष हैं। वही सिलाजिज्म एक दृष्टि से पूर्वावयव-घटित-न्याय कहा जा सकता है और वही दूसरी दृष्टि से पश्चादवयव-घटित न्याय कहा जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में दूसरी सिलाजिज्म पहली सिलाजिज्म के सम्बन्ध में पश्चादवयव-घटित न्याय कहलाता है तथा तीसरे सिलाजिज्म के सम्बन्ध में पूर्वावयव-घटित न्याय कहलाता है। उसी प्रकार तीसरा सिलाजिज्म दूसरे सिला-जिज्म के सम्बन्ध में पश्चादवयव-घटित-न्याय कहलाता है और चतुर्थ सिलाजिज्म के सम्बन्ध मे पूर्वावयव-घटित-न्याय कहलाता है।

पहले दिये हुए तर्कमाला के उदाहरण में हम देखते हैं कि प्रथम सिलाजिज्म दूसरे के सम्बन्ध में पूर्वावयव-घटित-न्याय है तथा द्वितीय, तृतीय के सम्बन्ध मे पूर्वावयव घटिय न्याय है तथा तृतीय, चतुर्थ के सम्बन्ध में पूर्वावयव-घटित-न्याय है। इस प्रकार हम इस तर्कमाला को पूर्वावयव-घटित-न्याय से पश्चादवयव-घटित न्याय की ओर बढ़ता हुआ देखते हैं अतः इसको हम वर्धमान (Progressive) पश्चाद-वयव-घटित-न्यायवती, सश्लेषणात्मक तर्कमाला कहते हैं। इस प्रकार **वर्धमान तर्कमाला सिलाजिज्म का वह रूप है जिसमें दो या**

अधिक सिलाजिज्मों को मिलाते हैं और जिसमें हम पूर्वावयव घटित न्याय से पश्चादवयव घटित न्याय की ओर बढ़ते हैं।

इसके अतिरिक्त जब हम तर्कमाला में पश्चादवयव घटित न्याय से चलकर पूर्वावयव-घटित न्याय की ओर जाते हैं तो इसको हीयमान (Regressive) पूर्वावयव घटित न्यायवती या विश्लेषणात्मक तर्कमाला कहते हैं। पूर्व में दिये हुए उदाहरण को यदि प्रतिलोम-विधि से देखा जाय तो हीयमान तर्कमाला का उदाहरण बन जायगा। जैसे,

(१) सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'ख' ख हैं और
सब 'क' 'ख' हैं।
(२) सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'घ' 'ख' हैं और
सब 'क' 'घ' हैं।
(३) सब 'क' 'घ' हैं।
सब 'ग' 'घ' हैं और
सब क' 'ग' हैं।
(४) सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'ख' ग' हैं और
सब 'क' 'ख' हैं।"

इस उदाहरण में प्रथम सिलाजिज्म दूसरे सिलाजिज्म के सम्बन्ध में पश्चादवयव-घटित न्याय है; क्योंकि प्रथम का एक वाक्य "सब 'क' 'ख' हैं" दूसरे का निष्कर्ष बन जाता है। उसी प्रकार द्वितीय और तृतीय सिलाजिज्में तृतीय और चतुर्थ के सम्बन्धों में क्रमशः पश्चादवयव घटित-न्याय हैं। इसमें तर्कमाला पश्चादवयव-घटित-न्याय से पूर्वावयव

घटित न्याय की ओर जाती है इसलिये इसे हीयमान, पूर्वावयव-घटित-न्यायवती या विश्लेषणात्मक तर्कमाला कहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१. तर्कमाला किसे कहते हैं? उदाहरण देकर इसके स्वरूप पर प्रकाश डालो।
२. वर्धमान तर्कमाला का स्वरूप लिखकर उदाहरण दो।
३. हीयमान तर्कमाला किसे कहते हैं? हीयमान तर्कमाला में क्या क्रम होता है? उदाहरण देकर प्रकाश डालो।
४. पूर्वावयव-घटित न्याय और पश्चादवयव-घटित न्याय से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? वर्धमान और हीयमान मिश्र सिलाजिज़्मों में इनका क्या स्थान रहता है?
५. बह्ववयव-घटिय-न्याय का लक्षण लिखकर एक उदाहरण दो।

———

अध्याय १७

संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला (Sorites) और संक्षिप्त हीयमान तर्कमाला (Epicheirema)

(१) संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला

संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला (Sorites) सिलाजिज्म का वह प्रकार है जिसमें समस्त पूर्वावयव घटित-न्यायों के (और तत्संगत पश्चादवयव घटित-न्यायों के वाक्य) निकाल दिये जाते हैं। इसीलिये इसको संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला कहते हैं। संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला सर्वदा पूर्वावयव-घटित-न्याय से शुरू होकर पश्चादवयव घटित-न्याय की ओर बढ़ती है यद्यपि पूर्वावयव-घटित-न्याय और पश्चादवयव-घटित-न्याय पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं रहते। पूर्वावयव घटित-न्यायों के निष्कर्ष तथा तत्संगत पश्चादवयव-घटित न्यायों के वाक्य दबे हुए रहते हैं। इस प्रकार संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला एन्थीमीम्स (Enthememes) का ही विशिष्ट रूप है—

"सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'घ' 'च' हैं।
सब 'च' 'छ' हैं।
सब 'क' 'छ' हैं।"

यदि इसको इसके पूर्ण रूप में रक्खा जाय तो इसका स्वरूप इस प्रकार होगा :—

(१) "सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।
∴ सब 'क' 'ग' हैं।

(२) सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
∴ सब 'क' 'घ' हैं।

(३) सब 'घ' 'च' हैं।
सब 'क' 'घ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।

(४) सब 'च' 'छ' हैं।
सब 'क' 'च' हैं।
सब 'क' 'छ' हैं।"

यह स्पष्ट है कि बड़े अक्षरों मे दिये हुए वाक्य जो पूर्वावयव-घटित-न्यायों के निष्कर्ष हैं और तत्सङ्गत पश्चादवयव-घटित न्यायों के वाक्य, ऊपर दी हुई संक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला में से निकाल दिये गये है।

संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला (Sorites) दो प्रकार की होती हैं— (१) आरस्तवीय, (२) गोक्लेनिअसीय।

(१) आरस्तवीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला (Aristotelian Sorites) एक प्रकार का सिलाजिज्म है जिसमें पूर्वावयव घटित न्याय के दबाए हुए निष्कर्ष तत्संगत पश्चादवयव घटित-न्याय के अमुख्य वाक्य बनाते हैं। जैसे :—

सांकेतिक[1] उदाहरण	यथार्थ[1] उदाहरण
सब 'क' 'ख' हैं	चेतक एक घोड़ा है।
सब 'ख' 'ग' हैं	घोड़ा चतुष्पद होता है।
सब 'ग' 'घ' हैं	चतुष्पद एक पशु होता है।
सब 'घ' 'च' हैं	पशु एक पदार्थ है।
सब 'च' 'छ' हैं	पदार्थ एक सत्ता होती है।
सब 'क' 'छ' हैं	चेतक एक सत्ता है।

यदि एक संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला को पूर्णरूप से व्यक्त किया जाय तो प्रतीत होगा कि इसमें पूर्वावयव-घटित न्यायों के द्वारा प्राप्त हुए निष्कर्ष उत्तरगत-पश्चावयव घटित न्याय के प्रमुख वाक्य बनाए गये हैं। सांकेतिक उदाहरण पहले बतलाया जा चुका है। इसका यथार्थ उदाहरण इस प्रकार से पूर्णरूप से प्रकट किया जा सकता है:—

(१) सब घोड़े चतुष्पद होते हैं।
चेतक एक घोड़ा है।
चेतक चतुष्पद है।

(२) सब चतुष्पद पशु होते हैं।
चेतक एक चतुष्पद है।
चेतक पशु है।

(३) सब पशु पदार्थ होते हैं।
चेतक एक पशु है।
चेतक एक पदार्थ है।

(४) सब पदार्थ सत्तात्मक होते हैं।
चेतक एक पदार्थ है।
चेतक सत्तात्मक है।

1 Symbolical Example. Concrete Example

(२) गोक्लेनिअसीय संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला (Goclenian Sorites) एक प्रकार का सिलाजिज्म है जिसमें पूर्वावयव-घटित न्याय के दबाए हुए निष्कर्ष तत्संगत पश्चादवयवघटित-न्याय के मुख्य वाक्य बनाते हैं। जैसे,

सांकेतिक उदाहरण	यथार्थ उदाहरण
"सब 'च' 'छ' हैं।	"पदार्थ एक सत्ता होता है।
सब 'घ' 'च' हैं।	पशु एक पदार्थ है।
सब 'ग' 'घ' हैं।	चतुष्पद एक पशु होता है।
सब 'ख' 'ग' हैं।	घोड़ा चतुष्पद होता है।
सब 'क' 'ख' हैं।	चेतक एक घोड़ा है।
∴ सब 'क' 'छ' हैं।"	∴ चेतक एक सत्ता है।"

यदि इस संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला को पूर्णरूप से स्पष्ट किया जाय तो पूर्वावयव घटित-न्याय के दबे हुए निष्कर्ष तत्संगत-पश्चादवयव घटित न्याय के मुख्य वाक्य बन जायँगे। उपर्युक्त सांकेतिक उदाहरण को पूर्णरूप में स्पष्ट करने पर उसका यह रूप होगा'—

(१) "सब 'च' 'छ' हैं।
सब 'घ' 'च' हैं।
सब 'घ' 'छ' हैं।

(२) सब 'घ' 'छ' हैं।
सब 'ग' 'घ' हैं।
सब 'ग' 'छ' हैं।

(३) सब 'ग' 'छ' हैं।
सब 'ख' 'ग' हैं।
∴ सब 'ख' 'छ' हैं।

(४) सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।"

उसी प्रकार इसका यथार्थ उदाहरण भी निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) 'पदार्थ एक सत्ता है।
पशु एक पदार्थ है।
पशु एक सत्ता है।

(२) पशु एक सत्ता है।
चतुष्पद एक पशु है।
चतुष्पद एक सत्ता है।

(३) चतुष्पद एक सत्ता है।
घोड़ा चतुष्पद होता है।
घोड़ा एक सत्ता है।

(१) घोड़ा एक सत्ता है।
चेतक एक घोड़ा है।
चेतक एक सत्ता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोक्लेनियसीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में पूर्वावयव घटित-न्याय के दिये हुए निष्कर्ष पश्चादवयव घटित न्याय के मुख्य वाक्य बन जाते हैं।

यदि दोनों प्रकार की तर्कमालाओं का अच्छी तरह परीक्षण किया जाय तो हमें प्रतीत होगा कि दोनों के रूपों में वही वाक्य प्रयोग किये गये हैं और वही निष्कर्ष हैं। किन्तु इनमें निम्नलिखित भेद स्पष्ट प्रतीत होते हैं —

मुख्य वाक्य—अरस्तवीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में अन्तिम

वाक्य का निष्कर्ष मुख्य पद है तथा गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में प्रथम वाक्य का विधेय मुख्य पद है।

अमुख्य वाक्य—आरस्तवीय सक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला में प्रथम उद्देश्य अमुख्य पद है तथा गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में अन्तिम उद्देश्य अमुख्य पद है।

अवरुद्ध निष्कर्ष—आरस्तवीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में पूर्वावयव-घटित-न्यायों के अवरुद्ध या दबे हुए निष्कर्ष तत्सगत पश्चाद्-वयव घटित-न्यायों के अमुख्य वाक्य बनाए जाते हैं तथा गोक्लेनी-असीय सक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला मे तत्सगत पश्चादवयव-घटित-न्यायों के मुख्य वाक्य बनते है।

अङ्गीभूत वाक्य—आरस्तवीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला मे प्रथम वाक्य अमुख्य वाक्य होता है और अवशिष्ट सब वाक्य मुख्य वाक्य होते हैं। गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में प्रथम वाक्य मुख्य वाक्य होता है और अवशिष्ट वाक्य अमुख्य वाक्य होते हैं।

(२) संक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला के नियम।

यदि सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला, सर्वथा प्रथम आकृति में ही हो अर्थात् सब अङ्गीभूत सिलाजिज्में प्रथम आकृति में ही हों तो निम्न-लिखित नियम आरस्तवोय आ गोक्लेनिअसीय तर्कमालाओं में ठीक बैठते हैं।

(१) इन तर्कमालाओं में केवल एक ही वाक्य निषेधात्मक हो सकता है अर्थात् आरस्तवीय में अन्तिम और गोक्लेनि-असोय में प्रथम।

सिद्धि—केवल एक ही वाक्य निषेधात्मक हो सकता है अर्थात् एक से अधिक वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते। यह विदित है कि निषेधात्मक वाक्य से निषेधात्मक ही निष्कर्ष हो सकता है। यदि

एक से अधिक वाक्य निषेधात्मक हों तो इसका अर्थ यह होगा कि अङ्गीभूत शिलाविक्रमों में से एक में दो निषेधात्मक वाक्य होने से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकेगा। अतः यह सिद्ध है कि यदि कोई निषेधात्मक वाक्य हो सकता है तो आरम्भणीय में यह अन्तिम होगा और गोक्लेनियसीय में प्रथम होगा। यदि कोई वाक्य निषेधात्मक होगा तो अन्तिम निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा और यदि निष्कर्ष निषेधात्मक होगा तो वह अपने विधेय को पूर्णार्थ में ग्रहण करेगा। अतः उस वाक्य में जिसमें अन्तिम निष्कर्ष का विधेय विधेय है वह अवश्य निषेधात्मक होगा। तथा जिस वाक्य में अन्तिम निष्कर्ष का विधेय, विधेय है वह आरम्भणीय रूप में अन्तिम वाक्य होगा और गोक्लेनियसीय रूप में प्रथम वाक्य होगा। यदि अन्य कोई वाक्य निषेधात्मक ग्रहण किया जायगा तो अनियमित मुख्य पद का दोष हो जायगा।

(२) केवल एक वाक्य ही विशेष हो सकता है अर्थात् एक से अधिक वाक्य विशेष नहीं हो सकते।

यदि एक वाक्य भी विशेष हो तो निष्कर्ष भी विशेष होगा। इसलिये यदि एक से अधिक वाक्य विशेष हों तो अन्ततः अङ्गीभूत शिलाविक्रमों में से एक में दो विशेष वाक्य होंगे और उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। अतः यदि कोई वाक्य विशेष हो सकता है तो आरम्भणीय रूप में वह प्रथम होगा और गोक्लेनियसीय में वह अन्तिम होगा। आरम्भणीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में प्रथम को छोड़कर सब मुख्य वाक्य हैं। ये नियम संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला में तब लागू हो सकते हैं जब सब अङ्गीभूत शिलाविक्रम प्रथम आकृति में हों। प्रथम आकृति के विशेष नियमों के अनुसार मुख्य वाक्य सामान्य होना चाहिये। अतः केवल प्रथम वाक्य जो कि अमुख्य वाक्य है विशेष हो सकता है। गोक्लेनियसीय संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला में यदि अन्तिम को छोड़कर और कोई वाक्य विशेष हो तो उस शिलाविक्रम का

निष्कर्ष, जिसमें ऐसा वाक्य आवेगा, वह विशेष होगा। गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में निष्कर्ष दूसरे सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य है किन्तु प्रथम आकृति में मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। अत. यह सिद्ध हुआ कि गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में केवल अन्तिम वाक्य विशेष हो सकता है। यदि अन्य किसी वाक्य का विशेष ग्रहण किया जायगा तो इससे अव्याप्यार्थी मध्यम पद का दोष होगा।

(२) सक्षिप्त-हीयमान तर्कमाला—

सक्षिप्त हीयमान तर्कमाला (Epicheirema) सिलाजिज्म का वह रूप है जिसमें प्रत्येक पूर्वावयव-घटित-न्याय का एक वाक्य निकाला हुआ होता है।

सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला, हीयमान अथवा विश्लेषणात्मक वा पूर्वावयव-घटित न्याय की तर्कमाला कहलाती है, इसलिये इसमें तर्क पश्चादवयव-घटित न्याय से आरम्भ होकर पूर्वावयव-घटित न्याय की ओर जाता है। इसको सक्षिप्त इसलिये कहते है क्योंकि इसमे प्रत्येक पूर्वावयव-घटित न्याय का एक वाक्य दबा हुआ रहता है यद्यपि इसमें पश्चादवयव-घटित न्याय पूर्ण रूप से प्रकट रहता है। इस प्रकार एक सक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला मे एक पश्चादवयव घटित-न्याय तो पूर्ण-रूप मे प्रकट रहता है किन्तु अन्य पूर्वावयव-घटित-न्याय तर्कमालाओं के बने हुए होते हैं।

सक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला के दो भेद होते हैं। (१) शुद्ध और (२) मिश्र। शुद्ध (Simple) सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में पश्चादवयव घटित-न्याय के वाक्य तर्कमालाओं से सिद्ध होते हैं। मिश्र (Complex) सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में ये तर्कमालाएँ पुन. अन्य तर्कमालाओं से सिद्ध की जाती हैं।

निष्कर्ष, जिसमें ऐसा वाक्य आवेगा, वह विशेष होगा। गोक्लेनिअसीय संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला में निष्कर्ष दूसरे सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य है किन्तु प्रथम आकृति मे मुख्य वाक्य अवश्य सामान्य होना चाहिये। अतः यह सिद्ध हुआ कि गोक्लेनिअसीय संक्षिप्त वर्धमान-तर्कमाला मे केवल अन्तिम वाक्य विशेष हो सकता है। यदि अन्य किसी वाक्य को विशेष ग्रहण किया जायगा तो इससे अद्रव्यार्थी मध्यम पद का दोष होगा।

(२) संक्षिप्त-हीयमान तर्कमाला—

संक्षिप्त हीयमान तर्कमाला (Epicheirema) सिलाजिज्म का वह रूप है जिसमें प्रत्येक पूर्वावयव-घटित-न्याय का एक वाक्य निकाला हुआ होता है।

संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला, हीयमान अथवा विश्लेषणात्मक वा पूर्वावयव-घटित न्याय की तर्कमाला कहलाती है, इसलिये इसमे तर्क पश्चादवयव-घटित न्याय से आरम्भ होकर पूर्वावयव-घटित न्याय की ओर जाता है। इसको संक्षिप्त इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें प्रत्येक पूर्वावयव-घटित-न्याय का एक वाक्य दबा हुआ रहता है यद्यपि इसमे पश्चादवयव-घटित न्याय पूर्णरूप से प्रकट रहता है। इस प्रकार एक संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला में एक पश्चादवयव घटित-न्याय तो पूर्ण-रूप से प्रकट रहता है किन्तु अन्य पूर्वावयव-घटित-न्याय तर्कमालाओं के बने हुए होते हैं।

संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला के दो भेद होते हैं। (१) शुद्ध और (२) मिश्र। शुद्ध (Simple) संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में पश्चादवयव-घटित-न्याय के वाक्य तर्कमालाओं से सिद्ध होते हैं। मिश्र (Complex) संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में ये तर्कमालाएँ पुनः अन्य तर्कमालाओं से सिद्ध की जाती हैं।

संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला के दो और भी भेद होते हैं (१) एकनिष्ठ और (२) उभयनिष्ठ। किसी एकनिष्ठ (Single) संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में पश्चादवयव पतित-न्याय का कोई एक वाक्य तर्कमाला द्वारा सिद्ध किया जाता है तथा उभयनिष्ठ (Double) संक्षिप्त-हीयमान तर्कमाला में पश्चादवयव-पतित-न्याय के दोनों ही वाक्य तर्कमालाओं द्वारा सिद्ध किये जाते हैं।

इस प्रकार संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला चार प्रकार की होती है (१) शुद्ध एकनिष्ठ (Simple Single) (२) शुद्ध उभयनिष्ठ (Simple-Double) (३) मिश्र एकनिष्ठ (Double Single) और (४) मिश्र उभयनिष्ठ (Complex Double)

(१) शुद्ध एकनिष्ठ—

"सब क' 'ख' हैं क्योंकि सब ग' 'ख' हैं और सब क' 'ग हैं। सब क' ग' हैं क्योंकि सब 'घ' 'ख' हैं।

यदि इसको पूर्णरूप से व्यक्त किया जाय तो इसका रूप निम्न लिखित होगा—

"पश्चादवयव-पतित न्याय —

सब ग 'ख' हैं।

सब 'क' ग' हैं।

सब क' 'ख' हैं।

पूर्वावयव पतित न्याय—

सब 'घ 'ख हैं।

सब ग' घ हैं।

सब ग' 'ख' हैं।"

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रथम सिलाजिज़्म का वाक्य 'ग 'ख' है यह दूसरे सिलाजिज़्म का निष्कर्ष है। इसलिये यहाँ एक पश्चादवयव-पतित-

न्याय से पूर्वावयव-घटित-न्याय की ओर बढ़ता है अथवा अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह हीयमान-तर्कमाला है। क्योंकि इसमें पूर्वावयव घटित-न्याय का वाक्य दबा दिया जाता है इसलिये इसे सक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला कहते हैं।

यह संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला शुद्ध है क्योंकि इसमें—सब 'ग' 'ख' हैं—यह वाक्य पूर्वावयव-घटित-न्याय का, न्यायमाला द्वारा सिद्ध किया गया है। तथा इसको एकनिष्ठ इसलिये कहते हैं क्योंकि इसका केवल एक ही वाक्य इस प्रकार सिद्ध किया गया है और दूसरा वाक्य नहीं सिद्ध किया गया है।

(२) शुद्ध उभयनिष्ठ—

"सब 'क' 'ख' हैं, क्योंकि सब 'ग' 'ख' हैं और सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'ग' 'ख' हैं, क्योंकि सब 'घ' 'ख' हैं और
सब 'क' 'ग' हैं, क्योंकि सब 'क' 'च' हैं।"

यह शुद्ध है क्योंकि पश्चादवयव-घटित-न्याय के वाक्य इसमें न्याय-मालाओं के द्वारा सिद्ध किये गये है। यह उभयनिष्ठ इसलिये कहलाता है क्योंकि दोनों ही वाक्य इस प्रकार सिद्ध किये गये हैं। प्रथम तर्क-माला, मुख्य वाक्य—सब 'ग' 'ख' हैं—इसको सिद्ध करती हैं। तथा द्वितीय तर्कमाला, अमुख्य वाक्य—सब 'क' 'ग' हैं—इसको सिद्ध करती है। इसको भी पूर्णरूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

"पश्चादवयव-घटित-न्याय—

सब 'ग' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।

पूर्वावयव-घटित न्याय—

सब 'घ' 'ख' हैं।
(क) सब 'ग' 'घ' है।

सब 'ग' 'ख' हैं।
(ख) सब 'ख' 'ग' हैं।
सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'क' 'ग' हैं।"

इससे बिलकुल स्पष्ट है कि प्रथम पूर्वावयव-घटित-न्याय मुख्य वाक्य को सिद्ध करता है तथा द्वितीय पूर्वावयव-घटित-न्याय अमुख्य वाक्य को सिद्ध करता है। जो वाक्य बड़े अक्षरों में दिये हुए हैं, उन्हें दबा दिया गया है।

(३) मिश्र एकनिष्ठ—

सब 'क' 'ख' हैं क्योंकि सब 'ग' 'ख' हैं और सब 'क' 'ग' हैं।
सब 'ग' 'ख' हैं क्योंकि सब 'घ' 'ख' हैं और
सब 'घ' 'ख' हैं, क्योंकि सब 'च' 'ख' हैं।"

यह संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला मिश्र है क्योंकि प्रथम पश्चादवयव-घटित-न्याय का वाक्य एक तर्कमाला से सिद्ध किया गया है और एक तर्कमाला का वाक्य दूसरी तर्कमाला से सिद्ध किया गया है। यह एकनिष्ठ इसलिये कहलाता है क्योंकि केवल एक पश्चादवयव घटित-न्याय का वाक्य यहाँ सिद्ध किया गया है। दूसरा वाक्य सब 'क' 'ग' है नहीं सिद्ध किया गया है।

(४) मिश्र उभयनिष्ठ—

सब 'क' 'ग' हैं क्योंकि सब 'ग' 'ख' हैं और सब 'क' 'ख' हैं।
सब 'ग' 'ख' हैं क्योंकि सब 'घ' 'ख' हैं और
सब 'घ' 'ख' हैं क्योंकि सब 'च' 'ख' हैं।
और फिर—
सब 'क' 'ग' हैं क्योंकि सब 'छ' 'ग' हैं और
सब 'छ' 'ग' हैं क्योंकि सब 'ज' 'ग' हैं।"

यह मिश्र उभयनिष्ठ सक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला का उदाहरण है क्योंकि इसमें पश्चादवयव-घटित न्याय के दोनों वाक्य तर्कमालाओं द्वारा सिद्ध किये गये हैं और इन तर्कमालाओं के वाक्य फिर दूसरी तर्कमालाओं द्वारा सिद्ध किये गये हैं। निम्नलिखित तालिका भिन्न-भिन्न प्रकार की तर्कमालाओं के वर्गीकरण का स्पष्ट बोध कराती है.—
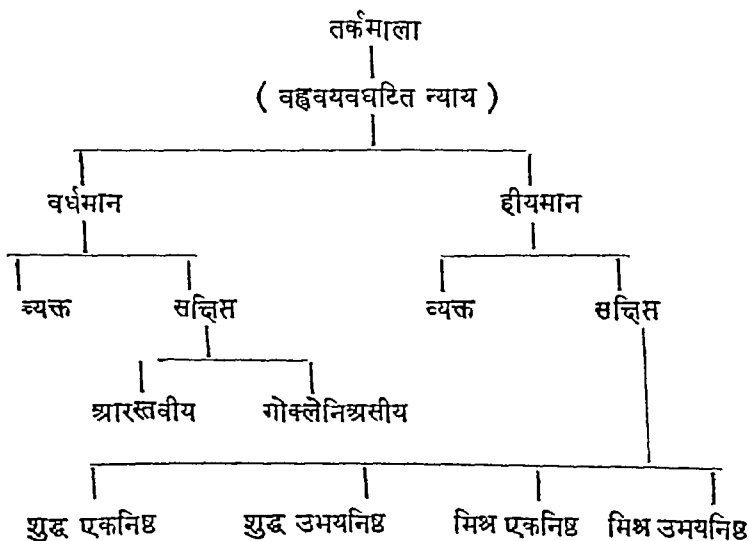
अभ्यास प्रश्न

१ सक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला का लक्षण उदाहरण सहित लिखो तथा यह बतलाओ कि आरस्तवीय और गोक्लेनिअसीय सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमालाओं मे क्या अन्तर है ?

२. सक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला का स्वरूप लिखकर उसके नियमों पर प्रकाश डालो।

३ संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला का लक्षण लिखकर उसको उदाहरण से स्पष्ट करो। यह कितने प्रकार की होती है? प्रत्येक का उदाहरण दो।

४ शुद्ध उभयनिष्ठ संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला का लक्षण उदाहरण सहित लिखो।

५. मिश्र एकनिष्ठ संक्षिप्त-हीयमान-तर्कमाला का लक्षण लिखकर उसका उदाहरण दो।

६ संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला और संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला में क्या अन्तर है? प्रत्येक का उदाहरण देकर समझाओ।

७ सिद्ध करो कि संक्षिप्त-वर्धमान तर्कमाला में केवल एक वाक्य निषेधात्मक हो सकता है अर्थात् आरस्तवीय में अन्तिम और गोक्लेनियसीय में प्रथम।

८. एक संक्षिप्त-वर्धमान-तर्कमाला जो पाँच वाक्यों की बनी हुई हो लो और उसको उसके अंगीभूत पूर्वावयव मटिव-न्यायों और पश्चादवयव वटिव-न्यायों में परिवर्तित करो।

९. सिद्ध करो कि संक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला में केवल एक ही वाक्य विशेष हो सकता है—प्रथम तो आरस्तवीय में और अन्तिम गोक्लेनियसीय में।

१ शुद्ध एकनिष्ठ हीयमान तर्कमाला का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

अध्याय १८

विशेषानुमान के दोष और उनका वर्गीकरण

(१) दोष का स्वरूप

दोष (Fallacy) का साधारण अर्थ ग़लती, भ्रम, आभास आदि है। तार्किक लोग इसका व्यापक अर्थ ग्रहण करते हैं और दोष से वे सब प्रकार की ग़लतियाँ और भ्रमों को ले लेते हैं। तथापि यहाँ दोष से हम यही अर्थ ग्रहण करते हैं कि **दोष वह है जो तार्किक नियमों के उल्लंघन करने से पैदा होता है**। तर्कशास्त्र उन सिद्धान्तों या नियमों का स्पष्ट वर्णन करता है जो सत्य विचारों को नियमित और सुसम्बद्ध बनाते हैं। अत जहाँ नियम हैं वहाँ दोषों की भी सम्भावना है। ये दोष अँगरेजी में फेलेसीज़ (Fallaciep) कहलाते हैं। क्योंकि तार्किक नियम अनेक हैं इसलिये उनको भंग करनेवाले दोष भी अनेक हैं। निम्नलिखित तालिका दोषों का ज्ञान कराने में अत्यन्त सहायक होगी—
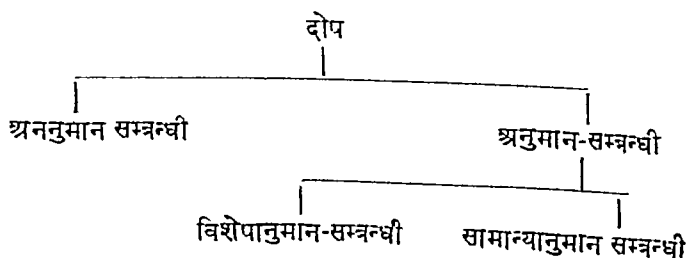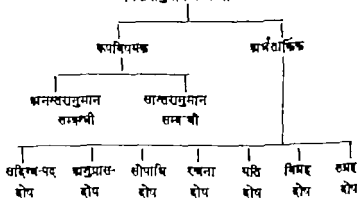
(२) दोष के भेद

दोष दो प्रकार के होते हैं (१) अननुमान-सम्बन्धी (२) अनुमान सम्बन्धी। अननुमान सम्बन्धी दोष वे हैं जो लक्षण और विभाग के नियमों को उल्लंघन करने से उत्पन्न होते हैं।

लक्षण के दोष निम्नलिखित हैं—

(१) निरर्थक।
(२) आकस्मिक
(३) अपूर्ण लक्षण (अव्याप्ति और अतिव्याप्ति)
(४) संदिग्ध और अलंकारिक
(५) निषेधात्मक

तार्किक विभाग के निम्नलिखित दोष हैं:—

(१) अतिभौतिक विभाग या शारीरिक (भौतिक) विभाग
(२) विपरीत संक्रमण
(३) अपूर्ण या अतिसंकुचित
(४) अतिविस्तृत
(५) उल्लंघित संक्रमण

उपर्युक्त दोषों का विपद[1] वर्णन तत्सम्बन्धी अध्यायों में हो चुका है अत॰ इनके पुनः वर्णन करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अनुमान के दो भेद है (१) विशेषानुमान और (२) सामान्यानुमान। अत॰ दोष भी दो प्रकार के होंगे (१) विशेषानुमान-सम्बन्धी और (२) सामान्यानुमान-सम्बन्धी। जहाँ तक सामान्यानुमान-सम्बन्धी दोषों का सम्बन्ध है उनका वर्णन द्वितीय भाग मे किया जायगा। यहाँ केवल हम विशेषानुमान-सम्बन्धी दोषों का ही वर्णन करेंगे।

विशेषानुमान सम्बन्धी दोषों के भी दो भेद हैं (१) रूपविषयक और (२) [2]अर्धतार्किक। रूपविषयक दोषों के अन्दर हम अनन्तरानुमान और सान्तरानुमान-सम्बन्धी दोषों को अन्तर्भूत करते हैं।

(१) अनन्तरानुमान सम्बन्धी दोष॰—गत अध्यायों मे हम ६प्रकार के अनन्तरानुमान का वर्णन कर चुके हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) परिवर्तन।
(२) अभिमुखीकरण।
(३) विरुद्धभाव।
(४) व्यत्यय।
(५) विपर्यय।
(६) सम्बन्ध रूपान्तर।
(७) रीति-परिणाम।
(८) विशेषण-संयोगानुमान।
(९) मिश्रभावानुमान।

इनके सब नियमों का वर्णन पहले किया गया है। उन नियमों के उल्लंघन करने से भिन्न-भिन्न प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। उन सबका यथास्थान वर्णन किया जा चुका है।

---

1 Clear 2 Semi-Logical

(२) सान्तरानुमान के दोष—सान्तरानुमान के तीन भेद हैं—(१) शुद्ध (२) मिश्र और (३) तर्कमाला। इन सब अनुमानों के विशेष नियम हैं जिनका उल्लंघन करने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। जैसे, शिलाविकम के साधारण नियम हैं हेतुहेतुमद्-निरपेक्ष-शिलाविकम के नियम हैं, उभयतः-पाश के नियम हैं वर्धमान और हीयमान तर्कमालाओं के नियम हैं तथा संक्षिप्त वर्धमान तर्कमाला और संक्षिप्त हीयमान-तर्कमाला के नियम हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने से जो दोष उत्पन्न होते हैं उन सबका यथास्थान वर्णन किया जा चुका है, अतः उनकी यहाँ पुनरावृत्ति[1] करने की आवश्यकता नहीं।

(३) अर्धतार्किक दोष[2] —

अर्धतार्किक दोष रूपगत तर्क के दोषों से सर्वथा भिन्न हैं। ये दोष भ्रामक भाषा के प्रयोग करने से उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत रूपविषयक तर्क के दोष केवल तर्क के रूप से जाने जा सकते हैं किन्तु अर्धतार्किक दोषों का ज्ञान करने के लिए भाषा का शुद्ध ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

अर्धतार्किक दोषों के मुख्य-मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं:—

(१) संदिग्ध पद दोष (Fallacy of equivocation)—प्रत्येक शिलाविकम में तीन पद होते हैं और ये तीनों पद अपने शुद्धार्थ में प्रयोग करने चाहिये किन्तु जब हम इन तीनों पदों को अनेकार्थ में प्रयोग करते हैं तब तीनों पदों को एक से भिन्न अनेकार्थ में प्रयोग करने से ३ तीन दोष उत्पन्न होते हैं—(१) संदिग्ध मध्यम पद (२) संदिग्ध मुख्य पद और (३) संदिग्ध अमुख्य पद। ये दोष चार पदों के दोष के समान हैं और इनका यथास्थान वर्णन हो चुका है।

(२) अनुप्रास दोष (*Fallacy of figure of Speech*)—यह वह दोष है जो शब्दों के समान रूप होने से उत्पन्न होता है।

---

1 Repetition. 2. Semi Logical.

कभी-कभी एक ही धातु से बने हुए शब्द समान रूप होते हुए या संज्ञा विशेषणादि से भेद रखते हुए प्रयोग कर दिये जाते हैं तो इस प्रकार का दोष उत्पन्न होता है। यह दोष प्राय: तब उत्पन्न होता है जब हम इस प्रकार के भिन्नार्थक शब्दों को एकार्थ में ही ग्रहण कर लेते हैं। जैसे,

(१) काल्पनिकों[1] पर विश्वास नहीं करना चाहिये।
मैथिलीशरण कवि कल्पना करता है।
∴ मैथिलीशरण पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

यहाँ काल्पनिक और कल्पना करना भिन्नार्थक होनेपर भी एकार्थ मे ग्रहण किये गये हैं इसलिये यहाँ अनुप्रास दोष हुआ है।

(२) दाता होना बहुत अच्छा है।
राम गोमांस देता है।
राम बहुत अच्छा है।

यहाँ भी दाता और देना भिन्नार्थक होते हुए समानार्थ में प्रयोग किये गये हैं इसलिये यह तर्क सदोष है।

(३) **सोपाधि दोष** (Fallacy of accident) तब होता है जब हम मध्यमपद को एक वाक्य में बिना किसी उपाधि के ग्रहण करते है और दूसरे वाक्य में उपाधि सहित ग्रहण करते हैं, अथवा मध्यमपद को दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अन्दर ग्रहण करते हैं। जैसे,

(१) पानी तरल पदार्थ है।
बर्फ पानी है।
∴ बर्फ तरल पदार्थ है।

(२) जो कुछ हम खाते हैं वह खेत में पैदा होता है।
रोटी, दाल आदि वस्तुयें हैं जिन्हें हम खाते हैं।

---

1 Projectors

रोटी, दाल आदि खेत में पैदा होते हैं।

(३) तुम्हें पशु कहना सत्य है।

तुम्हें बन्दर कहना तुम्हें पशु कहना है।

तुम्हें बन्दर कहना सत्य है।

(४) भ्रामक-रचना दोष (Fallacy of Amphiboly)—भ्रामक रचना दोष किसी वाक्य की भ्रमपूर्ण रचना करने से उत्पन्न होता है। भ्रामक-रचनात्मक वाक्य वह होता है जिसका अर्थ दो रचनाओं में लिया जा सके। कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक वाक्य के दो अर्थ या अधिक अर्थ प्रतीत होते हैं। उनमें से यह निश्चय करना कठिन होता है कि कौन-सा अर्थ ठीक है और कौन-सा गलत है।

राम गोविन्द मारता है।

इस वाक्य की रचना भ्रमपूर्ण है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि राम गोविन्द को मारता है और यह भी कि गोविन्द राम को मारता है।

इस दोष का उदाहरण अतिप्रसिद्ध एक चतुर ज्योतिषी का है। किसी सेठ के घर बाल-बच्चा होनेवाला था। उसने एक ज्योतिषी को बुलाया और कहा 'मेरे घर क्या होगा'। उसने एक वाक्य लिखकर दे दिया और कहा 'होनेपर देख लेना'। उसमें लिखा था लड़का न लड़की'। इस वाक्य में केवल विराम 'न' के पहिले और बाद में लगाने से दो अर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार वह ज्योतिषी अपनी दक्षिणा लेने में सफल हुआ।

(५) ध्वनि दोष (Fallacy of accent)—यह दोष तब उत्पन्न होता है जब हम वाक्य से किसी गलत शब्द पर जोर या दबाव देकर उसका उच्चारण करते हैं। जैसे,

"तुम अपने पड़ोसी के विरुद्ध गवाही नहीं दे सकते"।

इसमें पड़ोसी और विरुद्ध, दोनों पदों पर जोर देने से इस वाक्य

के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। 'पडोसी पर जोर देने से इसका अर्थ होगा कि अन्य के विरुद्ध दे सकते हो। 'विरुद्ध' पर जोर देने से यह अर्थ होगा कि उसके पक्ष में दे सकते हो। इस प्रकार भिन्न २ शब्दों पर जोर देने से कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(६) **विग्रह दोष** (Fallacy of Division)—यह दोष तब होता है जब हम किसी पद के समुदायार्थ को विग्रहार्थ मे ग्रहण करके तर्क करते हैं। जैसे,

(१) कालिदास की सब रचनाएँ एक दिन में नहीं पढ़ी जा सकती।
शकुन्तला नाटक कालिदास की रचना है।
शकुन्तला नाटक एक दिन में नहीं पढ़ा जा सकता।

(२) मुझे सब याद है जो कुछ मैंने पढ़ा है।
मैंने रामायण का प्रत्येक श्लोक पढ़ा है।
. मुझे रामायण का प्रत्येक श्लोक याद है।

(३) पन्द्रह एक सख्या है।
सात और आठ पन्द्रह होते हैं।
. सात और आठ एक सख्या है।

(४) पचायत ने उसे निर्दोष घोषित किया है।
रामनाथ पचायत का एक सदस्य है।
. रामनाथ ने उसे निर्दोष घोषित किया है।

(५) भारतीय सभ्य पुरुष होते हैं।
गोविन्द भारतीय है।
गोविन्द सभ्य पुरुष है।

(७) **संग्रह दोष** (Fallacy of composition)—यह तब होता है जब हम किसी पद के विग्रहार्थ को संग्रहार्थ में लेकर तर्क करते हैं। जैसे,

(१) पंचायत के सदस्यों में से एक भी ठीक निर्णय नहीं दे सकता।
पंचायत ठीक निर्णय नहीं दे सकती।

(२) प्रत्येक मनुष्य अपना सुख चाहता है।
सब मनुष्य अपना सुख चाहते हैं।

(३) आठ और सात सम और विषमांक हैं।
सात और आठ पंद्रह हैं।
∴ पंद्रह सम और विषमांक हैं।

अभ्यास प्रश्न

१ दोष किसे कहते हैं? तर्कशास्त्र में दोष का क्या अर्थ है? दोषों का वर्गीकरण करो।

२ अनुमान दोष का लक्षण लिखकर उदाहरण दो।

३ निम्नलिखित तर्कों की परीक्षा करके दोषों का उद्घाटन करो:—

(१) यह वस्तु वायु के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती क्योंकि सब वायुयें शब्द पैदा करती हैं।

(२) मैं अपने विचारों को समाचार पत्रों से नहीं बनाता हूँ क्योंकि मैं उनको कभी नहीं पढ़ता।

(३) प्रत्येक मुर्गी अंडे से पैदा होती है प्रत्येक अंडा मुर्गी से पैदा होता है, इसलिये प्रत्येक अंडा अंडे से पैदा होता है।

(४) जो सबसे ज्यादा भूखा होता है वह सबसे ज्यादा खाता है।
जो सबसे कम खाता है वह सबसे ज्यादा भूखा होता है।
जो सबसे कम खाता है वह सबसे ज्यादा खाता है।

(५) सेनेट बुद्धिमानों का समुदाय है।
रामचन्द्र एक सेनेट का सदस्य है।
रामचन्द्र एक बुद्धिमान व्यक्ति है।

(६) न क न ख न ग इस भार को उठा सकता है।
क, ख ग इस भार को नहीं उठा सकते।

४ भ्रामक रचना दोष से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? उदाहरण देकर समझाओ।

५ सिकन्दर दारा जीतेगा' इसमें कौन सा दोष है? विश्लेषण करके स्पष्ट समझाओ।

६ 'चाचाजी आज मर गये' इसमे क्या दोष है? स्पष्ट बतलाओ।

७ जो तुम्हें मनुष्य कहता है सत्य कहता है।
जो तुम्हें बुद्धू कहता है वह तुम्हें मनुष्य कहता है।
. जो तुम्हें बुद्धू कहता है वह सत्य कहता है।
इस तर्क में क्या दोष है? स्पष्ट बतलाओ।

८ यदि बिल्ली नहीं है तो चूहे खेलते हैं।
चूहे खेल रहे हैं।
बिल्ली नहीं है।

९ गोविन्द यथार्थ में भला मनुष्य है क्योंकि वह धर्मात्मा है केवल धर्मात्मा ही वास्तव में भले मनुष्य होते हैं।

१० आचरण की शिक्षा व्यर्थ है क्योंकि सत्पुरुषों को उसकी आवश्यकता नहीं और असत् पुरुष उसकी परवा नहीं करेंगे।

अध्याय १६

परिशिष्ट १

सिलाजिज्म पर मिल महोदय की आपत्ति

सिलाजिज्म के स्वरूप प्रकार, दोष आदि के वर्णन के बाद यहाँ हम एक प्रसिद्ध दार्शनिक और तार्किक मिल महोदय की सिलाजिज्म के ऊपर आपत्ति पर विचार आरम्भ करते हैं। मिल महोदय का कहना है कि सिलाजिज्म जिसको तर्क का रूपविधायक साधन माना गया है वह उचित नहीं। सिलाजिज्म को हम अवयव घटित-न्याय कहते हैं। प्रत्येक सिलाजिज्म में तीन वाक्य होते हैं किन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि कोई भी व्यक्ति इस प्रकार तार्किक पद्धति से सिलाजिज्म का प्रयोग नहीं करता। वह सिलाजिज्म को सर्वथा निरर्थक तो नहीं बतलाता, किन्तु उसका इतना कहना अवश्य है कि इसका विशेष उपयोग न होते हुए यदि हमें कभी अपनी तर्कना में संदेह हो तो हम अपने तर्कों को सिलाजिज्म के रूपों में लाकर परीक्षा कर सकते हैं कि हमारा तर्क ठीक है या ग़लत है। इससे यह स्पष्ट है कि अवयव-घटित न्याय का उपयोग केवल विचार कोटि में है; किन्तु व्यवहार कोटि में बिलकुल नहीं।

(१) प्रथम मिल कहता है कि सिलाजिज्म की प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसके अनुसार हम तर्क करते हैं। उसके अनुसार सब तर्क विशेष से विशेष का ज्ञान कराते हैं सामान्य वाक्य केवल इसी प्रकार के

1 Objection-

किये हुए तर्कों के समूह होते हैं। हम इस प्रकार के साधारण सूत्र बना लेते हैं और उनके द्वारा तर्क किया करते हैं। सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य इसी प्रकार का सूत्र है तथा निष्कर्ष इस सूत्र से निकाला हुआ तर्क नहीं है, किन्तु निष्कर्ष इस सूत्र के अनुसार निकाला हुआ अनुमान है।

मिल के अनुसार सिलाजिज़्म का मूल्य इतना ही है कि सिलाजिज़्म की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम अपने तर्कों या अनुमानों की जाँच कर सकते हैं और देख सकते हैं कि हमारे निष्कर्ष अनिश्चित तो नहीं हैं। यदि उनमे किसी प्रकार की अनिश्चितता हो भी तो वह प्रकाश में लाई जा सकती है। अत. मिल के सिद्धान्त के अनुसार सिलाजिज़्म को सर्वथा व्यर्थ तो नहीं समझा जा सकता। यद्यपि वह यह अवश्य मानते हैं कि मनुष्य जाति ने तर्क के जटिल नियमों के अनुसार कभी तर्क न किया, न कभी वह करेगी और न करती है। इस मत को हर्शेल (Herschel) ह्वेवेल (Whewell) बेन (Bain) आदि महानुभावों ने भी स्वीकार किया है और उनका कहना है कि मिल की यह आपत्ति ठीक है।

किन्तु कुछ तार्किक ऐसे भी हैं जिनमे मेनसेल (Mansei), टी, मोरगन (De Morgan) मार्टिनो (Martmeau) पी० के० रे (P. K. Ray) हेमिल्टन (Hamilton) आदि सम्मिलित हैं जो उपर्युक्त मिल महोदय के मत का विरोध करते हैं। इसके विरोध मे निम्नलिखित विषय विचारणीय हैं —

(१) मिल महोदय की यह आपत्ति सत्य है कि हम सिलाजिज़्म की प्रक्रिया के अनुसार कभी तर्क नहीं करते। किन्तु यह कहना भी कम सत्य नहीं है कि हमारे साधारण अनुमान कभी सत्य नहीं हो सकते यदि उनमें जटिल सिलाजिज़्म के नियमों में परिवर्तित होने की

क्षमता न हो। प्रतीत होता है मिल महोदय मनोविज्ञान और तर्क के कार्यों में गड़बड़ पैदा करते हैं। यह पहिले तर्क की उपयोगिता के विषय में कहा जा चुका है कि यह तर्कशास्त्र का काम नहीं है कि तर्कशास्त्र उन सब प्रकार की प्रक्रियाओं का वर्णन करे जिनके द्वारा लोग तर्क किया करते हैं। तर्कशास्त्र तो नियामक शास्त्र है और इस दृष्टि से यह तो केवल नियमों का विधान करता है और इसका उद्देश्य तो यही बतलाता है कि मनुष्यों को किस प्रकार तर्क करना चाहिये यदि वे दोषरहित तर्क करना चाहते हैं। निर्दोष तर्क के लिये यह आवश्यक है कि कुछ निश्चित नियमों का पालन किया जाय। यदि वे नियम ठीक तौर से नहीं पाले जायँगे तो तर्क गलत होगा। मनोविज्ञान इससे विपरीत है। यह तो वस्तुस्थितिवादी शास्त्र है। यह विषय जिस प्रकार के हैं उनका उसी प्रकार वर्णन करता है। यह 'है' का विचार करता है 'चाहिये' का नहीं। मनुष्य कैसे तर्क करते हैं? क्या करते हैं? इसका विचार करना तर्कशास्त्र का काम नहीं। यह तो केवल सत्य और ठीक तर्क करने के लिये नियम बना देता है। जिन्हें तर्क करना होगा उन्हें उन नियमों का अवश्य पालन करना होगा। मिल महाशय दोनों विज्ञानों के कार्य को गड़बड़ में डाल देते हैं। केवल इतने कहने से कि सिलाजिज्म ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसके द्वारा प्रायः मनुष्य तर्क करते हैं सिलाजिज्म का मूल्य कम नहीं हो जाता। जब तक सिलाजिज्म को सत्य तर्क करने का साधन माना जाता है तब तक हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सिलाजिज्म के नियम सत्य हैं और सब प्रकार के तर्क इन्हीं नियमों के अनुसार किये जाते हैं। और उनकी सत्यता को सिद्ध करने के लिये उन्हें इसी रूप में परिवर्तित करना होगा। यही सिलाजिज्म की विशेषता है।

तथा मिल की यह आपत्ति कि सब तर्क विशेष से विशेष के ही प्रति जाते हैं—भी तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। यह ठीक

है कि प्रायः हम उपमान[1] द्वारा विशेष से विशेष का ज्ञान करते है किन्तु यह कहना, अतिशयोक्ति पूर्ण है कि यही सामान्य ज्ञान कराने का एकमात्र साधन है। उपमानजन्य ज्ञान प्राय' करके गलत होता है किन्तु जब वह सत्य होता है तव वह विशेषों में सामान्यभाव पर अवलम्बित नहीं रहता। हम विशेष से विशेष का ज्ञान करने के लिये ठीक कहे जा सकते हैं क्योंकि दोनों में हम सादृश्य का भाव देखते हैं। यह सादृश्य का भाव सामान्य का द्योतक होता है जिससे विशेष विषयों का सगठन होता है। इसलिये जब हम सादृश्य से अनुमान करते हैं तब हमारा अनुमान, विशेष पदार्थों में जो सामान्य गुण प्रतीत होते हैं उन्हीं के आधार पर चलता है जो स्वय विशेष नहीं होता। वेल्टन (Welton) महोदय का कहना बिलकुल सत्य है "उन उदाहरणों में जहाँ अनुमान एक या अधिक विशेषों पर निर्भर रहता है वहाँ वह सामान्य तत्व पर ही निर्भर रहता है और इस सामान्य तत्व, जिसमें वे सब घटित होते हैं, को हम साधारण वाक्य के रूप मे प्रकट कर सकते हैं और यह सामान्य वाक्य सिलाजिज्म का मुख्य वाक्य होता है। इससे प्रतीत होता है कि सामान्य के महत्व को हम दूर नहीं कर सकते।

(२) द्वितीय आपत्ति मिल महाशय की यह है कि प्रत्येक सिलाजिज्म में सिद्ध-साधन[2] दोष होता है। (सिद्ध साधन दोष वह है जब हम निष्कर्ष को प्रतिज्ञा वाक्यों में ही सम्मिलित कर लेते हैं और पश्चात् उनको सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस दोष का नाम प्रश्न-प्रार्थना (Begging the question) भी हैं। इसको चक्रक[3] दोष भी कहा जाता है। जैसे, मनुष्य मरणशील है क्योंकि उसकी मृत्यु

---

1 Analogy. 2 Petito Principii
3 Argument in circle

सामान्यानुमान भी होता है जिसमें सब उदाहरणों की परीक्षा करने पर व्याप्ति नहीं बनाई जाती, किन्तु केवल थोड़े से ही उदाहरणों की परीक्षा करने के बाद अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ "सब मनुष्य मरणशील हैं" इस सामान्य वाक्य को हम सब उदाहरणों की परीक्षा करने के बाद कभी नहीं बना सकते। इसमें तो अनेक उदाहरण छोड़ दिये जाते हैं और सब उदाहरणों की परीक्षा करना सम्भव भी नहीं है। अत. इस वाक्य को आधार वाक्य बनाकर हम निष्कर्ष निकालें तो हमारा निष्कर्ष कि 'भारत के प्रजातन्त्र राज्य का अध्यक्ष मरणशील है' आधार वाक्य में सम्मिलित नहीं किया गया है। यह तो एक सर्वथा नवीन निष्कर्ष है जो हमें पहले नहीं मालूम था। इसी हेतु से हम कह सकते हैं कि सिलाजिज्म मे हमे व्याप्ति द्वारा नवीन सत्यों का ज्ञान होता है जिनका उनमें समावेश नहीं किया गया है।

तथा एक सिलाजिज्म मे दो वाक्यों के योग की आवश्यकता होती है। वे हैं :—मुख्य वाक्य और अमुख्य वाक्य। किन्तु पूर्वोक्त आपत्ति के अनुसार तो अमुख्य वाक्य बिलकुल व्यर्थ सिद्ध होगा। स्थिति यह है कि निष्कर्ष दोनों वाक्यों को एक साथ लेकर निकाला जाता है, किसी एक वाक्य से नहीं निकाला जाता है। इसलिये अमुख्य वाक्य की सत्ता से यह बिलकुल सिद्ध है कि सिलाजिज्म मे सिद्धसाधन दोप नहीं आता। अमुख्य वाक्य इस तथ्य का द्योतक है कि सिलाजिज्म में निष्कर्ष केवल मुख्य वाक्य में निहित नहीं रहता, किन्तु यह सर्वथा अपूर्व है जो दोनों वाक्यों की तुलना का परिणाम है। इस निष्कर्ष के निकालने मे मध्यम-पद विशेप स्थान रखता है। वास्तव मे जैसे भारतीय अनुमान में हेतु मुख्य वस्तु है उसी प्रकार सिलाजिज्म में मध्यम-पद मुख्य है। इस मध्यम-पद के बल से ही नवीन निष्कर्ष निकालने में हम सफल होते हैं।

यदि वास्तव में सिलाजिज्म में सिद्धसाधन दोप होता तो ससार में हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। हमारा ज्ञान अन्य जन्तुओं के

समान विशेष पदार्थों का ज्ञान करके ही सन्तुष्ट रहता किन्तु हम यह अनुभव करते हैं कि मनुष्य ही है जो विशेष से उठकर सामान्य के तथ्य पर पहुँचता है और सामान्य सिद्धान्तों को बनाकर, उनके द्वारा नवीन-नवीन तथ्यों की खोज करता है। हम यह कह सकते हैं कि सिलाजिज्म में निष्कर्ष प्रतिज्ञा वाक्य में निहित रहता है; किन्तु जब तक हम सिलाजिज्म की प्रक्रिया को धारण न करें हमें निष्कर्ष मिल ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि निष्कर्ष मुख्य वाक्य में अव्यक्त रूप से रहने पर भी हमें उसका ज्ञान तभी हो सकता है जब हम सिलाजिज्म की प्रक्रिया से निष्कर्ष निकालते हैं। अनुमान की विशेषता इसीमें है कि जो अज्ञात है उसको ज्ञात के आधार पर जान लिया जाय। ज्ञान की वृद्धि संसार में इसी प्रक्रिया से ही होती है। अतः जब हम सिलाजिज्म की प्रक्रिया से निष्कर्ष निकालते हैं तो अवश्य ही हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य सत्य-प्राप्ति है। सत्य का स्वरूप किस प्रकार से हमारे ज्ञान का विषय बने उन सब बातों को हमें ग्रहण कर प्रयोग में लाना चाहिये।

तथा यदि यह मान भी लिया जाय कि मिल की आपत्ति उपयुक्त है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस आपत्ति का मूल कारण मनोवैज्ञानिक है, तार्किक नहीं। किसी तर्क को इस आधार पर असत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इसको सब जानते हैं।' रेखागणित के सिद्धान्त इसलिये निरर्थक नहीं कहे जा सकते क्योंकि अमुक व्यक्ति उन्हें अच्छी तरह जानता है और उसे सब सिद्धान्त याद हैं।

इन हेतुओं से यह सिद्ध है कि सिलाजिज्म में सिद्धसाधन दोष निराधार है। सिलाजिज्म का जीवन में तर्क और विचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्व है।

इस विरुद्ध यदि हम ह्वाटले (Whatley) महोदय के विचारों को महत्व दें तो हमें प्रतीत होगा कि उनके अनुसार सिलाजिज्म को

छोड़कर तर्क करने की और कोई प्रक्रिया है ही नहीं। यह भी विचार अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि सिलाजिज़्म को ही तर्क करने का आधार मानने पर हम तर्क को अत्यन्त संकुचित रूप में निबद्ध कर देंगे। सिलाजिज्म तो केवल उन्हीं वाक्यों से सम्बन्ध रखता है जिनमें द्रव्य और गुणों का सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है। किन्तु जब हम दूसरे सम्बन्धों से भी तर्क करते हैं तो वहाँ सिलाजिज्म की निरर्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। हाँ, यह अवश्य है कि सिलाजिज्म तर्क करने का अच्छा उपाय है। केवल इसीको उपाय मानना और यह कहना कि और कोई उपाय है ही नहीं, ठीक नहीं है।

अभ्यास प्रश्न

१. मिल महोदय की सिलाजिज्म के विरुद्ध क्या आपत्ति है? उन आपत्तियों को उठाकर उनका समाधान करो।

२ सिद्धसाधन दोष से तुम क्या समझते हो? क्या सब अवयव-घटित-न्याय इस दोष से दुष्ट होते हैं? समाधान करो।

३ मिल महोदय का यह कहना है कि सब तर्क—'विशेष से विशेष का होता है' कहाँ तक ठीक है? इसके विरुद्ध अपने विचार प्रकट करो।

४ किस दृष्टि से सिलाजिज्म को सिद्धसाधन दोष से दुष्ट गिना गया है? स्पष्ट करो।

५. 'क्या तर्क करने का सिलाजिज्म को छोड़कर और कोई उपाय ही नहीं?' इसपर अपने समालोचनात्मक विचार प्रगट करो?

६ सिलाजिज्म की विशेष उपयोगिता क्या है, जब मनुष्य साधारण जीवन में इसके अनुसार तर्क ही नहीं करते?

अध्याय २०

परिशिष्ट २

प्राच्य और पाश्चात्य अनुमान विधियाँ

आजकल प्राच्य और पाश्चात्य अनुमान विधियों के ऊपर तुलनात्मक विवेचन करने की परिपाटी चल गई है। मनुष्य जब से इस सृष्टि पर विद्यमान है, सोचता रहा। आज हम जितना ज्ञान विज्ञान का उत्कर्ष देखते हैं यह सब मनुष्य के चिन्तन का परिणाम है। चिन्तन करना या सोचना हमें यह बतलाता है कि मनुष्य की तर्क करने की शक्ति स्वाभाविक[1] है। दृश्य जगत् को तो हम अपनी इन्द्रियों से प्राप्त करते हैं किन्तु जो वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों के ज्ञान के परे हैं उनके विषय में हमें अनुमान की या तर्क की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ही तर्क का उद्गम हुआ है।

हमारे सामने इस समय दो तर्क पद्धतियाँ उपस्थित हैं। (१) प्राच्य और (२) पाश्चात्य। यह पुस्तक पाश्चात्य तर्कविधि पर लिखी गई है। यद्यपि इसका प्राच्य पद्धति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है तथापि तर्क की दृष्टि से दोनों की तुलना करना संगत है। इसमें कौन प्राचीन और कौन अर्वाचीन है? किसका किसके ऊपर असर है? इन प्रश्नों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य तर्कशास्त्री एकमत नहीं हैं। हाँ इतना स्पष्ट है कि दोनों तर्क पद्धतियाँ यथेष्ट प्राचीन हैं। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है इस विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। एक पक्ष के लोगों का कहना यह है कि पाश्चात्य पद्धति का प्राच्य पर प्रभाव

1 Natural.

है। दूसरे पक्ष के लोगों का कहना है कि प्राच्य का पाश्चात्य पर प्रभाव है। मैंने जहाँ तक अध्ययन किया है मुझे यह प्रतीत होता है कि दोनों तर्क पद्धतियाँ स्वतन्त्र हैं और दोनों देशों के लोगों ने स्वतन्त्र रीति से तर्क करना प्रारम्भ किया है। यही कारण है कि मूल प्रक्रिया और अवान्तर प्रक्रियायें दोनों सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं।

दोनों के भिन्न होने पर विचार की दृष्टि से दोनों प्रकार की अनुमान विधियों में तुलना भलीभाँति हो सकती है। इसके लिये प्रथम हम भारतीय तर्क पद्धति को लेते हैं। भारतीय न्यायशास्त्रों में अनुमान का साधारण लक्षण यह है "साधन से साध्य का ज्ञान करना" यहाँ साधन 'हेतु' कहलाता है और 'साध्य' उसे कहते हैं जिसे सिद्ध किया जाय। उदाहरणार्थ 'यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि यहाँ धूम है'। यहाँ धूम, हेतु है और पर्वत में अग्नि, साध्य है। अतः धूम से अग्नि के होने की सिद्धि करना अनुमान है।

यह अनुमान दो प्रकार का होता है (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। स्वार्थानुमान अपने लिये होता है। इसलिये स्वार्थानुमान में केवल हेतु और साध्य का ही ज्ञान आवश्यक है। बुद्धिमान मनुष्य हेतु को देखकर तुरन्त साध्य का ज्ञान कर लेता है। किन्तु जब दूसरे को समझाने के लिये अनुमान का प्रयोग किया जाता है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। यह वचनात्मक होता है। परार्थानुमान के एक से लेकर पाँच तक अंग होते हैं। यदि कोई शिष्य अत्यधिक बुद्धिमान है तो उसके लिये हेतु के उच्चारण मात्र से साध्य का ज्ञान हो जाता है किन्तु शिष्यों की ग्राहकता की दृष्टि से ५ अंगों तक का प्रयोग किया जाता है। ये अंग निम्नलिखित हैं।

१ प्रतिज्ञा — पर्वत अग्निमान् है।
२ हेतु — क्योंकि वहाँ धूम है।

३ उदाहरण जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है;
   जैसे रसोई घर।

४ उपनय वैसे यहाँ धूम है।

५ निगमन इसलिये यहाँ अग्नि भी है।

यह क्रम भारतीय पद्धति का है। इसमें सबसे प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य दिया गया है पश्चात् हेतु दिया गया है। ये दो भाग मुख्य हैं। इसीको स्पष्ट करने के लिये उदाहरण दिया गया है। उदाहरण में भी यदि किसीको सन्देह उत्पन्न हो तो उसको दूर करने के लिये उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह पञ्चांग-पूर्ण ही भारतीय तर्क-पद्धति है।

हम एक उदाहरण सिलाजिज्म का भी लेते हैं। सिलाजिज्म वाक्यानुमान का वह रूप है जिसमें हम दिये हुए दो वाक्यों के योग से एक तीसरा निष्कर्ष निकालते हैं। जैसे

सब मनुष्य मरणशील हैं।
नागार्जुन एक मनुष्य है।
नागार्जुन मरणशील है।

इसमें हम देखते हैं कि तीन पद प्रयुक्त किये गये हैं और वे भी दो-दो बार। निष्कर्ष का उद्देश्य अमुख्य पद होता है और विधेय मुख्य पद। तीसरा पद मध्यम पद होता है जो विशिष्ट स्थान रखता है। यह निष्कर्ष में नहीं होता किन्तु दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों में आता है। यह योजक है और मुख्य और अमुख्य पद में बिचवानिया या दलाल का काम करता है। इस प्रकार हम एक नवीन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

अब इन दोनों का तुलनात्मक विचार करना चाहिये। सबसे पहले हम भारतीय अनुमान को सिलाजिज्म में परिवर्तित करते हैं पश्चात् दोनों की तुलना करना सुगम होगा :—

सब धूम के दृष्टान्त — अग्नि के दृष्टान्त हैं।
यह पर्वत — धूम का दृष्टान्त है।
यह पर्वत — अग्नि का दृष्टान्त है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे से उलटी सी मालूम होती हैं। सर्वप्रथम हम प्रतिज्ञा को ले सकते हैं। भारतीय पद्धति में यह सर्वप्रथम रक्खी गई है किन्तु पाश्चात्य पद्धति में यह निष्कर्ष के रूप मे हमारे सामने उपस्थित होती है। सिलाजिज़्म मे जिनको हम मुख्य पद और अमुख्य पद कहते हैं भारतीय पद्धति मे वे ही पक्ष और साध्य हैं। इस व्यत्यय का कारण क्या ? इसमें एक दूसरे के आदान प्रदान का प्रश्न उठाना व्यर्थ है। मैं समझता हूँ इसका उत्तर ज्ञान की सापेक्षता मे है। आप किसी भी दृष्टि विन्दु से चलें आप पहुँचेंगे उसी निष्कर्ष पर। यहाँ पर भी भारतीय लोग अनुलोम विधि से और पाश्चात्य लोग प्रतिलोम विधि से, एक ही निर्णय पर पहुँचे हैं। यह निर्णय है वस्तुसिद्धि। वस्तुसिद्धि सरलता पूर्वक जिस प्रकार से हो सके वही पद्धति ग्रहण करनी चाहिये।

प्राच्य पद्धति में निष्कर्ष को पहले रखने का प्रयोजन यही है कि जिस वस्तु को हमे सिद्ध करना है उसे पहले ही रक्खा जाता है। रेखागणित मे भी यही प्रक्रिया ग्रहण की जाती है। वहाँ भी प्रतिज्ञा वाक्य पहिले दिया जाता है पश्चात् उपपत्ति दी जाती है। किन्तु पाश्चात्य पद्धति में ऐसा नहीं है। वे व्याप्ति वाक्य में एक दृष्टान्त को लेकर निष्कर्ष निकालते हैं। इस प्रकार उनकी यह प्रक्रिया सामान्य से विशेष की ओर चलती है। इस प्रक्रिया को वे निष्कर्षण प्रक्रिया (Deductive method) कहते हैं।

कार्वेथ रीड (Carveth Read) ने अनुमान के दो अभिप्राय प्रकट किये हैं। प्रथम अभिप्राय तो यह है कि अनुमान विधि

प्रायः किसी वस्तु को देखकर या सुनकर हम कुछ उसके विषय में कल्पना करते हैं। प्रथम हमें किसी वस्तु का दर्शन या श्रवण कर उस वस्तु के विषय में आशंका सी उत्पन्न होती है। उसके निवारणार्थ हम कल्पना की सृष्टि करते हैं। मेघ मेघाच्छादित कृष्ण बादलों को देखकर वृष्टि होने की कल्पना की जाती है। यह प्रक्रिया मानसिक है और इसलिये मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान की किसी पुस्तक को उठाकर हम देखें तो कल्पना के प्रभाव में हमें अनुमान करने की इस क्रिया का बयान मिल जायगा।

दूसरा अभिप्राय रीड महोदय का एक काल्पनिक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त फल से है। जब हम अपनी मानसिक कल्पना द्वारा फलित तत्त्व निष्कर्ष निकालते हैं तब वह 'अनुमान' तर्कशास्त्र का विषय बन जाता है। इसमें हमें व्यक्ति और विशेष रूप से सद्‌युक्ति का अवलम्बन लेना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मनोविज्ञान प्रत्यक्ष और श्रुत के आधार पर कल्पना द्वारा हमें किस प्रकार नवीन सत्यों की खोज करने में सहायक होता है। तथा तर्कशास्त्र निष्कर्ष को लेकर इस बात की खोज कराता है कि वह निष्कर्ष हमें किस प्रकार सम्पन्न हुआ।

इस दृष्टि से हमें कहना पड़ेगा कि प्राच्य पद्धति में तर्क का विशेष आलम्बन लिया गया है किन्तु पाश्चात्य पद्धति में मनोविज्ञान का आधार अधिक है। हमारी मानसिक गति कैसे सामान्य की ओर से विशेष की ओर जाती है और किस प्रकार फिर विशेष से सामान्य की ओर जाती है—यह पाश्चात्य तर्क की विशेषता है। इसके विपरीत भारतीय पद्धति में केवल एक ही प्रकार है अर्थात् हेतु से साध्य का ज्ञान करना। यद्यपि इसके भेदों में स्वभाव व्याप्य व्यापक, कार्य कारण आदि अनेक आनुमानिक प्रक्रियाएँ अन्तर्भूत हैं। इसी कारण प्रक्रिया का उल्लेख यथाक्रम किया जाता है।

दूसरा स्थान हेतु का है। हेतु का मुख्य लक्षण है 'अन्यथानुपपत्ति' अर्थात् जिसके अभाव में साध्य की सिद्धि न हो। हम देखेंगे कि पाश्चात्य तर्क पद्धति में भी अमुख्य वाक्य (Minor Premise) का बड़ा स्थान है। हम इसे हेतुवाक्य कहें तो आपत्ति नहीं। इसमें निष्कर्ष के उद्देश्य का हेतु के साथ सम्बन्ध रहता है। निष्कर्ष की प्राप्ति में यह विशेष कार्य करता है। इसको अमुख्य या गौण वाक्य इसलिये कहते हैं कि यह मुख्य वाक्य के अनन्तर रक्खा जाता है।

तीसरा स्थान उदाहरण का है। भारतीय पद्धति में उदाहरण के लिये विशेष महत्व नहीं। अल्पबुद्धि शिष्यों के लिये दृष्टान्त या उदाहरण की आवश्यकता पड़ती है। व्युत्पन्न शिष्य या मनुष्य तो हेतु और प्रतिज्ञा इन दोनों से ही भली भाँति ज्ञान कर लेता है। किन्तु पाश्चात्य पद्धति में इसके विपरीत इसका अत्यन्त महत्व है। जिस प्रकार रेखागणित में प्रतिज्ञा वाक्य (General Enunciation) होता है उसी प्रकार यह भी प्रतिज्ञा के रूप में रक्खा जाता है। इसको मुख्य वाक्य इसलिये कहते हैं क्योंकि यह सबसे पहले रक्खा जाता है। तथा निष्कर्षण या विशेषानुमान (Deduction) में हम सामान्य से विशेष की ओर चलते हैं। यह वाक्य सामान्य वाक्य कहलाता है और इसके साथ हम एक विशेष वाक्य की तुलना करके विशेष का निष्कर्ष निकालते हैं। यह मुख्य पद निष्कर्ष के विधेय का हेतु के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य पद्धति में किस प्रकार उद्देश्य पद, विधेय पद और मध्यम पद का उपयोग किया गया है। भारतीय पद्धति में विशेष रूप से मध्यम पद—हेतु और मुख्य पद—साध्य का प्रयोग किया गया है। अमुख्य पद साध्य के साथ ही ले लिया जाता है। इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, या जो वस्तु सिद्ध करनी होती है उसे सिद्ध करते हैं।

चौथा और पाँचवाँ अवयव पाश्चात्य पद्धति में और भारतीय पद्धति में विशेष उपयोगी नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि यदि उदाहरण में किसी को संदेह हो या प्रतिज्ञा वाक्य में किसी को संदेह हो तो उसके दूर करने के लिये वे उपयोगी हो सकते हैं। वास्तव में देखा जाय तो उपनय हेतु के उपसंहार को छोड़कर कुछ नहीं है और प्रतिज्ञा के उपसंहार को छोड़कर निगमन कुछ नहीं है। दोनों अवयवों पर गौतम को छोड़कर अन्य किसी भारतीय तार्किक ने अधिक भार नहीं दिया है।

अतः दोनों पद्धतियों में तीन ही अवयव मानने चाहिये और तीन की ही उपयोगिता है। भारतीय पद्धति में (१) पक्ष (२) हेतु (३) उदाहरण और पाश्चात्य पद्धति में (१) उदाहरण (२) हेतु (३) पक्ष—यही अनुमान का क्रम है। दोनों पद्धतियाँ अनुलोम-प्रतिलोम रूप हैं। दोनों को एक समझना भूल है। न दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव ही प्रतीत होता है। दोनों पद्धतियाँ हमारे विचार के अनुसार स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम प्रतीत होते हैं। एक को अच्छा कहना और दूसरे को बुरा कहना वैशिक आग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। विद्यार्थियों को दोनों ही प्रक्रियाओं को समुचित रूप से अध्ययन कर लाभ उठाना चाहिये—यही हमारी मान्यता है।

अभ्यास प्रश्न

१ भारतीय और पाश्चात्य अनुमान विधियों में क्या अन्तर है? दोनों का स्पष्ट विवेचन करो।

२. भारतीय और पाश्चात्य तर्कविधियों में से किसका किसके ऊपर प्रभाव है? अपना स्वतंत्र मत दो।

३ विशाखिक्रम और पश्चात् पूर्व अनुमान में कहाँ तक समानता है? उदाहरणपूर्वक समझाओ।

४. एक सिलाजिज्म को भारतीय अनुमान के रूप मे परिवर्तित करो और दोनों की समानता पर प्रकाश डालो।

५ भारतीय तर्क-पद्धति मे हेतुपद और पाश्चात्य तर्क-पद्धति में मध्यम पद का क्या स्थान है? इस पर सुस्पष्ट प्रकाश डालो।

६. 'विशेषानुमान को निगमन विधि कहना कहाँ तक संगत है' इस पर अपने विचार प्रकट करो।

७ 'प्राच्य पद्धति में निष्कर्ष को पहले क्यों रक्खा जाता है और पाश्चात्य पद्धति में यह अन्त में निकलता है' इस पर अपना विवेचनात्मक विचार प्रकट करो।

उनको ही उन ऋषि महर्षियों के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार वेद आदि शास्त्रों के दर्शन उनका अध्ययन या उनके उपदेश के अनुसार होने वाले यज्ञादि के दर्शन भी धार्मिक व्यक्ति ही कर पाते हैं। जो पुरुष अधर्मी या पापी हैं उनकी रुचि भी सन्त-दर्शन और उपदेश-श्रवण की ओर नहीं होती। इसलिये यह मान्यता ठीक है कि ऋषियों के उपदेश और यज्ञादि पुण्य पदार्थों के दर्शन धर्मवान् पुरुषों को ही होते हैं। इस सूत्र का यह भी अर्थ होता है कि 'सिद्ध पुरुषों के दर्शन और उनके यथार्थ उपदेशों को सुनने का धार्मिक जन ही सौभाग्य प्राप्त करते हैं।" ठीक भी है—अधार्मिकों को ऐसा अवसर ही नहीं मिल सकता।

॥ नवमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम् समाप्तः ॥

दशमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुख दुःख-योरर्थान्तरभावः ॥१॥

सूत्रार्थ—इष्ट-अनिष्ट-कारण-विशेपात्=इच्छित और अनिच्छित कारणो की विशेषता से, च=और, मिथ =परस्पर, विरोधात्=विरोध से, सुख-दु खयो =सुख और दु.ख मे, अर्थान्तर भाव =परस्पर मे विरुद्ध-भाव होता है।

व्याख्या—सुख और दु ख दोनो के लक्षण एक दूसरे से विरुद्ध भाव वाले हैं। सुख की प्राप्ति इच्छित है अर्थात् सुख मिले यही इच्छा सदा रहती है, परन्तु, दु ख की प्राप्ति अनिच्छा से हो जाती है। अर्थात् यह कोई नही चाहता कि मुझे दु ख की प्राप्ति हो। इस प्रकार सुख इच्छित और दु ख अनिच्छित होने से, दोनो मे परस्पर विरोध है। क्योंकि, सुख है तो दु ख का अभाव होगा और दु ख है तो सुख नही रहेगा। इन दोनो के लक्षणो मे भी भिन्नता है। सुखी मनुष्य का मुख प्रसन्न रहता है, वह शरीर से स्वस्थ और अच्छे वस्त्राभूषण धारण किये उमग वाला होता है। परन्तु, दु खी मनुष्य के मुख पर मलीनता दिखाई देती है, उसका शरीर निवल प्रतीत होता है और दु ख के कारण अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण करने की इच्छा ही नही हो पाती। इससे सिद्ध होता है कि सुख और दु ख परस्पर विपरीत लक्षण वाले हैं। 'अर्थान्तर-भाव' का यही तात्पर्य है और इसीलिये सूत्रकार ने सुख-दु ख को परस्पर विरोधी कहा है।

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥२॥

सूत्रार्थ—च = और, संशय निर्णय-अन्तराभाव = संशय और निर्णय में किसी प्रकार के अन्तर का अभाव ज्ञानान्तरत्वे = सुख दुःख के पृथक होने वाले ज्ञान के अन्तर में हेतु = कारण रूप है।

व्याख्या—सुख-दुःख में विपरीत लक्षण होने के कारण संदेह और परीक्षण की दृष्टि से निर्णय भी विपरीत होता है। अथवा इसे यों समझना चाहिये कि जब मनुष्य सन्देह में रहता है और कोई निर्णय नहीं कर पाता तो उस सन्देह और निर्णय के बीच की वस्तु निरीक्षण या परीक्षण है, उसके द्वारा यथार्थ वस्तु का ज्ञान हो जाता है उस ज्ञान को सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला समझना चाहिये। सन्देह उसे कहते हैं, जैसे अमुक वस्तु गाय है या बैल? जब इसके चिह्नों को देखकर परीक्षण किया तो स्पष्ट ज्ञान हो गया कि यह गाय है। तो गाय को उसके चिह्नों की परीक्षा करने से जाना गया। यह जानना ही निर्णय है। इसी निर्णय के द्वारा यह निश्चय होता है कि अमुक वस्तु उपयोगी है अथवा अमुक वस्तु उपयोगी नहीं है। ज्ञान को दो प्रकार का मानते हैं—एक तो सांदेहिक अर्थात् जिसके वास्तविक होने में सन्देह हो और दूसरा आनुमानिक अर्थात् जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाय कि अमुक वस्तु गाय ही होगी और यह अनुमान ठीक हो तो उसे निर्णय कह सकते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि परीक्षण ही निर्णय की कसौटी है और उसी के द्वारा सुख और दुःख में क्या अन्तर है, यह जाना जा सकता है।

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥३॥

सूत्रार्थ—तयोः = उन सुख दुःख की निष्पत्ति = उत्पत्ति प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् = प्रत्यक्ष और अनुमान से हो सकती है।

व्याख्या—सन्देह और निर्णय उन्हीं पदार्थों के प्रति होता है,

जिनकी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा अनुमान के द्वारा होती हो। सुख-दु.ख का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष रूप से नही होता और न उसका अनुमान ही होता है। उसकी उत्पत्ति विषयो से होती है। परन्तु, विषयो से उत्पन्न होने वाले सुख के तीन भेद माने गये हैं—(१) मनोवाछित अर्थात् मन मे बडी-बडी कामनाये करें और उन कामनाओ की पूर्ति हो जाय, (२) अहकारिक अथवा मानसिक—दूसरो को तुच्छ और अपने को महान् समझने से जो सुख उत्पन्न हो और (३) आभ्यासिक—जो योगाभ्यास आदि से उत्पन्न हो। इसी प्रकार दु ख के भी कई भेद हैं जो सुख के विपरीत साधनो से उपलब्ध होते है। इसे इस प्रकार समझिये कि मन में जो कामनाऐ हैं, उनकी पूर्ति न होने से दु ख का उत्पन्न होना दूसरो को तुच्छ और अपने को महान् समझने से दूसरो का निरादर होने से द्वेष के कारण उनके द्वारा अपकार होने से दु ख का उत्पन्न होना और यो ासनो का उलटे-पुलटे रूप में लगाने से शारीरिक कष्ट होना और अभ्यास का सिद्ध न होना, यह सब दु ख रूप ही है। इन कारणो के सिवाय अन्य अनेक कारणो से सुख-दु ख की प्राप्ति हो सकती है। इनमे, इन्द्रिय जनित विषयो से प्राप्त सुख-दु ख को उनके लक्षणो का ज्ञान होने से जान सकते है, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे किसी का विषादमय चेहरा देखकर दु खी और प्रफुल्लित मुख देखकर सुखी होने का अनुमान हो जाता है और अनेक व्यक्तियो को प्रत्यक्ष रूप से सुख या दु ख पाते देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सुख दु ख की जानकारी अनुमान से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है।

अभूदित्यपि ॥४॥

सूत्रार्थ—अभूत=पहिले कभी न हुआ, इति=इससे, अपि =भी दु ख, सुख का उत्पन्न होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस सुख का पहिले कभी अनुभव न हुआ हो और किसी कारणवश अकस्मात् उस सुख की प्राप्ति हो जाय उसे अभूत कहते

है। यही बात दुःख के सम्बन्ध मे समझनी चाहिये। किसी पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति होना अभूतपूर्व सुख है और किसी परम्परा से धनिक चले आने वाले पुरुष का धन मुस हो जाना अभूतपूर्व दुःख है। कुछ व्याख्याकार 'अभूत' पद का अर्थ समय से लगाते हैं जैसे भूतकाल में हुआ था और 'भवि' से तात्पर्य भविष्यत् मे होगा। परन्तु भूतकाल और भविष्यत् काल का व्यवहार अनुमान आदि में हो सकता है, सुख-दुःख, मे नहीं हो सकता। सुख होगा दुःख होगा ऐसा अनुमान तात्कालिक लक्षणों को देखकर हो सकता है परन्तु निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सुख होगा या नहीं। इसी प्रकार जंगल में आग लगी थी यह जले हुए पत्तों से अनुमान की जा सकती है। दुःख उत्पन्न हुआ था मैं सुख पारहा हूँ—ऐसा अनुभव सुख-दुःख के वर्तमान काल का ही बोधक है।

सति च कार्यादर्शनात् ॥५॥

सूत्रार्थ—कार्य अदर्शनात्=सुख-दुःख का कार्य प्रत्यक्ष न देखे जाने से च=भी सति=सुख दुःख का होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—सुख-दुःख नामक कोई ऐसे पदार्थ नहीं है, जिन्हें प्रत्यक्ष देखा जा सके। इनमें से एक का अभाव हो तो दूसरे का अस्तित्व होना सिद्ध होता है। अर्थात् कोई एक पुरुष दुःखी नहीं है उसके पुत्र पुत्री धन धान्य भवन मकान मान-प्रतिष्ठा आदि सब कुछ है इसलिये उसे सुखी पुरुष कहा जायगा। क्योंकि उसे दुःख का अभाव होने से दुःखी पुरुष नहीं कह सकते। इसी प्रकार, जो पुरुष धन-संतान घर-बार आदि से रहित है और जिसकी लोकैषणा समाप्त नहीं हुई है, वह साधन-हीन होने से दुःखी ही कहा जायगा क्योंकि उसे सुख का अभाव है। सुख या दुःख कोई मूर्तिमान पदार्थ न होने से अनुमान का विषय ही हो सकते हैं। जैसे सुखी मनुष्य मे मुख का प्रसन्न होना स्वस्थ होना आदि लक्षण

पाये जाते है और दु खी मनुष्य मे मुख की मलीनता, निर्बलता आदि का होना देखा जाता है।

एकार्थ समवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ।।६।।

सूत्रार्थ—एकार्थ समवायि कारणान्तरेषु=समवायि कारण के अतिरिक्त कारण मे एकार्थ, दृष्टात्वान्=देखे जाने से सुख-दु ख पृथक् पृथक् होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस कारण मे एक अर्थ है, उमी मे आवश्यक होने पर विशेष भेद हो जाने से सुख-दुख का एक दूसरे से भिन्न होना सिद्ध होता है। क्योकि, मुख-दु ख के भी अनेक कारण एक अर्थ वाले हैं, जैसे किसी से धन प्राप्त करने की चेष्टा करें तो उस धन के मिल जाने पर सुख मिल सकता है और न मिलने पर दु ख। इसमे धन प्राप्त करने की चेष्टा एक ही विषय है, उसके दो परिणाम हो सकते है धन मिलने से सुख और न मिलने मे दु ख। अव दूसरे प्रकार से भी एकार्थ कारण को समझिये कि सुखका सामान्य कारण, जो एक ही अर्थ मे निहित है, वह है धर्म। कार्योंकि करने से मुख की प्राप्ति होती है, यह मान्यता है। यदि कहे कि पाप कर्मियो का भी सुखी होना प्रत्यक्ष देखते हैं, तो उसका कारण प्रारब्ध है। प्रारब्ध पूर्व जन्म के कर्मों को कहते हैं। पूर्व जन्म में शुभ कर्म किये हो, उनका फल भोग शेप रहने पर, इम जन्म मे उनके भोग रूप सुख की प्राप्ति होती है। इमी प्रकार अधर्म को दु ख का कारण मानते हैं। लोक मे अनेक धार्मिक पुरुपो को दु ख पाते हुए देखा जाता है, उमका कारण पूर्व जन्म के पाप-कर्म हैं, उनका भोग तो भोगना ही होगा। यद्यपि कोई भी नही चाहता कि दु ख भोगा जाय। सभी, दु ख मे द्वेप रखते हैं, परन्तु अपने ही, किये हुए कर्मो का फल भोगने के लिये जीवात्मा विवश है। जो व्यक्ति दु ख मे छुटकारा पाने के लिये शुभ कर्म रूपी प्रयत्न करते हैं, वे भोग पूरा होने पर सुख पाने लगते है। तात्पर्य

यह है कि पाप-कर्मी भी यदि संयम ध्यान और शुभ कर्म करने लगे तो उनके पाप-कर्मों की शक्ति घटने लगती है। जैसे रेलगाड़ी का इंजिन तेजी से चल रहा है उसकी चाल को धीमी करने के लिये रोक लगा देने से तेजी कम होकर धीरे-धीरे गाड़ी रुक जाती है वैसे ही पाप-कर्मों पर पुण्य कर्मों की रोक लगने से उनका प्रभाव घटता जाता है और आगे चल कर पाप कर्म समाप्त होने से दुःख की भी समाप्ति हो जाती है। जिस समय से पुण्य कर्मों का किया जाना प्रारंभ होता है, उसी समय से पाप कर्मों की शक्ति क्षीण होने लगती है और पुण्य के पाप पर हावी होने के कारण दुःखों में भी कमी होने लगती है।

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥

पदार्थ—एकदेशे = एक ही शरीर में शिरः पृष्ठम्-उदरम्-मर्माणि = शिर,पीठ उदर, मर्म स्थल आदि इति = ऐसा व्यवहार एकस्मिन् = एक के अंग रूप से होता है तद्विशेष = उन अंगों की विशेषता तद्विशेषेभ्यः = उनके कारण की विशेषता से है।

व्याख्या—एक ही शरीर में यह सिर है, यह पेट है, यह पीठ है, यह मर्मस्थल है यह हाथ-पाँव है इस प्रकार का अंग विभाग उसके कारणों में विभाग होने से है। प्रत्येक अंग का प्रत्येक विशेष कारण है। तात्पर्य यह है कि जिस परमाणु से सिर बना उससे पेट नहीं बना और जिससे पेट बना उससे सिर नहीं बना। यह अंग पंचतत्वों से निर्मित कहे जाते हैं परन्तु किसी में किसी एक तत्व की विशेषता है तो किसी में किसी दूसरे तत्व की विशेषता है। किसी में पृथिवी तत्व अधिक है किसी में जल तत्व किसी में अग्नि तत्व किसी में वायु तत्व और किसी में आकाश तत्व। पिछले अध्यायों में इनका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं और यहाँ संक्षेप में समझाते हैं कि पृथिवी तत्व का विशेष गुण गंध

है और नासिका ही उस गुण अर्थात् गध का ग्रहण कर सकती है, इसलिये नासिका का कारण पृथिवी तत्व है। जल तत्व का गुण रस है, जिह्वा का कार्य रस को ग्रहण करना होने से जिह्वा का कारण जल तत्व है। अग्नि तत्व का गुण रूप है और नेत्र रूप को ग्रहण करते हैं, इसलिये नेत्र का कारण अग्नि तत्व है। वायु का गुण स्पर्श है और त्वचा का धर्म स्पर्श का अनुभव करना होने से त्वचा का कारण वायु तत्व है। आकाश का गुण शब्द है और कान शब्द को ग्रहण करते हैं, अत उनका कारण आकाश तत्व है। वैसे सब अगो मे सभी तत्वो का आशिक समावेश हैं और एक-एक तत्व के अधिक अश होने से ही उनमे कारण की विशेषता पाई जाती है। इसीलिये, सूत्रकार ने शरीर के अगो मे भेद होने को कारण के भेद होने से कहा है।

॥ दशमोऽध्याय —प्रथमाह्निकम् समाप्त. ॥

दशमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

कारणमितिद्रव्ये कार्य समवायात् ॥१॥

सूत्रार्थ—कारणम्=यह कारण है, इति=ऐसी प्रतीति, द्रव्ये=द्रव्य मे होती है, कार्य समवायात=कार्यों का द्रव्यो से समवाय सबध होने से ऐसा ही माना जाता है।

व्याख्या—द्रव्यों मे कार्यों का समवाय सम्बन्ध देखने से कारण होने का अनुभव होता है। कार्य-भेद का कारण भी कारण-भेद ही है अर्थात् कारणों मे विभिन्नता होने से कार्यों में विभिन्नता होती है। द्रव्य मे गुण और कर्म दोनो समवाय सबध से रहते हैं, परन्तु गुण, कर्म में द्रव्य नही रहता। इस प्रकार, जो किसी का आश्रय नही, बल्कि स्वय दूसरे के

आश्रित हो वह समवायि कारण नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य में गुण कर्म का निवास समवाय संबंध से है।

संयोगाद्वा ॥२॥

सूत्रार्थ—वा = अथवा संयोगात्—संयोग से भी समवाय संबंध का होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—वस्त्र के उत्पादन में धागे उसके समवायी कारण हैं और वस्त्र बुनने वाले जुलाहे के जो साधन बुनने के काम में आते हैं उनका धागों से संयोग होने पर वस्त्र बुना जाता है इसलिये वे वस्त्र बुनने के हेतु होने से निमित्त कारण हैं। क्योंकि समवायी कारण रूप संयोग की उत्पत्ति वस्त्र के बुन जाने पर ही होती है। इसलिये द्रव्य ही समवायी कारण और निमित्त कारण भी है। उपादान कारण होना द्रव्य में ही पाया जाने से उसका समवायी कारण होना सिद्ध होता है और साधन होने से निमित्त कारण बनता है। समवायी निमित्त और असमवायी इन तीन प्रकार के कारणों में द्रव्य का समवायी कारण और निमित्त कारण होना सिद्ध कर चुके अब कर्म किस प्रकार का कारण है यह अगले सूत्र में स्पष्ट किया जाता है।

कारणेऽसमवायात् कर्माणि ॥३॥

सूत्रार्थ—कारणे—कारण से संबंधित कर्माणि—कर्मों में असमवायात्—असमवायि होने से यही समझना चाहिये।

व्याख्या—कर्म असमवायि कारण है। जो कारण और कार्य के सम्बन्ध को एक से ही संयोजित करके उसे असमवायि कारण कहते हैं। असमवायि कारण कार्य में रहने वाला हो तो छोटा माना जाता है और कारण में रहने वाला हो तो बड़ा कहा जायगा। कारण में रहने वाला कर्म कारण कहा जाता है और कार्य में रहने से कर्म संयोग आदि का असमवायि कारण हो जाता है।

तथा रूपे कारणैकार्थ समवायाच्च ॥४॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, कारणैकार्य समवायात्=कारण का कार्य से समवाय सबध होने से, रूपे=रूप आदि गुणो मे, च=भी कारण होना माना जाता है।

व्याख्या—इस सूत्र मे रूप आदि गुणो के सम्बन्ध मे उपलक्षण उपस्थित किया गया है। अर्थात् रूप, रस गध, स्पर्श आदि का द्रव्य होना कहा है। इन समस्त रूप आदि गुणो का समवायी कारण द्रव्य है। उसके साथ सयुक्त रहने रूप आदि को उत्पन्न करने वाला है।

कारण समवायात् सयोगः पटस्य ॥५॥

सूत्रार्थ—कारण समवायात्=तन्तु के समवायी कारण होने से, सयोग.=उनका परस्पर मिलना, पटस्य=वस्त्र के उत्पन्न होने का कारण होता है।

व्याख्या—समवायी कारण के साथ जो सयोग रहता है, वह भी समवायी कारण हो जाता है। जैसे घागे वस्त्र के समवायि कारण हैं, परतु उनका सयोग अर्थात् परस्पर मिलना भी समवायि कारण ही कहा जायगा। क्योकि, वस्त्र घागो के पारस्परिक सयोग के बिना वन ही नही सकता। एक घास के वडे गट्ठर मे घास की छोटी पोटली मिला देने पर महत्व परिणाम-कार्य कहा जायगा। क्योकि जव उस घास का अलग-अलग गट्ठर वनाया जायगा तो वह महत् वन जायगा और कारण का जो कारण है, उसका समवाय हो जायगा। तात्पर्य यह है कि घास के अवयवो से गाँठ वनी और वेमी क गाँठ वनने से महत् कार्य वन जायगा।

कारण कारणसमवायाच्च ॥६॥

सूत्रार्थ- च =और कारण कारण समवायात्=कारण का कारण समवाय होने से अणुत्व और महत्व वनता है।

व्याख्या—मिट्टी के अवयवों के मिलने में अर्थात् संयोग से मिट्टी का गोला बन गया। उस संयोग ने ही महत्व को उत्पन्न किया। क्योंकि वह संयोग कारण में मिल कर रहा, इससे महत्व की उत्पत्ति हुई। आशय यह है कि परमाणुओं के संयोग से ही महत् पदार्थों में महत्व होता है। जब तक परमाणुओं का संयोग नहीं होता तब तक महत्व बनेगा ही नहीं।

संयुक्त समवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥७॥

सूत्रार्थ—संयुक्त समवायात्=संयोग से समवाय होने के कारण अग्ने=अग्नि का वैशेषिकम्=विशेष गुण उष्णता उत्पत्ति का कारण होता है।

व्याख्या—अग्नि का विशेष गुण उष्णता अर्थात् गर्मी है, वह पाकज अर्थात् पकाने का कार्य करने वाला होने में निमित्त कारण है। जिस प्रकार अग्नि की विशेषता उष्णता बताई गई वैसे ही जितने भी निमित्त कारण हैं उन सब की अपनी-अपनी विशेषता है। अग्नि के पाकज गुण के द्वारा रूप रंग आदि की उत्पत्ति होना कहा है। क्योंकि वह अपनी मिली हुई समवाय के द्वारा गर्मी पहुँचा कर किसी वस्तु को रंगीन बनाने में समर्थ है। अपनी गर्मी के विशेष गुण से ही अग्नि अनाज तथा फल आदि को पकाकर तैयार करता है। इस प्रकार फल आदि की उत्पत्ति में अग्नि का संयोग असमवायी कारण होगा और फल आदि का उपादान कारण समवायि कहा जायगा। गर्मी को स्पर्श आदि के मिलने पर निमित्त कारण मानना चाहिये।

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्यु दयाय ॥८॥

सूत्रार्थ—दृष्टानाम्=वेदादि में उपदेशित कर्म दृष्ट प्रयोजनानाम्=जिनको इसी लोक में किया जाता है, दृष्ट-अभावे=

उनका तत्काल फल न मिलने पर भी, प्रयोग =किये जाने के योग्य, अभ्युदयाय=परम सौभाग्य रूप जो सुख तथा मोक्ष आदि है, उनकी प्राप्ति के अभिप्राय से ही करते रहना चाहिये।

व्याख्या—वेद आदि शास्त्रो मे जिन कर्मानुष्ठानो के करने का उपदेश मिलता है, वे कर्म इसी लोक मे किये जाते हैं। यदि उनका कोई फल न मिले तो भी, उन कर्मों को बारम्बार करते रहना चाहिये। क्योंकि वेद-शास्त्रों के उपदेश मिथ्या नही होते। उन कर्मों का फल इस लोक मे नहीं मिला है, तो परलोक मे अवश्य मिलेगा। इस जन्म मे नही मिला है तो पुनर्जन्म लेने पर मिलेगा। यदि सासारिक कार्यों मे उसका कोई फल नहीं मिला तो वह मोक्ष आदि की प्राप्ति मे सहायक होगा। क्योंकि कर्मों मे पूजन और स्तुति का समावेश रहने से उनका प्रभावशाली होना ही सिद्ध होता है। जिनकी स्तुति करेंगे, वह उस स्तुति को अवश्य सुनेगा। जिसकी पूजा की जायगी, वह अवश्य प्रसन्न होगा। वेदो मे निष्काम कर्म करने का भी उपदेश दिया है। वे कर्म अपने लिये हितकारी न होंगे तो उनसे दूसरो का उपकार अवश्य होगा और जिसमे दूसरो का उपकार हो, वह कभी अपना भी उपकार करेगा। "सर्व भूत हिते रता" गीता का यह वाक्य हमारे दृष्टिकोण को एक दम विस्तृत कर रहा है। उसका पालन करने मे अपनी तो कोई हानि है ही नही, यदि जन-कल्याण का कार्य हो जाय तो वह भी श्रेयस्कर हो होगा। जीव की हिंसा न करने वाले "अहिंसा परमोधर्म" अर्थात् 'अहिंसा परम धर्म है' इस उपदेश को पालें तो अपनी क्या हानि हो सकती है? मान लें कि इससे कोई लाभ भी नही है, जिससे लाभ नही, हानि भी नही, तो उसके करने मे कोई दोष नही हो सकता। सभव है—जिस कर्म मे हम कोई लाभ नहीं देखते, वह कर्म कभी लाभदायक हो ही जाय। 'न करने से कुछ करना अच्छा है' इस नियम के अनुसार मनुष्य को कुछ कर्म करते रहना चाहिये। परन्तु, ऐसा कर्म करना उचित है, जिससे दूसरो की हानि न होती हो।

ऐसा करने से कभी न कभी उसका श्रेष्ठ फल किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त होगा इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिये। क्योंकि सभी कर्म ईश्वर के लिये निवेदन किये जाने वाले होते हैं उनका निष्फल होना सिद्ध नहीं होता। मनुष्य तो इंद्रियों के विकारयुक्त होने से आलस्य राग द्वेष क्रोध आदि के कारण किसी के कार्य का फल देने में समर्थ या स्वतंत्र नहीं है परन्तु ईश्वर के निर्विकारी और सर्व समर्थ होने से अभीष्ट फलदाता होने में कोई संदेह नहीं है।

अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषे ॥६॥

सूत्रार्थ—अस्मद् बुद्धिभ्यो = सब के ज्ञान के लिये ऋषे = ऋषियों का ईश्वर को प्रतिपादन करने वाला लिङ्गम् = प्रमाण मिलता है।

व्याख्या—ऋषियों ने सबको परमात्मा का महत्व बताने वाला ज्ञान प्रकाशित किया है। यदि ऋषिगण उस ज्ञान का प्रकाश न करते तो सर्व साधारण मनुष्य क्या बड़े-बड़े धर्मात्मा पुरुष भी ईश्वर के महत्व को न जान पाते और ईश्वर के महत्व को न जानने का परिणाम यह होता कि संसार में धर्म-कर्म यज्ञ स्वाध्याय आदि कहीं भी होते हुए दिखाई नहीं देते और तब मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करने वालों का भी अभाव रहता। इस प्रकार आध्यात्मिक कर्मों के न होने से सर्वत्र अधर्म रूपी अन्धकार फैला दिखाई देता। इससे यह मानना होगा कि जिन ऋषियों ने शास्त्र आदि का उपदेश किया उनके कर्म की महानता से संसार को उनका आभार स्वीकार करना चाहिये।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—तद्वचनात् = उन ऋषियों के वचन से आम्नायस्य = वेद और स्मृति रूप होने का प्रामाण्यम् = प्रमाणस्वयं सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिन ऋषियो ने वेदादि शास्त्रो का प्रकाश किया, वे ऋषि त्रिकालदर्शी थे। वे जो कुछ कहते, वह अनुभव गम्य और प्रामाणिक होता। इसलिये, उनके द्वारा प्रकाशित शास्त्रो को प्रामाणित करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। उनके वे वेद आदि शास्त्र ही स्वय प्रमाण है, जिनके द्वारा वेद आदि शास्त्रो के महान विभूति और जनोपकारक होने के वचन की सिद्धि होती है। वेदो मे जिन आध्यात्मिक विद्याओ का वर्णन है, उनके सिद्ध होने पर मनुष्य को पारलौकिक सुखकी प्राप्ति होती है और जिन सासारिक कर्म-अनुष्ठान आदि का उपदेश है उनके यथा-विधि किये जाने पर इस लोक मे ही श्रेष्ठ फल की प्राप्ति हो जाती है। इससे यही मानना होगा कि वेदो मे जिन कर्मानुष्ठान आदि का वर्णन है, उनके फल की प्राप्ति इस लोक मे ही देखे जाने से वेदो का विभूति रूप होना सिद्ध है और उन कर्मों के फल की सिद्धि ही उनके प्रामाणिक होने को सिद्ध करती है। इसी से वेदो का महानतम होना भी सिद्ध होता है।

॥ दशमोऽध्याय —द्वितीयाह्निकम् समाप्त ॥

॥ वैशेषिक दर्शन सम्पूर्णम् ॥

१०८ उपनिषदें—हिंदी टीका सहित

वेद के दुरूह रहस्यों का सरल रीति से विस्तारपूर्वक विवेचन उपनिषदों में हुआ है। प्राचीन-काल में ऋषि मुनि मानव-जीवन की व्यक्तिगत व सामाजिक सभी प्रकार की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने के लिए लाखों वर्षों से जो चिन्तन और मनन करते रहे हैं उनका सार उपनिषदों में संचित है। आत्म-विद्या ब्रह्मविद्या के रहस्य का उपनिषदों में विवेचन हुआ है। यह जीवन का सर्वांगपूर्ण दर्शन ही है।

प्रमुख उपनिषदें १०८ हैं। इनमें से अब तक बहुत थोड़ी उपनिषदों का भाष्य उपलब्ध था। शेष कठिन संस्कृत में होने के कारण सर्वसाधारण के लिए दुरूह हो रही हुई थीं। प्रसन्नता की बात है कि गायत्री तपोभूमि मथुरा के संस्थापक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा १०८ उपनिषदों का मूल मन्त्रों के साथ सरल व सुबोध हिन्दी भाष्य किया गया है। यह अपने ढंग का सर्वप्रथम प्रकाशन है। इसके तीन भाग हैं (१) ज्ञान खण्ड (२) ब्रह्मविद्या खण्ड (३) साधना खण्ड। ज्ञान खण्ड में विचारात्मक व आचारात्मक उपनिषदें हैं। ब्रह्मविद्या खण्ड में आध्यात्मिक रहस्यों का विवेचन है। साधना खण्ड में साधनों का मार्ग दर्शन है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य ७) रु० । ३ खण्डों के सम्पूर्ण सेट का २१) रु० डाक खर्च इसके अतिरिक्त।

भारत के महामान्य राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् की सम्मति है— "यह एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है और मुझे विश्वास है कि इसे बहुत लोग पढ़ना पसन्द करेंगे।

दैनिक हिन्दुस्तान नई दिल्ली की सम्मति—"वस्तुतः उपनिषदों के इस संकलन में सरलता सरसता और सुबोधता की ज्ञान गंगा प्रवाहित की गई है। भारत के प्रसिद्ध प्रतिष्ठित पुस्तक विक्रेताओं और संस्थाओं द्वारा जो प्रकाशन हमारे देखने में आए हैं उन सबसे बढ़ कर उपनिषदों का रहस्य समझाने में आचार्य जी ही अधिक सफल हुए हैं।

प्रकाशक —

संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब बरेली (उ० प्र०)